श्रीमन्महागणाधिपतये नमः

स्मृतिफलितसमस्ताभीष्टमुद्यद्दिनेश

प्रतिभटनिजशोभाशान्तविघ्नान्धकारम् ।

कमपि शिवभवान्योरंकसौभाग्यमन्तः

सुरमणिमवलम्बे चारुलम्बोदराख्यम् ॥

श्री पार्थसारथये नमः

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला,

शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला।

अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी।

सोत्तीर्णा खलु पांडवै रणनदी कैवर्त्तकः केशवः ॥

॥ श्रीरघुवीराय नमः ॥

प्रस्तावना ।

—+०+—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

मुझे पहले कभी यह अवसर नहीं मिला था, कि मैं किसी पुस्तककी भूमिका स्वयं अपनी ओरसे लिखूं । आज मुझे यह सौभाग्य प्राप्त होता है और मैं अपने प्रारब्धको धन्य मानता हूं, कि पहिले पहिल मुझे यह मान और गौरव मिलरहा है, कि यदि मैं भूमिका लिखूं तो अपने परम-पूज्य गुरुदेव श्रीमत्परमहंस परिब्राजकाचार्य्य श्री १०८ स्वामी हंसस्वरूपजी महाराज रचित "हंसनादिनी नाम" गीता भाष्यके ऊपर लिखूँ ।

प्रथम तो ईश्वरकी दयासे श्री गुरुदेव ही मुझे ऐसे प्राप्त हुए हैं, कि जिनके समान मैं संसारमें कोई दूसरा नहीं पाता । मेरे थोडेसे जीवनमें मैंने भी सत्संग करनेका लक्ष्य अपने सामने रख बहुतेरी पुस्तकें पढीं, किन्तु मैं आज अन्तःकरणपर हाथ रखकर और अत्युक्ति न मानकर अभिमानके साथ इस बातको कहसकता हूं, कि जैसा गुरु मुझे ईश्वरकी दयाने दिया है, ऐसेही गुरु उन सबोंको भी, जो ईश्वरके

प्यारे हैं? प्राप्त हों। मेरे गुरु भी कैसे हैं? कि जो केवल मानसिक वा शारीरिक आपत्तिमें ही मेरी रक्षाकेलिये 'चाहे अलवरमें विराजमान हों वा अन्य किसी स्थानमें' सदा उद्यत ही नहीं रहते, वरु प्रतिक्षण आपकी कृपाका अनुभव मुझे समय २ पर होतारहा है और आपकी ही कृपादृष्टिसे मैं अपनी आयुकी सीढियोंको पूर्ण करताहुआ उस पदवीके प्राप्त होनेके समीप आरहा हूं जहां श्री गुरुदेवके चरणकमलोंके प्रकाश और ईश्वरानन्दके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं रहसकती। यह संसार तबही बिना सारके कहाजाता है जबकि मैं प्रत्यक्ष देखता हूं, कि ईश्वरके ऐसे अवतार इस संसारमें उपस्थित होकरे इतने वर्षोंसे विराजमान हैं तोभी कितने लोग ऐसे हैं, कि जिन्होंने ऐसे व्यक्तिको न पहचान कर कुछ भी आत्मिक-तत्व नहीं लाभ किया। यद्यपि आपके शिष्योंकी गणना सैकडों, हजारों और लाखोंपर कीजावे तो भी यही कहना पडेगा, कि यह संसार यहांतक असार है, कि अभी तक आपको बहुतेरोंने नहीं पहचाना। जिससे यह सिद्ध होता है, कि वस्तुतः हीरा भी अन्य पत्थरोंके साथ मिलकर तब तक छिपा पडा रहता है, जब तक मनुष्योंको ईश्वरकी दयासे ऐसा सौभाग्य प्राप्त न हो, कि वे उस हीरे तक पहुंच उसे पहचानकर उससे लाभ उठासकें।

मैं यदि अभिमान भी करूं तो अनुचित नहीं। क्योंकि ईश्वर ने मुझे ऐसा गुरु दिया है, कि मेरे परमपूज्य गुरु भारत-सन्तानके उद्धार-निमित्त इस कलियुगमें मनुष्यकी प्रकृतिको सात्विक तत्त्वोंमें लेकर ईश्वरको अथवा अपने ही भीतर सच्चिदानन्दको पहचाननेकेलिये जिन्होंने इस श्रीमद्भगवद्गीता पुस्तकका भाष्य करना अपने हाथमें लिया है। जिस गीताको श्री

भगवान वेदव्यासने वेद, वेदान्त, कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, और ज्ञानका- ण्डके तत्त्वोंसे सुशोभित करके संसारमें सदाकेलिये चिरस्थायी करदिया है। जिससे इस भवसागरमें डूबते हुए मनुष्य और भी पुस्तक न पढ सकें तो इस एकही पुस्तकको पढकर इस कलि कालसागरको तरजाय। यही परमपावनी श्रीमद्भगवद्गीता है जिसका, कि भाष्य श्री भगवान् शंकराचार्यने अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार और श्री रामानुजाचार्यने विशि- ष्टाद्वैतके मतानुसार किया है और आज तक सहस्रों मनुष्य, साधुजन, पण्डित इत्यादि बारम्बार इसपर भाष्य करगये हैं, परन्तु जो परम पूज्य श्री गुरुदेवने इस पुस्तकका भाष्य किया है, उसमें स्पष्टरूपसे विस्तारपूर्वक सरल भाषामें विविध प्रकारकी शंकाओंका पूर्वपक्ष करके समाधान कर- दिया है। जिसे यदि मनुष्य दत्तचित्त होकर पढे तो बहुतसी अन्य धर्म- पुस्तकोंका ज्ञान भी इस एक ही पुस्तक द्वारा पूर्णरूपसे प्राप्त करसकता है।

इस हंसनादिनी टीकामें ऐसे अमूल्य रत्न जडदियेगये हैं, कि जिनके अवलोकन करनेसे मनुष्य आत्मिक-तत्वको लाभकरसकता है। जिस तत्वकी खोजमें मनुष्य रहता है, उसे कभी विश्वासके द्वारा, कभी मन्दिर, मसजिद वा गिरजाके द्वारा, कभी अन्य रीतियों द्वारा अथवा कभी अपने भीतर ही आत्मज्ञान द्वारा प्राप्त करता है। परन्तु अपने कर्मानुसार जो अनेक जन्मोंके परिश्रम करनेपर जिस तत्वको प्राप्त करता, उसे इस एक ही जन्ममें अवश्य प्राप्त करलेगा।

इसके पश्चात् मैं मेरी जिह्वासे किस प्रकार ऐसी पुस्तकका गुण- गान करसकता हूँ, कि जिसकी महिमा केवल भारत-देश ही में नहीं

फैली है वरु पाश्चात्य-देशमें भी ऐसे फैलरही है, कि America और Europe में भी अनेक व्यक्ति प्रतिदिन इस गीताकापाठ करते हैं और इससे उनको जो सन्तोष और लाभ होता है उसे वे स्वयं वर्णन करसक्ते हैं ।

बहुत दिनोंसे सुनाजाता था, कि —

" गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयम् पद्मनाभस्य मुखपद्माद्वि- निःसृता ॥ "

परमोपदेशामृतमयी जो स्वयं श्री पद्मनाभभगवान् वासुदेव सच्चिदानन्द आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके मुखारविन्दसे प्रस्रावित हुई है सुगीता करलेने योग्य है । उसे आज सुगीता कर लेनेका सौभाग्य इसी हंसनादिनी टीका द्वारा प्राप्त होरहा है ।

फिर मुझे पुनः पुनः यही कहना पडता है, कि यह हंसनादिनी टीका एक ऐसी विशद और विशाल टीका है जैसी इस भारतवर्षमें अब तक नही लिखी गई थी जिसमें अगाध पांडित्य अर्थ गांभीर्य उक्ति और युक्ति-चमत्कार तथा शब्द-संगठन ठौर-ठौरपर देखते ही बनता है। भावके अनुकूलही भाषाका विकास पायाजाता है । यों तो समस्त हंसनादिनीटीकाके पढनेसे ही भिन्न—भिन्न भावोंकी उत्कृष्टता, मधुरता और सरलता अनुभव होगी पर दो चार श्लोकोंकी टीका पढनेसे ही नाना प्रकारके रसोंका यत्किंचित् रसास्वादन होजावेगा।

पदच्छेद, पदार्थ, भावार्थ और अर्थनिर्णायक टिप्पणियोंका तो कहना ही क्या है? श्रुतियां तो मानों इसमें कूट-कूटकर भरी पडी हैं ! इसलिये यह कहदेना भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी, कि इस टीकामें

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः" इस प्राचीन वाक्यको चरितार्थ करदिया है।

इस श्रीमद्भगवद्गीताके तीन षट्क हैं कर्मकाण्डाख्य, उपासनाख्य और ज्ञानाख्य। अर्थात पहले अध्यायसे छठवें अध्याय पर्य्यन्त सर्वप्रकारके कर्मोंका, ७ वें अध्यायसे १२वें पर्य्यन्त सर्व प्रकारकी उपासनाओंका और १३ वें अध्यायसे १८वें पर्य्यन्त ज्ञानके प्रत्येक अंगोंका वर्णन है। अर्थात कर्मयोग, सांख्ययोग, भक्तियोग, मंत्रयोग, लययोग और प्रेमयोग इत्यादि इनके रहस्योंका पूर्ण प्रकारसे वर्णन कियागया है। पढिये! और ब्रह्मानन्द लाभ कीजिये!!

जयसिंह
श्री सवाई महाराज देव
अलवर
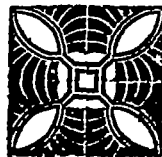
हंसनादिनी टीकाके चिन्होंका परिचय—

भावार्थ लिखतेहुए ऐसे [ ] चिन्हके भीतर गीताके मूल पद रक्खेगये हैं।

पदच्छेद करतेहुए [ ] इस चिन्हके भीतर टीकाकारने अपनी ओरसे उन पदोंको रक्खा है जिनसे पदच्छेदकी पूर्ति हो।

पदच्छेदमें ( ) इस चिन्हके अन्तर्गत पदोंके भाष्य रक्खे हैं।

श्री १०८ स्वामी हंसस्वरूपजी महाराज ।

भारत धर्म प्रभाकर जनरल हिज़ हाइनेस श्री सवाई
महाराज अलवरेन्द्र देव,

श्रीमद्भगवद्गीता

आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनको
गीता-उपदेश कर रहे हैं।

BURMAN PRESS, CALCUTTA
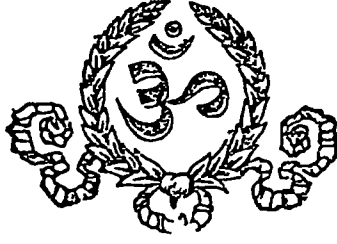
॥ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ॥

श्रीकृष्णाग्रजाय नमः

श्रीकृष्णाय गीताऽमृतदुहे नमः

अथ

श्रीमद्भगवद्गीता

कर्मकाण्डाख्ये प्रथमषट्के

प्रथमोऽध्यायः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयामदेवा भद्रंपश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!
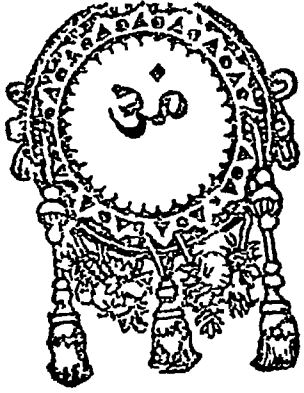
नमो विश्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे ।
विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमो नमः ॥

नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दरूपिणे ।
अद्वितीयाय महते गोविन्दाय नमो नमः ॥

नमः कमलनेत्राय नमः कमलमालिने ।
नमः कमलनाभाय कमलापतये नमः ॥

वर्हापीडाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे ।
रमामानसहंसाय गोविन्दाय नमो नमः

कंसवंशविनाशाय केशिचाणूरघातिने ।
वृषभध्वजवन्द्याय पार्थसारथये नमः ॥

—:—()—:—

अहा ! आज मेरी लेखनी उछलती कूदती हंसती खेलती परमानन्दसे मत्त तेतालेतालपर नृत्य करतीहुई मेरेहाथसे आगेकी ओर क्यों निकली चलीजारही है? न जाने किस ओर कौनसा अद्भुत रस? इसकी दृष्टिमें आसमाया है, जिसके पान करनेकी अभिलाषासे इस प्रकार दौड़चली है ।

सच है ! सच है!! वह देखो ! दायींओर देखो ! जिधर शंख, पणव, आनक, गोमुख इत्यादि बाजाओंसे गम्भीर कोलाहल मचरहा है और आकाशमें काली पीली आंधीसी छायीहुई देखपड़ती है । अनुमान होता है, कि यह चतुर सौभाग्यवती भी उसी ओर टकटकी लगाये चलीजारही है। क्योंकि निगमागमके महलोंमें सदासे नृत्यकरनेवाली

यह चातुरी भरी नटी, अपनी तीक्ष्ण दृष्टिद्वारा दूरहीसे श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दको अपने परमप्रिय सखा अर्जुनकी रथवानी करतेहुए तथा अपने मुखसरोजसे उसपर परम प्रेममय ब्रह्मानन्द मकरन्द टपकाते हुए देख-चुकी है; इसीकारण उस अपूर्व रसके पान करनेकी अभिलाषासे उसीओर मत्तहो झूमती चली जारही है, पर इधर उधर देखती हूई कुछ मन-हीमन विचार करने लगजाती है । प्रगट होकर तो कुछ नहीं कहती है, पर अनुमान होता है, कि यह कदाचित् अपने मनहीमन सशंक हो यों विचार कररही है, कि मैं जो किसी साधारण वृक्षकी सूखीहुई एक अपवित्र लक्कडी हूं, क्या इस परमपवित्र रसके ग्रहण करनेकी अधिकारिणी होसकती हूं ? कदापि नहीं! पर अपनी जडतावश मुझे एक सुलभ यत्न सूझपडता है, वह यहहै, कि यदि मैं कर्म्म, उपासना और ज्ञान-रूप यमुन, गंग और सरस्वती की एक ठौर मिलती हुई धारमें, जिसे त्रिवेणीके नामसे पुकारते हैं, स्नानकर अपनेको पवित्र करलूं, तो क्या आश्चर्य है ? कि जगदाधार जगत्गुरु श्री कृष्णचन्द्र मुखसरोज निश्रित उपदेशामृतरूप सुनहरी मसिजलको अपनी परमप्यारी सदाकी संगिनी रत्नजटित मसिवानी (दावात्) में भर दायें बायें निवास करनेवाले हरिजनोंके हृदयरूप निर्म्मल और सर्व प्रकार चिक्कण श्वेतपत्रपर टपकाती हुई आपभी तरूं और इनकोभी तारलूं । ऐसे विचार पूर्वोक्त त्रिवेणीमें अपना शरीर बोर, अपनेको पवित्र कर, वह देखो ! चारघोडों वाले रथके समीप पहुंच, भगवत मुखारविन्दकी ओर एकटक लगाये, एकाग्र चित्तसे दोनों कर जोडे अड़ी खडी है ।

क्यों नहो ! जिसने केवल श्यामसुन्दरके प्रेममें मतवाली हो, इसी

मधुर गीतारसके पान करनेकेलिये श्रद्धाकी तीक्ष्ण छुरीसे अपने कले-जेको दो फांकोंमें चिरवाती हुई तनकभी श्राह न की, वह एवम्प्रकार अपनी अभिलाषाकी पूर्त्ति करलेनेकी अधिकारिणी क्यों न होगी? अव-श्य होगी ! और उसमें ऐसी अद्भुत शक्ति क्यों न उत्पन्न होजावेगी ? कि जिस गीताशास्त्रके गूढ रहस्योंके समझनेमें बड़े बड़े विद्वानोंकी बुद्धि ढीली होजाती है, छक्के छूट जाते हैं, उन्हें वातों ही वातमें अपनी देशभाषा द्वारा अपने संगी साथियोंको कहानियोंके समान कह सुनावे । जिस परो-पकारके बदले अपनी जडताको त्याग उस सच्चिदानन्दमें जामिले ।

सच है ! विद्या विना प्रेम विधवा स्त्री है । इसलिये भगवतप्रेममें कलेजेको चिराडालो । फिरतो जैसे चाहो वैसे इस गीतारहस्यको निराडालो ।

—@—

श्रीमद्भगवद्गीताकी उत्पत्तिका मुख्य कारण ।

प्रिय पाठकोंको भली भांति विदित है, कि द्वापरयुगके आरंभमें, जब इस भारतवर्षकी अवस्था उन्नतिपर थी, वीरशिरोमणि श्री महाराज 'ययाति' इस देशपर शासन करते थे। तिस 'ययाति' के दो प्रसिद्ध पुत्र हुए, जिनमें एकका नाम 'यदु' और दूसरेका ' पुरु ' था,

महाराज अपने छोटे पुत्र 'पुरु' को बहुत प्यारकरतेथे, इसकारण अपनी राजगद्दी उनहीको सौंपदी। इनहीके वंशमें महाराज ' भरत ' हुए, जिनकी वीरता और बुद्धिबल द्वारा इसदेशकी उन्नतिअधिक वृद्धि पातीहुई अपने ऊंचे शृंग पर पहुंचगयी, इसकारण यह देश ' भारतवर्ष' के नामसे विख्यात हुआ।

इनही महाराज 'भरत'की सातवीं पीढ़ीमें महाराज 'कुरु' हुए। इसी कुरुवंशमें महा प्रतापी महाराज 'शान्तनु' का जन्म हुआ। इनकी प्रथम धर्म्मपत्नी 'गंगा'के आठ पुत्र हुए, पर उनमें केवल एक 'देवव्रत' जिन्हे 'भीष्म'के नामसे प्रसिद्ध करते हैं जीवित रहे और ये जीवन पर्य्यन्त ब्रह्मचारी रहे। उक्त महाराज 'शान्तनु'की दूसरी धर्म्मपत्नी 'सत्यवती' से 'चित्रांगद' और 'विचित्रवीर्य्य' दो पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें 'चित्रांगद'' तो विना सन्तान कालके गालमें चलेगये और 'विचित्रवीर्य्य' की भी यही गति हुई। पर इनकी जो दो स्त्रियां 'अम्बिका' और 'अम्बालिका' थीं इनदोनोमें 'व्यास' द्वारा 'अम्बिका'से 'धृतराष्ट्र' और 'अम्बालिका'से 'पाण्डु' का जन्महुआ। ' धृतराष्ट्र' जन्मान्ध होनेके कारण

राजसिंहासन पर न वैठाये गये; इसलिये 'पाण्डु'को राजगद्दीका अधिकार प्राप्त हुआ।

इसीमहाराज पाण्डुकी पहली धर्म्मपत्नी कुन्तीसे तीन पुत्र *युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन और दूसरी धर्म्मपत्नी 'माद्री'से दो पुत्र 'नकुल' और 'सहदेव' उत्पन्न हुए। इन पांचों भाईयोंमें परस्पर स्नेहका सूत्र अत्यन्त दृढ वनारहा। उधर धृतराष्ट्र की धर्म्मपत्नी गान्धारीसे दुर्योधन, दुःशासन, विकर्ण इत्यादि सौ पुत्र उत्पन्न हुए।

आगे चलकर पाण्डुके पुत्र पाण्डव और धृतराष्ट के पुत्र 'कौरव' नामसे प्रख्यात हुए। इनमें पांडवगणतो वडे दयालु, सज्जन, शीलवान, सहिष्णु, शुभगुणसम्पन्न, साधुस्वभाव तथा राजनीति विशारद थे, विशेषकर युधिष्ठिर तो वडे सीधे साधे धर्म्मरूपही थे, पर दुर्य्योधन घोरपापी, दुरात्मा, दुःशील, परम कुटिल और कपटी तथा लोभकी तो मूर्तिही था।

जिस समय महाप्रतापी महाराज पाण्डुने विधिवशात् अपने पांचों पुत्रोंके वचपनहीमें स्वर्गकी यात्राकरदी, उससमय भीष्म राजगद्दीको शून्य देख धृतराष्ट्रको ही राजसिंहासनपर बैठाल आप राजकाजको भी संभालते थे और पाण्डवोंकी भी रक्षा करते थे। जब युधिष्ठिर युवा

* धर्म्माद्युधिष्ठिरो जज्ञे मारुताच्च वृकोदरः। इन्द्राद्धनजय श्रीमान्सर्वशस्त्रभृतावरः। यज्ञाते रूपसम्पन्नावश्विभ्यांच यमावपि। नकुलः सहदेवश्च गुरुशुश्रूषणे रतौ (महाभा॰ आदिपर्व अ॰ ६३)

अर्थ—धर्मराजसे 'युधिष्ठिर'। मारुत (वायु) से वृकोदर (भीम)। इन्द्रसे सर्वशस्त्रोंके धारणकरनेमें श्रेष्ठ श्रीमान् अर्जुन। अश्विनीकुमारोंसे गुरुसेवामें रत नकुल और सहदेव उत्पन्नहुए।

हुए तब भीष्म, धृतराष्ट्र और विदुरने यह विचारा, कि युधिष्ठिरको राजगद्दी देनी चाहिये । क्योंकि प्रजागणकीभी पूर्ण अभिलाषा है, कि युधिष्ठिरही राजसिंहासन पर बैठाले जावें, पर यह बात दुष्ट दुर्योधन को अच्छी नलगी । इस मूर्खने यहांतक कुमंत्रणा विचारी, कि इन पांचोंको कुन्ती सहित एक लाक्षागृह (लाहके घर) में बन्दकर आगलगाकर जलानेका उपाय किया, पर भगवत कृपासे ये एकसुरंग होकर निकलगये । इनके बचजानेका पता लगजानेसे दुर्योधन फिर इनके नाश करडालनेका उपाय सोचनेलगा । अपने पिता धृतराष्ट्रको बहुत बहकाया, पर धृतराष्ट्रने उसे बुद्धिहीन जानकर उसकी बातें नमानी । फिर सबोंने एक सम्मति होकर यह बिचारा, कि सम्पूर्ण राज्य को दो भाग कर अर्ध भाग ' युधिष्ठिर ' को और अर्धभाग ' दुर्योधन'को देदियाजावे । धृतराष्ट्रने सबोंकी सम्मतिसे ऐसाही किया और पाण्डवोंको खाण्डवप्रस्थमें रहनेकी आज्ञा देदी । तबसे ये सुखपूर्वक खाण्डवप्रस्थमें अपनी राजधानीबना रहनेलगे, तहां श्रीकृष्ण भगवान्की आज्ञासे मयासुर ने युधिष्ठिरकेलिये एक अपूर्व सभा तैयार करदी । यह सभाभवन ५००० गज़ भूमिके भीतर बनायागया ।

कुछ दिन सुखपूर्वक राजसुख भोगनेके पश्चात् महर्षिनारदकी प्रेरणासे युधिष्ठिर ने राजसूययज्ञकी अभिलाषाकर ससागरा पृथ्वी के सर्व नरेशोंको अपने यज्ञमें निमंत्रण दिया, तहां सबके सब एकत्र हुए । इसी यज्ञमें हस्तिनापुरसे भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, विदुर, कृपाचार्य्य, जयद्रथ और दुर्योधन अपने सौ भाईयोंके सहित बुलाये

गये। यज्ञ समाप्त होनेके पश्चात् सब अपने अपने घर लौटगये, पर दुर्योधन अपने मामा 'शकुनी' केसाथ वहांही रहगया। एकदिन वह अकेला सभाभवन देखनेगया। मयासुरने इसमें ऐसी विचित्र रचनाकी थी, कि बडेबडे बुद्धिमान धोखा खाजाते थे। क्योंकि उस भवनका अस्तरण (फ़र्श) स्फटिकका बनाहुआ था। इस कारण उसके देखनेसे स्थलमें जलका और जलमें स्थलका भ्रमहोताथा; इसीकारण मूर्ख दुर्योधन स्थलको जल समझ कपड़े समेटकर चलने लगा और जहां जलथा उसको स्थल समझ धम्मसे उस जलमें गिरपड़ा।

इसकी यह दशा देख सब लोग ठहाका मारकर हंसपडे और द्रौपदी भीजो अपनी सखी सहेलियोंके सहित अटारीके झरोखेसे देख रहीथी खिल-खिलाकर हंस पडी। इनका हंसना दुर्योधनको बहुत बुरा लगा, पर उस समय वेचारा कुछ कर नहीं सकता था।

एवम्प्रकार लज्जितहो हस्तिनापुर लौटआया। पाण्डवोंके खाण्डवप्रस्थकी शोभा, राजसूययज्ञमें सब नरेशोंका युधिष्ठिरके अधीन होना तथा युधिष्ठिरका राजविभव विशेषकर सभाभवनकी विचित्रता देख वह मनही मन जलभुनकर भस्म होगया। विचारनेलगा, कि युधिष्ठिरकी सारी सम्पत्तिको किसी प्रकार लेलूं, यदि नहीं लेसका तो मेरे जीवनको धिक्कार है। इस अपने मनकी वात उसने अपने मामा शकुनीसे जो द्यूत (जूआ) खेलनेमें वडा चतुर और धूर्त्त था, वह सुनाया। शकुनी ने यह सम्मतिदी, कि युधिष्ठिरको द्यूतक्रीड़ा (जूआ) की वडी श्रद्धा रहती है; इसलिये उनको वुलाकर द्यूतक्रीडा

कीजावे और खेलमें उनका सर्वस्व जीत लिया जावे । ऐसा ही हुआ। पश्चात् शकुनीकी धूर्त्तता और चातुरी द्वारा खेलमें कपटका पाशा फेंक-नेसे युधिष्ठिर अपनी सारी सम्पत्ति और राजपाट द्रौपदी सहित हारगये। यद्यपि प्रथम क्रीडामें धृतराष्ट्र महाराजने द्रौपदीकी प्रार्थना करनेसे युधि-ष्ठिरका राजपाट द्रौपदी सहित लौटादिया और आज्ञा देदी, कि तुमलोग पूर्ववत् खाण्डवप्रस्थमें जाकर राज्य करो ! पर दुर्योधनने नमाना। फिर दोबारा उनको बोलाकर जूआ खेलाकर बारह वरसका वनवास और एक साल अज्ञात वासका दाव रखवाकर जीतलिया; अर्थात् यही दाव-लगाया गया था, कि जो हारे उसे मृगचर्म इत्यादि धारणकर तपस्वीके स्वरूपमें बारह वर्ष वनमें और तेरहवें वर्ष गुप्त निवासमें कहीं छिपकर रहना होगा ।

पाण्डव, जो अपना वचन प्रतिपालन करना धर्म्म समझते थे, वचन में बद्ध हो द्रौपदी सहित १३ वर्षकेलिये राजपाट त्याग वनको चले गये ।

१३ वर्ष बीतजाने पर जब ये राजा विराटके यहां प्रकट हुए, तब भीष्म, विदुर, धृतराष्ट्र इत्यादि की तथा अन्यान्य देशके नरेशोंकी यह सम्मति हुई, कि दुर्योधन को समझा बुझाकर इनका आधा राज्य पलटा दिया जावे, पर इस कुलनाशक अभागे ने किसीकी भी न मानी। भीष्मपितामहने तथा विदुरने धृतराष्ट्रको तो समझाबुझा लिया, पर दुर्योधन सदा यही रटता रहा, कि बिना युद्ध मैं एक कुशाके अग्रभाग मात्रभी पृथ्वी पाण्डवों को नहीं दूंगा । धृतराष्ट्रने भी बहुत समझाया, कि बेटा दुर्योधन! बात मानजा ! सन्धि करले ! युद्धकी बातें मतकर! पर उसने उत्तर दिया,

कि पिताजी ! चाहे पृथ्वी लौटपौट होजावे, पर मैं बिना युद्ध एक सुईकी नोक मात्रभी पृथ्वी उनको न दूंगा । दोनों ओर के हितैषी नरेशों ने बहुत चाहा, कि युद्ध नहो, पर होनेवालीको कौन मेट सकता है ? हमारे त्रैलोक्यके नैनोंके तारे परमप्यारे रतनारेनयनवारे कृष्णदुलारेने भी दुर्योधनको बहुत समझाया, कि युधिष्ठिर अन्ततोगत्वा यहभी कहतेहैं, कि यदि हमें राज्य न मिले तो न सही, पर हम पांचों भाइयोंको उदरपोषण और शरीर यात्रा पूर्ण करने के निमित्त पांच गांवही मिलजावें । सो हे राजन् ! तुम इन पांचों पाण्डवोंको केवल पांच गांव ही देदो ! पर इस दुष्टने इनकी बात भी न मानी ।

बार-बार समझौता होने पर भी दुर्योधनके मन्द प्रारब्धने परस्पर सन्धि न होनेदी । तब युद्ध छिडगया । इस युद्धमें श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुनका सारथी होना स्वीकार किया । कुरुक्षेत्र की भूमिमें घोर संग्राम का प्रबन्ध दोनों ओरसे होने लगा । सहस्रों वीरोंका जमघट होमेलगगया । बाण, बरछे, खड्ग, इत्यादि की चमचमाहट देख नेत्रोंमें चकाचौंध लग जाती थी ।

जन्मान्ध धृतराष्ट्रने चाहा, कि रणभूमिमें दैवयोगसे शुभ अशुभ जिस किसी प्रकारकी घटना उपस्थित होतीरहे उसे नित्य जान लिया करूं । पर अन्धे होनेके कारण यह रणभूमिमें नहीं जासकते थे । युद्ध देखने तथा युद्धकी मुख्य-मुख्य बातें जाननेके लिये यह बहुत अधीर हुए, तब व्यासदेवने कहा, कि हेपुत्र धृतराष्ट्र ! तुम किसी बातकी चिन्ता मतकरो ! मैं तुम्हारे सारथी 'सञ्जय' को दिव्य-दृष्टि देता हूं यह तुम्हारे पास बैठा- बैठा युद्धकी सारी बातें सुनाया करेगा तथा उसे ऐसी शक्तिभी

प्रदान करताहूं, कि रणभूमिमें सर्वत्र फिर आवेगा, पर उसे कोई न देखेगा। एवं प्रकार 'सञ्जय' दिनभर रणभूमिमें फिर सारा वृत्तान्त जान धृतराष्ट्र के समीप नित्य कह आया करताथा।

जब दोनों पक्षवालोंने अपनी-अपनी गंभीर सेनाओंको एकत्र कर कुरुक्षेत्रकी रण भूमिमें एक दूसरेके सम्मुख खडी करदी और युद्ध आरंभका दृढविचार होगया, तब पाण्डवोंकी सेनाके आगे -आगे अर्जुनका रथ देखपडता था, जिसपर श्री आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र सारथी बनेहुए अपूर्वशोभाके साथ बैठे थे। उधर कौरव सेनाके आगे आगे बालब्रह्मचारी आदर्श वीर दोनोंपक्षके पूज्य श्री भीष्मदेव विराजमान थे।

टिप्पणी-इनदिनो नवीन प्रकाशवाले नवशिक्षित जवान यों कहपडेंगे, कि संजयका बैठे २ महाभारत युद्धके वृतान्तोंका किसी दिव्यदृष्टि द्वारा जानलेना और उसे ठीक २ धृतराष्ट्रके प्रति कहसुनाना, व्यासदेवका गप्प माराहुआ है। ऐसा सम्भव नहीं है।

सच है। कूपमण्डूकवन्न्यायसे तो इनका कहना सत्यही है। कूपमंडूकवन्न्यायका एक दृष्टांत शास्त्रोंमें यों दियाहुआ है, कि "अकस्मात एक सागरका मेंडक कूपमें जापडा, तब कूपके मेंडकोंने उससे पूछा, कि भाई तुम्हारे सागर में कितना जल होता है? सागरीय मेंडकने कहा इस कूपसे वहुत अधिक होता है यह सुनकर कूपका मेंडक एकबार कूपके एक किनारेसे उछलकर दूसरे किनारे आया और बोला, कि इतना जल होगा। सागरके मेंडकने कहा, कि नहीं भाई इससे कडोडोंगुण अधिक होता है। कूपके मेंडकने झुंझलाकर कहा, वाह वे गप्पी। क्या इतने जलसे अधिक भी कहीं जल होता है। प्यारे पाठको! इसीको कूपमण्डूकवन्न्याय बुद्धि कहते है

ऐसी २ अनेकानेक वार्तायें इस गीतामें आवेंगी, उनको गप्प ना मसखरी नहीं समझना। अलमेधस महत्वको नहीं समझ सकते। इससमय नवीन नवशिक्षित युवकोंको महत्वकी ओर दृष्टि देनी चाहिये।

युद्ध आरम्भसे पहले धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा०—

धृतराष्ट्रउवाच।

मू०-धर्म्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः। +
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्व्वत सञ्जय! ॥ १॥

पदच्छेदः— ※धृतराष्ट्रः (विचित्रवीर्य्यक्षेत्रे व्यासज्जातः। दुर्योधन पिता।) उवाच (बाह्यचक्षुरभावाद्बाह्यमर्थं प्रत्यक्षयितुमनीशः दुर्योधनविजयबुभुत्सया आत्मनोहितोपदेष्टारं सञ्जयं निजसारथिम् पप्रच्छ) सञ्जय! (हे सञ्जय!) धर्मक्षेत्रे (समस्ताधर्म्माणांक्षयादपवर्गप्राप्त्या त्राणभूता या भूमिः तस्यां भूमौ। पूर्वमविद्यमानस्योत्पत्तेर्विद्यमानस्यच वृद्धेर्निमित्तं शस्यस्येव यत् क्षेत्रं तस्मिन्क्षेत्रे।) कुरुक्षेत्रे (कुरुराज्ञः क्षेत्रे) समवेताः (सम्मिलिताः) युयुत्सवः (योद्धुमिच्छन्तः। योद्धुमिच्छवो वा) मामकाः (मदीया दुर्योधन प्रभृतयः) च (तथा) पाण्डवाः (पाण्डुपुत्रा युधिष्ठिरादयः) एव (निश्चयेन) किम् (स्व स्व विजय निमित्तानि कानि कानि च साधनानि) अकुर्वत (कृतवन्तः)। १।

पदार्थः—(धृतराष्ट्रः) दुर्योधनके पिता धृतराष्ट्रने(उवाच)अपने सारथी संजयसे पूछा कि,(संजय!) हे सञ्जय! (धर्म्मक्षेत्रे) धर्म्मक्षेत्रमें अर्थात् कुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें (समवेताः) इकट्ठे हुए (युयुत्सवः) परस्पर युद्धकी इच्छा करनेवाले (मामकाः)मेरे दुर्योधनादि पुत्रोंने (च)और (पाण्डवाः) युधिष्ठिरादि पांचोंपाण्डवोंने (एव) निश्चय करके(किम्)क्या (अकुर्वत) किया ? सो ठीक ठीक यथातथ्य वर्णन करो!। १।

※ धृत राष्ट्र येन।
+ " सं " कोपं जयतीति संजयः। (सः—कोपे, धारणे, ख्यात इत्येकाक्षरः।)

भावार्थः— यह एक साधारण सांसारिक व्यवहार है, कि जब किसी पुरुषको किसीके द्वारा स्वार्थ साधन करना रहता है, तो अपने अर्थ प्रगट करनेके पूर्वही कुछ उसकी प्रशंसा करलेता है। इसलिये राजा धृतराष्ट्र नेभी अन्धेहोनेके कारण सञ्जयके द्वारा महाभारतका वृत्तान्त जाननेकी अभिलाषासे संजयकी प्रशंसा करतेहुए यों कहा, कि हे सञ्जय! तुम्हारा नाम संजय इसी कारण है, कि तुमने सम्यक्प्रकारसे राग द्वेषको जय करलिया है। इसलिये तुम्हारे निष्पक्ष होनेमें मुझे तनिकभी सन्देह नहीं है। मुझको पूर्णविश्वास है, कि तुम जोकुछ कहोगे सच-सच कहोगे; क्योंकि दोनों पक्षोंमें किसीकी निन्दा स्तुती करनेकी कुछभी आवश्यकता तुम्हें नहीं है तथा तुमको यहभी अवश्य ज्ञातहोगा, कि 'कुरुक्षेत्र' धर्म्मक्षेत्र के नामसे प्रसिद्ध है। क्योंकि इसक्षेत्रमें कोईअधर्म्मकी वार्त्ता कभीनहीं सुनीगयी है। इस क्षेत्रमें तो सदा धर्महीं उत्पन्न होतारहा है। यदि किसी समय कोई युद्ध भी हुआ है तो वहभी धर्म्मयुद्ध ही हुआ है। अधर्म्मका लेशमात्रभी उसमें नहीं रहा है। श्रुतियां भी इसे धर्मक्षेत्र पुकारती आई हैं। श्रु० "अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां-ब्रह्मसदनमत्रहि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्मव्याचष्टे येनासावमृती भूत्वा मोक्षी भवति" (जाबालोपनिषत् प्रथम खण्डमें देखो)।

अर्थ—यह कुरुक्षेत्र देवताओंके भी देवपूजनका स्थान है। तात्पर्य यह है, कि यह साक्षात् ब्रह्मके ध्यान करनेका स्थान है, जहां इन्द्रादि देवगणभी कभी कभी आकर अपने उपास्यका ध्यान करते हैं तथा अन्य जीवोंकेलिये ब्रह्मप्राप्तिका स्थानभी यही है। यहां जीवोंके प्राण छूटनेसे

रुद्रदेव उनको तारकमंत्रका उपदेश करते हैं, जिससे यह जीव अमरत्व प्राप्त कर मुक्त होजाता है। इसलिये इसे दूसरी 'काशी' समझनी चाहिये!

हे संजय! तुमतो विद्वान् हो। इसलिये पूर्णप्रकार जानते ही हो, कि यह क्षेत्र मेरे परम पूज्य पूर्वज कुरु महाराजके हार्थोंसे जुताहुआ है। वे केवल इसीकारण अपने हार्थोंसे परिश्रम कर जोताकरते थे, कि इस कृषिकी जोत रूप तपस्यासे इसमें धर्म्मका बीज उपजा करे और संसार का कल्यान हुआ करे। एकवार इस पृथ्वीके जोतते समय इन्द्रने महाराज कुरुसे आकर यों पूछा, कि हे राजन्! तुम इतना परिश्रम कर प्रतिदिन प्रहरभर क्यों इस क्षेत्रको जोताकरते हो? इसपर महाराज कुरुने यों उत्तर दियाकि "इहये पुरुषाः क्षेत्रे मरिष्यन्ति शतक्रतो! ते गमिष्यन्ति सुकृतान् लोकान् पापविवर्जितान्" ॥

अर्थ—हे इन्द्र! जितने प्राणी यहां इस क्षेत्रमें प्राण-त्याग करेंगे वे पापों से छूटकर पुण्य भरे हुये स्वर्गादि लोकोंमें गमन करेंगे। वैशम्पायनका वचन है कि "इह तपस्यन्ति ये केचित् तपः परमकं नराः। देह त्यागेन ते सर्वे यास्यन्ति ब्रह्मणः क्षयम्। पांशवोऽपि कुरुक्षेत्रा द्वायुना समुदीरिताः। अपिदुष्कृतकर्म्माणां नयन्ति परमांगतिम्।

अर्थ—जितने प्राणी यहां परमतप का साधन करेंगे वे अक्षय ब्रह्मपद को प्राप्त होंगे। इस क्षेत्रकी धूलीके कण वायुसे उड़कर यदि दुष्कर्म करने वालोंके शरीरोंपर भी जापड़ेंगे तो उनको परमगति तक पहुंचा देवेंगे।

धृतराष्ट्र कहते हैं, कि हे संजय! जब इस क्षेत्रका इतनाप्रभाव है

तबही तो सर्व शास्त्र-पुराण इसको धर्म्मक्षेत्र कहकर पुकारते हैं। विशेषकर यहांका प्रभाव यह भी है, कि इस क्षेत्रमें पहुंचनेही से जिसके शरीरमें धर्म्मका बीज न उगाहो तो ऊगजावे और जिसके शरीरमें पहलेसे कुछ धर्म्मके अंग ऊगेहुएहों तो उनकी वृद्धि अवश्य हो जावे। सो हे संजय! मेरे कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि दुर्योधन इत्यादि मेरे पुत्र बड़े अधर्म्मी हैं। विशेषकर मैं भली भांति जान चुका हूं, कि दुर्योधन के समान अधर्म्मी अन्य कोई नहीं है, जिसने मेरी बातभी न मानी। पर संभव है, कि इस क्षेत्रमें पहुंचनेसे उसकी बुद्धि पलटकर सात्त्विक् होजावे और धर्म्म का अंकुर उसके हृदयमें उपज आवे, तो पाण्डवों को उनका राज्य लौटाकर संधि करलेवे। युधिष्ठिर तो साक्षात् धर्म्म की मूर्त्तिही हैं। वह तो पांच गांवभी लेकर संधि करलेंगे। इसलिये मैं तुमसे पूछता हूं कि (धर्म्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेतायुयुत्सवः) ऐसा पवित्र धर्म्म के उपजने के स्थान कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे अपने अपने सहायक नरेशोंके साथ एकत्र हुए (मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय!) मेरे जो दुर्योधनादि सौपुत्र हैं तथा पाण्डुके जो युधिष्ठरादि पांचोंपुत्र हैं, इन लोगोंने अबतक अपने अपने कल्याणकेलिये क्या किया? सो हे सञ्जय! मुझसे विस्तारपूर्वक सब बातें बिलग-बिलग समझाकर कहो। अर्थात् इन लोगों ने परस्पर सन्धि करली वा युद्ध-करने लग गये। मुझको बहुत भय हो रहा है, कि यह कुरुक्षेत्र धर्म्मक्षेत्र है। इसमें जय उसी का होगा जो युद्धशास्त्रके अनुसार धर्म्मयुद्ध करेगा। मेरेपुत्र तो बडे अन्यायी हैं। ये धर्म्मयुद्ध न करके कर्ण, शकुनी इत्यादि की मंत्रणा से अधर्म्म युद्ध करेंगे। यदि ऐसा किया तो ये पराजय होजावेंगे। युधिष्ठिरका ही

विजय होगा। यदि ऐसा हुआ तो मुझ अन्धेकी बडी दुर्गति होगी। न मैं घर का रहूंगा न घाटका। सब मुझही को कोसेंगे और यों कहेंगे, कि इसी अंधेने सारा कुल नष्ट भ्रष्ट कर डाला। भीतर--भीतर अपने पुत्रों से मिला हुआ था। इसलिये इसने युद्ध न रोका। दूसरी बात यहभी मेरे हृदयको कम्पायमान कररही है, कि ऐसा नहो, कि मेरापुत्र दुर्योधन पाण्डवों की गंभीर सेना देख भयभीत होकर अपना सारा राज्य उनको सौंप देवे। यदि ऐसा हुआ तौभी मुझे द्वार-द्वार भिक्षा मांगनी पडेगी। तुम दिव्य दृष्टिसे ऐसा जानतेहो तो बतलाओ! मेरेही पुत्रोंकी विजय होगी अथवा पाण्डवगणकी। हे संजय! मुझको शीघ्र सुनादो! मैं संग्रामका समाचार सुनने को अत्यन्त लालायित हूं। जो कुछ कहना हो शीघ्रकहो! विलम्ब मतकरो! ॥ १ ॥

टिप्प०= शंका—कौरव और पांडव दोनोही धृतराष्ट्रके वेटे भतीजे है फिरकेवल 'मामकाः' इतनाही कहनेसे दोनों दलके लोग समझे जासकते थे। अन्धराजने तहां मामकाः कहकर फिर पाण्डवाः क्यों कहा?

समाधान—अन्धे होनेके कारण धृतराष्ट्रमें कुछ ममत्वकी भी विशेषता थी इसीकारण द्रोहकी दृष्टिसे दोनोंको विलग विलग करदेखलाया।

यदि यह कहो, कि यह श्लोक व्यासदेवका वनाया हुआ है, कदाचित् धृतराष्ट्रने संजयसे इन दोनों शब्दोको विलग२कर न कहाहो। तो जाने रहो, कि जिसको संजय इत्यादि अन्य पुरषोमें दिव्य दृष्टी प्रदान करने कि शक्ती थी उसमें क्यः स्वयम् दिव्यदृष्टी न होगी। अवश्य होगी। इसलिये सम्पूर्ण गीतामें जिन-जिन मुख्य शब्दोंको श्री कृष्णचन्द्र अर्जुन, धृतराष्ट्र, संजयादिने उच्चारणकिया है वे ज्योंकेत्यों व्यासदेव द्वारा श्लोकोमें रखदिये गये हैं। चाहे श्लोकोंकी रचना उक्त महात्माने किसी भी छन्दमें क्यों न किया हो।

इतना सुन संजयने कहना आरंभ किया—

सञ्जय उवाच—

मू०—दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्य्योधनस्तदा ।
आचार्य्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत ॥ २ ॥

पदच्छेदः—सञ्जयः (धृतराष्ट्रस्यसारथिः) उवाच (उक्तवान्) तदा (संग्रामोद्योगावस्थायाम् । संग्रामोद्यमकाले वा ।) राजा (नृपतिः) दुर्योधनः (धृतराष्ट्रस्य ज्येष्ठपुत्रः) व्यूढम् (व्यूहरचनयास्थितम् ।) पांडवानीकम् (पाण्डुपुत्राणां युधिष्ठिरादीनां सैन्यम्) दृष्ट्वा (अवलोक्य) तु आचार्य्यम् (धनुर्विद्यासंप्रदायप्रवर्त्तयितारं आत्मनः शिक्षितारं रक्षितारं द्रोणनामानमाचार्य्यम् ।) उपसंगम्य (समीपे स्वयमेव प्रणिपातादि पुरःसरं गत्वा) वचनम् (भयोद्विग्नहृदयत्वेऽपि संक्षिप्तबह्वर्थत्वादि गुणवत्वं राजनीतिगर्भम् वाक्यम्) अब्रवीत (उक्तवान्) ॥ २ ॥

पदार्थः—(संजयः) धृतराष्ट्रके सारथि संजयने (उवाच) कहा-हे महाराज धृतराष्ट्र ! (तदा) युद्धके आरम्भ होते समयमें (राजादुर्य्योधनः) आपके पुत्र राजा दुर्योधनने (व्यूढम्) परम गम्भीर व्यूहोंकी रचना से दृढ (पाण्डवानीकम्) पाण्डवोंकी सेनाको (दृष्ट्वा) देखकर (तु) पहले तो (आचार्य्यम्) अपनी धनुर्विद्यांके गुरु द्रोणाचार्य्यके (उपसंगम्य) समीप जाकर (वचनम्) भय तथा राजनीति मिश्रित वचनोंको (अब्रवीत) यों बोला; अर्थात् डरता डरता राजनीतिभरे वचनों से प्रार्थनाकरने लगा ॥ २ ॥

भावार्थः— (सञ्जय उवाच) जब परम चतुर संजय ने जानलिया, कि अन्धराज धृतराष्ट्र अब युद्धकी वार्ता जाननेको व्याकुल होरहेहैं और इनके अन्तःकरणमें नानाप्रकारकी स्वार्थ भरी बातें समायी हुई हैं। अन्धे होने के कारण युद्ध से भयभीन होरहेहैं। अपने पुत्र दुर्योधन पर अधिक ममता रखनेके कारण उसका किसी प्रकार अनिष्ट नहीं चाहते। कुछ-कुछ लोभ भी इनको भीतर-भीतर सतारहा है। पुत्रके पराजय होजानेका भय भी होरहा है, तब इन बातोंको विचार युद्धकी सच्ची-सच्ची बातोंको योंकहना आरंभकिया, कि हे राजन्! (दृष्ट्वा-तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्य्योधनस्तदा) आपकापुत्र जो दुर्योधन है वह जब एकबार दृष्टि उठाकर कुरुक्षेत्रकी रणभूमिकी ओर देखता भया तो देख कर भय से कांपने लगा। अपनी ओरके कटककी सुधि तो उसे भूल गयी, यहस्मरण न रहा, कि मेरी सेना की संख्या ग्यारह अक्षौहिणी* है और पाण्डवोंकी केवल सातही अक्षौहिणी है। वहतो कटकका ही स्वरूप देख भयभीत होगया। तिसपर जब उसकी दृष्टि पाण्डवोंकी रचीहुई भिन्न-भिन्न व्यूहों+ की ओर जापडी तो और भी अधिक व्याकुलहो

* अक्षौहिणी—अक्षौहिन्यामित्यधिकैः सप्तत्यन्ताष्टभिः शतैः।
संयुक्तानि सहस्राणि गजानामेकविंशतिः।
एवमेव रथानान्तु संख्यानं कीर्तितं बुधै.।
पचषष्टिं सहस्राणि षट्शतानि दशैवतु।
सख्यातास्तुरगास्तज्ज्ञैर्विना रथ्यैस्तुरगमैः।
नृणांशतसहस्रन्तु सहस्राणिनवैवतु।
शतानि त्रीणिचान्यानि पचाशच्च पदातय। अर्थ—२१८७० हाथी, २१८७० रथ,६५६१०घोडे और१०९३५०पैदल,एक अक्षौहणीमें होतेहैं।

+व्यूह=सेनाकी गम्भीर रचनाको व्यूह कहते है। इस व्यूहके चारभाग होतेहै। हस्ती, अश्व, रथ और पैदल और इनके तीन अग होने है। १ सेनामुख २ सेना भुजा। ३ सेना पृष्ठ।

मारे भयके घबराया हुआ दौड़ा-दौड़ा (आचार्य्यमुपसंगम्य राजा वचन-मब्रवीत) अपने धनुर्विद्याके शिक्षक तथा अपने परम रक्षक द्रोणाचार्य्य के समीप पहुंच, साष्टांग प्रणाम कर, दोनो करजोड़, बड़ी नम्रता से भय और राजनीति मिश्रित बचनों के साथ यों कहना आरंभ किया।

इस प्रकार कहनेसे संजयने धृतराष्ट्रको यह सूचना दी, कि इन लोगों में सन्धि होनेकी कुछभी बात न चली, वरु इसके प्रतिकूल युधिष्ठिरने निर्भय होकर अपनी सेनाके भिन्न-भिन्न ब्यूहोंकी ऐसीदृढ रचना करडाली है, जिसे देख दुर्य्योधन कम्पायमान होगया है। हे राजन्! तुम जो यों विचारते रहे, कि दुर्य्योधन धर्म्मक्षेत्रमें पहुंचतेहीं सन्धि करलेगा सो ऐसा न हुआ। यहां सजयने जो राजा पदका प्रयोग किया है इसका अभिप्राय यह है, कि दुर्योधन यद्यपि क्रूर स्वभावका है, पर राजनीति जाननेमें कुशल है। इस लिये राजनीतिके नियमानुसार आचार्य्यको अपने

टि० शका— इस श्लोंकमें केवल " राजा अब्रवीत " कहनेही से यह अर्थ स्पष्टरूपसे निकल रहाहै, कि दुर्योधनने द्रोणाचार्य्यके समीप जाकर अपने मनका अभिप्राय प्रगठ किया। फिर सॅजयने इस श्लोकमें ', अब्रवीत " के साथ " वचन " शब्द का अधिक प्रयोग क्यों किया?

समाधान= " बचन " शब्दका प्रयोग करनेसे संजयका गूढ आशय यहहैं, कि राजा दुर्योधन यद्यपि अन्यायी और अधर्मी है तथापि बचनो के बोलनेमें परम चतुर है। इसलिये वह द्रोणाचार्य्यके समीप बडी चतुराई और धूर्त्तताके साथ बातोंको इस प्रकार गढकर बोलेगा, कि जिससे " द्रोणाचार्य्य " को पाण्डवोंकी ओरसे अवश्य घृणा होजावे। और हुआभी ऐसाही।

समीप न बुलाकर आप उनकी सेवामें उपस्थित होगया है, मानों युद्धके समय अपनी युद्धविद्याके आचार्य्यको अधिक महत्व दर्सानेके लिये तथा उनके चित्तको अपनी ओर आकर्षित करलेनेके लिये इसप्रकार नम्रभावसे उनके समीप पहुंचा है। क्योंकि उसके चित्तमें ऐसी भावना हो आईहै, कि 'आचार्य्य द्रोण यद्यपि मेरे पक्षमें हैं, पर वे तो पाण्डवोंके भी आचार्य्य हैं। पाण्डवों कोभी वह अपना परम प्रिय शिष्य समझते हैं। विशेषकर अर्जुन पर तो उनकी असीम कृपा है। क्योंकि जिस समय वे सब पाण्डव और कौरव राजकुमारोंको अस्त्र शस्त्र विद्यामें निपुण करचुके थे उस समय सबोंकी रणकौशलकी परीक्षा के निमित्त एक रंगभूमि बनवाकर हम शिष्योंकी भरी सभामें खडे होकर सबके सामने पुकारकर यों कहा था, कि मेरा शिष्य अर्जुन युद्ध-विद्या में निपुण है, धनुर्विद्यामें तो यह मेरे पुत्र अश्वत्थामासे भी अधिक है। इसके जोडका वीर इस समय पृथ्वी मण्डल पर कोई नहीं है। उत्साह और युद्धकौशल दिखाकर यह मेरी शिष्यमण्डलीमें शीर्षस्थानीय बनगया है"।

सञ्जय कहता है, कि हे राजा धृतराष्ट्र! इस दुर्योधनके चित्तमें यह बात घुसगयी है, कि द्रोणाचार्य्य अर्जुन पर कृपादृष्टि कर मेरा पक्ष छोड जो कदाचित् उसके पक्षमें होजावेंगे तो मेरा सारा बनाबनाया घर बिगड जावेगा। इसलिये आचार्यको ऐसी बातें कहरहा है, कि पाण्डवोंकी ओरसे उनका चित्त बिगडजावे।

दुर्योधन कहता है

मू०--पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

पदच्छेदः-आचार्य! (हेगुरो!) तव (ते) धीमता (धीर्विद्यतेयस्य सः धीमान् तेन बुद्धिमता) शिष्येण (छात्रेण) द्रुपदपुत्रेण (राज्ञोद्रुपद स्यपुत्रो धृष्टद्युम्नस्तेन) व्यूढाम् (व्यूह रचनया स्थापिताम्) पाण्डु-पुत्राणाम् (पाण्डुपुत्रैर्युधिष्ठिरादिभिरानीताम्)एताम् । महतीम् (अने-काक्षौहिणीयुक्तामक्षोभ्याम् दुर्निवारां विस्तृतांच) चमूम् (सेनाम्) पश्य (अवलोकय) ॥३॥

पदार्थः--द्रोणाचार्य्यके हृदयमें क्रोधउपजानेके तात्पर्य्यसे दुर्यो-धन कहता है, कि (आचार्य्य!) हे मेरे परम पूज्य द्रोणाचार्य्य ! (तव) तुम्हारे(धीमता)बडे बुद्धिमान (शिष्येण)शिष्यसे अर्थात् (द्रुपदपुत्रेण) राजा द्रुपदका जो पुत्र धृष्टद्युन तिसकेद्वारा (व्यूढाम्)बडी कठिन व्यूहों की रचनासे दृढ कीहुई (पाण्डुपुत्राणाम्) पांडुके पुत्रोंकी (एताम्) इस सामने वाली (महतीम्) बहुत बडी (चमूम्) सेनाकीओर (पश्य) अवलोकन तो करो! कि इस सेनाकी कैसी गंभीर रचनाकीगयी है ॥ ३॥

भावार्थः--पूर्वश्लोकमें जो कहआये हैं, कि दुर्योधन बडी चतुराई भरे बचनोंसे आचार्य्यके समीप बोला। उन बचनोंको इस श्लोकसे आरंभकर ग्यारहवें श्लोक पर्य्यन्त बिशेष रूपसे दिखलातेहुए संजय कहता है, कि हे

राजाधृतराष्ट्र ! सुनो । दुर्योधनने आचार्य्यसे जाकर योंकहा, कि(पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य्य । महतीं चमूम् व्यूढाम्) हे मेरे परमरक्षक ! इसघोर युद्धके समय मेरीसहायता करनेवाले दयासागर श्री द्रोणाचार्य जी ! कृपा कर ध्यान दे मेरी बात सुनो ! पहले तो पांडुके पुत्र युधिष्ठिरादि पांचों भाइयोंकी इस सामनेवाली बडी सेनाको देखो ! जिसमें सात अक्षौहिणी सेना एकत्र हो इनकी रक्षाके लिये प्राणदेनेको तत्परहै।

यहां " पश्य " कहनेसे दुर्योधनका यह अभिप्राय है, कि द्रोणाचार्य धनुर्विद्याके बहुत बडे आचार्य हैं। जितने वीर इनदोनों दलों में एकत्रित हुए हैं इनमें अधिकांश बीर इनहीके शिष्य हैं" । इसलिये "पश्य" कहनेसे आचार्यके हृदयमें उन वीरों के पहचानलेनेकी स्वभाविक अभिलाषा उत्पन्न होगी और जब पहचानलेंगे, कि कौन-कौन वीर इनके शिष्य हैं? जो इनसे युद्ध करने आये हैं, तो अवश्य इनके हृदयमें क्रोध उत्पन्न होगा।इसलिये आचार्यसे यों कहता है, —कि"पांडवोंकी सेना, जो तुमसे युद्ध करनेकेलिये आकाशमार्गमें आंधीसी हहातीहुई चलीआरही है, मानो प्रलयके मेघ आकाशपर उठेचले आरहे हैं, जिनके देखनेसे ऐसा भान होता है, कि थोडी देरमें प्रलय होनेवाला है, मानो महाभयंकर कालोंका भी काल मुह पसारे सारे ब्रह्मांड को निगल जानेके लिये चलाआरहा है। हे आचार्य्य ! ये सब रचनाये तुमको पराजय करनेके तात्पर्य्यसे तुम्हारेही शिष्यगणोंसे दृढ करली गयी है"। यदि कहो, कि वे कौन-कौन हैं जो ऐसे कररहे हैं? किनने ऐसी रचना की है तो सुनो ! (द्रुपदपुत्रेण तवशिष्येण धीमता)

राजा द्रुपदकापुत्र जो तुम्हाराही शिष्य है उसी बुद्धिमान द्वारा यह गम्भीर व्यूह रचागया है।

वीर सम्राटोंके कल्याण निमित्त यहां संक्षिप्त रूपसे यह दिखलादिया जाता है, कि युद्ध आरंभके समय राजा किन व्यूहोंको बनाकर युद्धकेलिये शत्रुदलकी ओर चले। दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु-शकटेनवा। वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा। यतश्च भयमाशंकेत्ततो विस्तारयेद्दलम् ।पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥ मनु० अ०७ श्लो० १८७- १८८

अर्थ—दण्डव्यूहसे वा शकटव्यूहसे वा मकरव्यूहसे वा सूचीव्यूहसे अथवा गरुडव्यूहसे शत्रु दलकी ओर यात्रा करे। जिधरसे शंका हो उसीओर अपनी सेना का विस्तार करे। पर सदा पद्मव्यूह से शत्रु क दल में प्रवेश करे। अब प्रत्येक व्यूहका सूक्ष्म वर्णन कियाजाता है। जब राजाको चारों ओरसे शत्रुदलका भय हो तो दण्ड व्यूहसे

टिप्प०युद्धार्थं सैन्यस्य देशविशेषे विभज्य दुर्लंघ्यत्व निमितंस्थापनम् "व्यूह"। अर्थात् युद्धके लिये सेनाका विभाग करके ऐसे विशेष स्थान पर स्थापित करदेना जहां शत्रुदल लांघकर न जासके। तिस व्यूहके दण्डादि अनेक भेद है– जैसे क्रौंचव्यूह। चक्रव्यूह। अन्तर्भिद्व्यूह। मण्डलव्यूह। सर्वतोभद्रव्यूह। शकटव्यूह। मकरव्यूह। अर्द्धचन्द्रव्यूह। उद्धारव्यूह। वज्रव्यूह। कुक्कुटशृंगीव्यूह। काकपादीव्यूह। गोधिकाव्यूह। बराहव्यूह। सूची व्यूह। गरुडव्यूह। पद्मव्यूह। इत्यादि सब व्यूहोंके नाम दियेगयेहै। कामन्दकीय नीति ग्रन्थमें देखो। ये सब व्यूह मुख्य चारही व्यूहके अन्तर्गत है। दण्ड। भोग। मण्डल। असंहत।

गमन करे । तहां दण्डादिके आकारसे जो सेनाकी रचना है उसे दण्डव्यूह कहते हैं, । जिसमें सबसे आगे सेनाका अध्यक्ष, बीचमें राजा, सबसे पीछे सेनापति, दोनों पार्श्वों में हाथी, हाथियोंके समीप घोडे, तिनके समिप पैदल हों और चारों ओरसे समान हो। यह व्यूह दण्ड के समान लम्बाहो अर्थात् चतुर्भुज (चौकोर) न हो। यदि राजाको पीछेका भय होवे तो शकटव्यूहसे यात्रा करे। जिस सेना की रचना अग्रभागमें अर्थात् आगेकी ओर तो सूईके समान पतली हो, पर पीछे की ओर मोटी होती चली जावे, उसे शकटव्यूह कहते हैं।

यदि राजाको पार्श्वोंमें अर्थात् दांयी बांयी दोनो ओरसे भय हो तो बराहव्यूह और गरुडव्यूह से मार्ग में गमन करे। अग्रभाग में सूक्ष्म हो पर मध्यभाग और पिछले भागमें मोटा हो, उसे वराह-व्यूह कहतेहैं और जिसका अगला भाग पतला हो मध्यभाग अत्य-न्त मोटा और पिछला भाग थोडा मोटा हो उसे गरुडव्यूह कहतेहैं। यदि आगे और पीछे दोनों ओरसे राजा को भय प्रतित होवे तो मकर-व्यूह रचकर चले। जिसका अगला भाग और मध्य भाग तो मोटा हो, पर पिछला भाग पतला हो उसे मकरव्यूह कहते हैं।

यदि राजा को अग्र भागमेंही भय होतो सूचीव्यूह की रचनाकर गमनकरे । अर्थात जैसे चींटी एक पंक्ति बनाकर एक दूसरेके पीछे चलती है ऐसे बडे बडे शूरवीर आगे तिनसे न्यून पीछे, एवम्प्रकार स ब एक दूसरे के पीछे चलें। ऐसा न हो कि कोई दायें और कोई बायें वि-

खड़ जावे। जिस दिशामें शत्रुका भय हो उसी दिशामें सेनाको बढावे और राजा सदा पद्मव्यूह से स्वयम् शत्रुके देशमें प्रवेश करे। अर्थात् बीचमें राजा हो और चारोंओरसे सेनाका विस्तार एक समान हो, उसे पद्मव्यूह कहते हैं।

यहां दुर्योधनने अपनी राजनीतिकी चतुराई दिखलाते हुए कैसी गूढ वार्त्ता कही? सो विचारने योग्य है। रणमें तो द्रोणके अनेक शिष्य उपस्थित हैं। अनेकोंकी सम्मतिसे रचना कीगयी है। फिर सबसे पहले द्रुपदपुत्रका ही नाम क्यों लिया? इसके भीतर यह मर्म गठा हुआ है, कि द्रुपदसे द्रोणको शत्रुता विशेष है। द्रुपदका नाम सुनते ही द्रोणाचार्य्य आगबबूला होजाते हैं। क्यों आगबबूला होजाते हैं? सो विशेष वार्त्ता पाठकोंके बोधार्थ यहां वर्णन करदी जाती है।

यह द्रोणाचार्य्य पहले एक *दरिद्र ब्राह्मण थे। जैसे यह धनुर्विद्यामें प्रवीण थे और इसविद्याने जैसी आपके ऊपर कृपा कीथी ऐसीही दरिद्रताभी आपके ऊपर कृपा कियेथी। जैसेही विद्वान थे वैसे ही दरिद्र भी थे। एकवार किसी कार्य्यवश यह अपने पुत्र और स्त्री सहित किसी ग्राम में जापडे। वहां एकदिन इनके पुत्र अश्वत्थामा ने देखा, कि बहुतसे धनवानोंके लडके गायका दूध पीरहेहैं। इसने

---

* पाठक वृन्द इस दरिद्र शब्दके प्रयोग कियेजानेसे ऐसा नहीं समझें, कि द्रोणाचार्य की निन्दा किजातीहै। यह निन्दा नहीं, स्तुति है। ब्राह्मणको तो दरिद्र होनाही चाहिये। भिक्षा मागना ब्राह्मणका परम धर्म्म है ब्राह्मणतो शास्त्रभिक्षुक कहाता ही है। ब्राह्मणका तो तप ही केवल धन है। इसी कारण ब्राह्मण को तपोधन कहते है। ब्राह्मण को हीरे, लाल, पन्ने, सोने, रूपे इत्यादि जड पदार्थों से क्या काम?

अपने पितासे जाकर कहा, कि गायका दूध पीनेको दो ! पर बेचारे दरिद्र ब्राह्मणके पास गाय कहां ? और पैसाभी ऐसाहीथा। पर अपने बच्चेको सन्तुष्ट करनेके लिये जलमें आटा घोलकर पिलादिया।

अश्वत्थामाने उन धनवानोंके लडकोंसे जाकहा, कि मैं अभी दूध पीकर आया हूं, पर उन लडकोंको विश्वास न हुआ। वे कहने लगे अरे दरिद्र ब्राह्मणका बालक! तेरे पिताके पास गायतो है नहीं तूने दूध कैसे पिया ? अरे तेरे पिताने आटा घोलकर पिलादिया होगा। यहसुन फिर वह अपने पिताके समीप जाकर बोला। पिता धनवानोंके लडके यों कहकर मेरा अपमान करते हैं, कि तेरे पिताने आटा घोलकर पिलादिया होगा। तेरे घरमें गाय कहां ?

यह सुन द्रोणको सचमुच अपनी दरिद्रता पर बहुत शोक हुआ। फिर अपने मनहीमन विचारने लगे, कि जब मैं परशुरामसे शस्त्रविद्या सीखता था तो पांचाल देशका नरेश "द्रुपद"भी मेरे साथ शस्त्रविद्या सीखताथा। वह एकप्रकार मेरे बचपनका मित्र है। उसके पास चल-कर कुछ धन मांगलाऊं तो मेरी दरिद्रता दूर होजावे। ऐसे विचारकर वह राजा "द्रुपद" के पासपहुंचे और जैसेही दूरसे "द्रुपद"को देखा, जैसे दौडकर, बचपनमें मिलते थे, वैसेही दौडकर उसके गले लिपटगये और पूछा, कहो मित्र सर्वप्रकार आनन्द मंगल तो है ना ?

"द्रोण"के इस व्यवहारसे राजमदके कारण"द्रुपद"को क्रोध आया और बोला अरे दरिद्र ब्राह्मण! तू मेरा कबका मित्र है ? अरे मूर्ख कहीं दरिद्रभी किसी नरेशका मित्र हुआहै ? जा यहांसे चलाजा ! फिर किसी

नरेशको मित्र नहीं कहना !

" द्रुपद"केमुखसे ऐसा रूखा सूखा वचन सुनकर"द्रोण" मारे क्रोधके लाल-लाल आंखोंसे द्रुपदकी ओर देखतेहुए लौटचले। फिर कुरु जांगालादि देशोंमें भ्रमण करतेहुए हस्तिनापुरमें आपहुंचे । पाण्डव और कौरव अन्यान्य राजकुमारोंके साथ लोहेका गेंद बनाकर खेलरहे थे, वह गेंद किसी अँधेरे कूपमें जागिरा। युधिष्ठिर, दुर्योधन, अर्जुन इत्यादि बालकोंने बहुत परिश्रम किया, पर गेंद न निकालसके । तहां वह वृद्ध ब्राह्मण आपहुंचे। इनको देखतेही राजकुमारोंने घेरलिया और कहा बाबा गेंद निकालदो! ब्राह्मणने कहा—"तुम प्रतापी भारतवंशी राजकुमार होकर इतनीभी धनुर्विद्या नहीं जानते । छी ! छी ! देखो ! मैं अभी निकालदेता हूं" द्रोणने झट एकमुष्टी कुश उखाडकर तीर धनुही बना गेंद निकालदिया। यह अद्भुतविद्या देख राजकुमारोंने वृद्ध ब्राह्मणका वृत्तान्त अपने रक्षक भीष्म पितामह से जासुनाया । भीष्म समझगये, कि वह "द्रोण" होंगे। झट उनको बुलवाकर नम्रतापूर्वक इन बच्चोंको धनुर्वेदकी शिक्षा देनेके लिये नियत करदिया । अबतो थोडेही दिनोंमें द्रोण धनसे सम्पन्न होगये।

जब इन राजकुमारोंकी धनुर्विद्या समाप्त होगयी, तब द्रोणने गुरुदक्षिणामें इनसे यहीमांगा, कि"ये राजा द्रुपदको उनके सामनेबांधकर लेआवें और उनका सारा राजपाट छीनलेवें" । अर्जुनने ऐसाही किया । जब राजा द्रुपद एवम्प्रकार बंदीहोकर द्रोणके सन्मुख आये तब द्रोणने

पांचालदेशका आधा राज अपने हाथकर आधा द्रुपदको लौटाकर बंधन खुलवादिया और कहा "कहो मित्र! अब हमतुम बराबर एकसमान हैं ना!

इतना सुन राजा द्रुपद मस्तक नीचाकर द्रोणको प्रणाम करताहुआ अपने देशको चलागया। पर उसके चित्तमें द्रोणसे ऐसा द्वेष बढगया, कि वह देश-देश और बन-बन ऋषियों के पास जाकर प्रार्थना करने लगा, कि एक पुत्रेष्टियज्ञ इसप्रकारका करादेवें, कि द्रोणको हननकरने-वाला पुत्र उत्पन्न हो। इस बातको ऋषियोंने अस्वीकार करदिया। पर अन्तमें एक उपयाज नामके ऋषिने यह यज्ञ कराया, जिससे द्रोण को हनन करनेवाला पुत्र धृष्टद्युम्न उत्पन्न हुआ। इस धृष्टद्युम्नने भी राजकुमारोंके संग द्रोणाचार्यहीसे धनुर्विद्या सीखी थी, इसलिये द्रोणका शिष्य* कहलाता है।

अब दुर्योधन द्रोणको पिछली बातें स्मरण करा, उन के हृदयमें क्रोधकी ज्वाला भडकानेके तात्पर्य्यसे सबसे पहले धृष्टद्युम्न-काही नाम लेकर मानो द्रोणाचार्य्यको उसकी ओरसे घृणा उत्पन्नकराता है।

दुर्य्योधनने जो "धीमता" कहकर धृष्टद्युम्नकी प्रशंसाकी है, इसे स्तुतिमुखनिन्दा समझनी चाहिये। व्यंगसे इस पदका प्रयोग कर रहे हैं। उसके मनका आन्तरिक अभिप्राय तो यह है, कि यह धृष्टद्युम्न बुद्धिमान नहीं वरु बडा धूर्त है, कृतघ्न है, गुरुनिन्दक है और परम चालाक है। क्योंकि जिसीको गुरु मानकर इसने विद्या सीखी अब

* शिष्यः=शिष्यतेऽसाविति। शास+ "एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्" ३।१।१०९ इति क्यप् "शास इदङ्हलोः" ६।४।३४ इति इ। "शासिवसीति" ८।३।६० इति षः।

उसीको मारनेके लिये उद्यत होरहा है ।

दुर्योधन आचार्यसे कहता है, कि हे भगवन् ! ऐसे दुर्बुद्धि शिष्यका तो मुख देखना उचित नहीं है। यह तो शिष्यका* काम नहीं है

* उत्तम और निकृष्ट शिष्य के लक्षण सक्षेपसे दिखलाये जाते है -

दीक्षातत्व नामक ग्रन्थमें उत्तम शिष्यका लक्षण यों लिखा है--

वाङ् मनः कायवसुभिर्गुरुशुश्रूषणेरतः । एतादृशगुणोपेतः शिष्यो भवति नारद !
देवताचार्य्यशुश्रूषां मनोवाक्कायकर्म्मभिः । शुद्धभावो महोत्साहो बोद्धा शिष्य इतिस्मृतः ॥

अर्थ-- वचन, मन, काया, धन इत्यादिसे जो गुरुकी सेवामें सदा तत्पर रहे, देवता, आचार्यकी सेवा मन, वचन, कर्मसे करता रहे, शुद्धभावसे और परमउत्साहसे रहकर गुरु वचनोंका समझनेवाला हो, वही इन शुभ गुणोंसे सम्पन्न उत्तम शिष्य कहलाता है। पद्मोत्तर खण्डके अध्याय२५में लिखा है कि- "शासने स्थिरवृत्तिश्च शिष्यः सद्भिरुदाहृतः । एवं लक्षणसंयुक्त शिष्यं सर्वगुणान्वितम् । अध्यापयेद्विधानेन मन्त्ररत्नमनुत्तमम् ॥

अर्थ-जो शिष्य गुरुके शासनके समय स्थिर वृत्तिका हो । गुरुकी झिडकियोंको आशीर्वाद समझताहुआ मौन रहकर हाथ बांधे कृपाभरे गुरुनेत्रोंके सामने खडारहे । ऐसों को सच्चे शिष्योंसे उदाहरण दियागया है । गुरुको चाहिये, कि इन लक्षणोंसे युक्त शिष्य के हृदयमें मन्त्ररूप रत्नको विधानके साथ रखदेवे ।

अब निकृष्ट शिष्यके लक्षण वर्णन कियेजाते है--अगस्तसंहितामें लिखा है ।

अलसा मलिनः क्लिष्टाः दम्भिकाः कृपणास्तथा । दरिद्रा रोगिनो रुष्टा रागिणो भोगलालसा । असूया मत्सरग्रस्तास्तथा परुषवादिनः । अन्यायोपार्ज्जितधना परदाराताश्चये । अष्टव्रताश्चये कष्टवृत्तयः पिशुनाः खलः । बह्वाशिनः क्रूरचेष्टा दुरात्मनश्च निन्दिताः । इत्येवमादयोऽप्यन्ये पापिष्ठाः पुरुषाधमाः । एवं भूताः परित्यज्याः शिष्यत्वेनोपकल्पिताः ॥

अर्थ = आलसी, मलीन, क्लिन्न,दम्भकरनेवाला, कृपण, दरिद्र, रोगी, रुष्टस्वभाव,रागी, भोगकीलालसा रखनेवाला, परायेकी निन्दाकरनेवाला, मत्सरसे भराहुआ, कटुवादी, अन्यायसे धन उपार्जन करने वाला, परस्त्रिगामी, अष्टव्रत, कष्टसे वृत्तिकरनेवाला, लोलुप,खल,बहुभोजन करनेवाला, क्रूर-स्वभाव, दुष्टात्मा और जो शुभकर्मोंसे निन्दितहो। ये सब तथा अन्यप्रकारके जो पापीहैं और अधमहै वेतो त्याज्य है। एकबारगी शिष्यत्वके योग्य नहीं हैं ।

शत्रुका काम है। यह उत्तम शिष्य नहीं अधम शिष्योंमें इसकी गणना करनी चाहिये और ऐसे शिष्यसे घृणा करनी चाहिये।

राजा दुर्योधन द्रोणके प्रति यह कहता है, कि हेआचार्य्य! आपके जितने शिष्य इस रणभूमिमें आपकी ओर हैं, सब आपके शुभचिन्तक, आपके साथ प्राणदेनेवाले, उत्तम शिष्य हैं और आपके जितने शिष्य पाण्डवों की ओर आखड़े हैं, वेसब आपके प्राणघातक हैं, तिनमें धृष्टद्युम्न मुख्य है! क्योंकि आपके मारनेही का संकल्प करके इसके पिता "द्रुपद" ने पुत्रेष्टियज्ञ करवाकर इसको उत्पन्न किया है। इसकारण यह धृष्टद्युम्न गुरुहन्ता उत्पन्न हुआ है।

हे गुरो! इनसब मेरी बातों को आप विचार कर देखलेवें। यदि राजा द्रुपदका पुत्र जो आपका शिष्य है, बुद्धिमान होता और गुरुभक्त होता तो जिस रणमें आप उसके गुरु स्वयं उपस्थित हुए हैं आपकी सेवामें आकर परस्पर मेल करने की सम्मति करता, पर ऐसा न करके आपसे युद्ध करनेके लिये पाण्डवोंकी सेनाकी व्यूहकीरचना कैसी गंभीरता के साथ करदी है? जिसके देखनेसे ऐसा जानपड़ताहै मानो सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डलके पर्वत एकत्र होकर हमलोगों के मस्तक की ओर उठे चले आरहे हैं। यदि आप यों कहें, कि यह मेरा शिष्य है, यह मुझसे क्या लड़ेगा? मेरे समान बलवान नहीं है और बाणविद्यामें तो मैं इसका गुरुही हूं, मुझको भय क्याहै? तो हेआचार्य्य! आप इसको निर्बल न समझें। इसके सहायताके निमित्त बडे-बडे वीर आकर इस रणभूमि में उपस्थित हैं, जिनका नाम मैं आपको सुनाता हूं। सुनिये. ॥ ३ ॥

मू०—अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्ज्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशीराजश्च वीर्य्यवान्।
पुरुजित्-कुन्तीभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः।
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्य्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व्व एव महारथाः॥४, ५, ६॥

पदच्छेदः— अत्र (अस्यां प्रतिपक्षभूतायां सेनायाम्।) युधि (युद्धे। युद्धक्रीडायाम्) भीमार्ज्जुनसमाः (भीमार्ज्जुनाभ्यां सर्व संप्रतिपन्नवीर्याभ्यां तुल्याः) महेष्वासाः (महान्त इष्वासाः धनूंषि येषां ते। परसैन्यविद्रावणाकुशलाः) शूराः (स्वयम् भीरवः। शस्त्रास्त्रकुशलाः) महारथः (एकोदशसहस्राणि योधयेत् सैव महारथः। महान् रथो यस्य सः) युयुधानः (सात्यकिः। श्रीकृष्णस्य सारथिः) च (तथा) विराटः (विराटदेशाधिपः) च (तथा) द्रुपदः (पांचालदेशाधिपः) च (घटोत्कचादयः) वीर्य्यवान् (वीर्य्य पराक्रमः विद्यते यस्य सः। महान् पराक्रमयुक्तः) धृष्टकेतुः+ (धृष्टद्युम्नस्यसुतः) चेकितानः (यादवानां नृपविशेषः) काशीराजः (वाराणस्यां प्रसिद्ध नरेशः) नरपुङ्गवः (नराणांमध्ये श्रेष्ठः) पुरुजित्× (अर्जुनमातुलः)

* इष्वास " इषु+अस+ करणे घञ् " इषवो बाणा. अस्यन्ते क्षिप्यन्तेऽनेन "धनुषको कहते है "॥

\+ धृष्टद्युम्नः सुतस्तस्य (द्रुपदस्य) धृष्टकेतुश्चतत्सुत.। (हरिवंश अ० २३)

× पुरुजित्कुन्तिभोजश्च मातुलौ सव्यसाचिन.। (भारत क० अ० ६)

च (तथा) कुन्तीभोजः (अर्जुनस्यमातुलः) च (तथा) शैव्यः (उशीनरराजात्मज शिबिगोत्रोत्पन्ननरेशविशेषः)च (तथा) विक्रान्तः (शूराणांसिंहः) युधामन्युः (उत्तमौजानृपस्यभ्राता) च (तथा) वीर्य्यवान् (महान् पराक्रमयुक्तः) उत्तमौजाः(युधामन्योर्भ्राता) सौभद्रः(सुभद्रापुत्रोऽभिमन्युः)द्रौपदेयाः(द्रौपदीपुत्राः प्रतिविंध्यादयःपंच) सर्वे (सकलाः)एव (निश्चयेन) महारथाः (दशसहस्रान्वीरान्जयेदिति-महारथः ते महारथाः) ४, ५, ६, ॥

पदार्थ.— (अत्र) यहां (युधि) युद्धमें (भीमार्ज्जुनसमाः) भीम और अर्जुनके समान (महेष्वासाः) वडे-वडे वीर धनुर्धर (शूराः) युद्ध करते समय वडे-बडे योद्धाओंके वलको रोकनेवाले एकत्र हैं। वे कौन कौन हैं ? सो हे गुरो! सुनो! (महारथः) महारथी अर्थात् दश-सहस्र वीरोंके साथ युद्धकरनेवाला (युयुधानः) अकेला एक यदुवंशी वीर युयुधान है, जिसे सात्यकीकहते हैं। (च) और (विराटः) विराट देशका प्रसिद्धनरेश है (च) फिर (द्रुपदः) पांचाल देशका राजा द्रुपद भी है (वीर्यवान्)बहुतवडे पराक्रमी वीर (धृष्टकेतुः) धृष्टकेतु, (चेकितानः)चेकितान (काशीराजः)और काशीराजभी हें। फिर (नरपुंगवः) नरोंमें श्रेष्ठ (पुरुजित्) राजा पुरुजित् (च) और (कुन्तिभोजः) राजा कुन्तिभोज, (च) और (शैव्यः) राजा शैव्य भी हैं। (च) फिर (विक्रान्तः) शूरोंमें सिंह (युधामन्युः) युधामन्यु नामका नरेश भी है (च) फिर (वीर्य्यवान) बहुत बडा पराक्रमी (उत्तमौजाः) उत्तमौजा नाम का वीर है। (च) इनसे अतिरिक्त (सौभद्रः) सुभद्राका पुत्र अभिमन्यु भी है। तथा (द्रौपदेयाः) द्रौपदीके प्रतिविन्ध्यादि पांचों पुत्र भी हैं।

ये (सर्वएव) सबके सब निश्चय कर (महारथाः) महारथी हैं, जो अकेला दस-दस सहस्र वीरोंके सामनेसे मुंह मोड नहीं सकते, वरु उन्हें जीत सकते हैं। हे गुरो ! जिन-जिनके नाम मैंने सुनाये वे सब इस पाण्डवकी सेनाके मुखिया महारथी हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

भावार्थः— पहले दुर्योधनने पूर्व श्लोक में केवल "धृष्टद्युम्न" का नाम लेकर द्रोणाचार्य्य को उनकी मृत्युका स्वरूप दिखलाया, पर उसके मनमें यह सन्देह हुआ, कि कदाचित् द्रोणाचार्य्य इस युद्धविद्याके वहुत बडे आचार्य्य होने के कारण अकेला इस धृष्टद्युम्न को अत्यंन्त निर्बल तथा अपना शिष्य जान निश्चिन्त होरहे हैं। इसलिये अब अन्य वडे वडे वीरोंका नाम लेकर इनको भयभीत करदेना अत्यन्त आवश्यकीय है। इसी अभिप्रायसे फिर कहता है, कि [**अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि**] इस रणभूमिमें पाण्डवोंके दलकी ओर बडे-बडे पराक्रमी वीर हैं; अर्थात् ऐसे-ऐसे 'महेष्वासाः' महान् बाणोंके क्षेपण करनेमें परमकुशल प्रतिपक्षी दलमें हैं जो भीम और अर्जुन के समान युद्धकलामें परम प्रवीण हैं।

प्रश्न— दुर्योधन कैसे जानताथा, कि भीम और अर्जुन ही इस रणभूमिमें सर्वोंसे श्रेष्ठ वीर हैं ?

उत्तर— यह दुर्योधन जब आचार्य्य द्रोण के समीप जाकर देश देशान्तरके राजकुमारों और पाण्डवोंके साथ युद्धविद्या सीखताथा,

* "इष" कहते है वाणको और 'अस' धातुका अर्थ क्षेपण अर्थात् फेकना है। इसलिये जिसके द्वारा वाण फेंकेजावें उसे कहिये 'इष्वासः' अर्थात् धनुष। सो धनुष है महान् जिसका उसे कहिये 'महेष्वासः' अर्थात् जो विशाल धनुषका धारण करनेवाला है ॥

तब कभी -कभी आचार्य्य परीक्षा लेनेके तात्पर्य्यसे सब राजकुमारोंमें परस्पर मल्लयुद्ध कराया करते थे। इससे दुर्योधन जानताथा, कि येही दोनों सबोंमें अधिक बलवान हैं। पक्षी वेधनेके समयमें भी अर्जुनने ही वेधन किया था। द्रौपदीके स्वयंवरमें भी अर्जुन ही मत्स्य बेधकर द्रौपदी को जीत लाया था। इसलिये दुर्योधनको विश्वास था, कि अर्जुन वीर शिरोमणि है। फिर भीमको भी जो इसने श्रेष्ठ वीर कहा इसका कारण यह था, कि गुरुके पास परीक्षाके समय गदा-युद्धमें यह स्वयं भीमसे हारजाया करता था। इससे अतिरिक्त राजा विराट के गउओं को घेर लेनेके समय अर्जुनने युद्ध करके दुर्योधनादि सब कौरवों को अकेलाही पानी-पानी करदिया था। सारी कौरव सेना त्राहि-त्राहि करने-लगी थी। गुरु द्रोणको अर्जुनने बाणोंसे ढकदिया था। दुर्योधनके मुकुटके दो टुकड़े करडाले थे। सारी कौरव सैन्योंके कपड़ों को छीन लिया था। इन सर्व प्रकारकी वीरतासे दुर्योधन जानता है, कि पांडव-दलमें भीम और अर्जुन के समान कोई वीर नहीं है। मुख्य अभीप्राय यह है, कि दुर्योधन और द्रोणाचार्य्य दोनो अर्जुनके और भीमके बलको भलीभांति जानतेहैं इसीकारण दुर्योधन द्रोण को यों समझा रहा है, कि हे आचार्य्य! आप बाणविद्यामें विशारद होनेके कारण ऐसा समझ असावधान नरहें, कि धृष्टद्युम्न मेरा क्या करलेगा? वरु इस बातका सदा विचार करते रहें, कि यह धृष्टद्युम्न इनहीं योद्धाओंकी सहायतासे आपके संग युद्धकरेगा।

अब मैं आपको अन्य वीरोंका नाम भी सुना देता हूं। सुनिये! [युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः] वह देखिये सबसे

आगे, जो युयुधान नामका वीर है, जिसे सात्यकी भी कहते हैं, यह वृष्णीवंशी "सत्यकका" पुत्र श्रीकृष्णका सारथी है, जो प्राणान्त तक पीठ दिखाने वाला नहीं हैं। इसकी मार तथा बाणों के घाव असह्य हैं। अकेला व्यूहोंके भीतर घुसकर युद्ध करने वाला है। इसी कारण इस सात्यकीका दूसरा नाम युयुधान करके प्रसिद्ध हुआ है। वह ली जिये! दूसरा विराट आपके सम्मुख खडा है, जो अर्जुनका निज समधी है, जिसकी कन्या उत्तरा अभिमन्युसे व्याही गयी है। भला अर्जुनके लिये अपनी जान देनेसे क्या यह मुह मोड सकता है? कदापि नहीं! तीसरा वह जो लाल-लाल विशाल आंखें निकाले आपकी ओर घुडककर ताकरहा है, वही राजा द्रुपद* है, जो आपका परम वैरी है। यह पाण्डवों का श्वसुर है। हे आचार्य्य! ये तीनों महारथी होकर पाण्डवीय सेनाके आगे अडे खडे हैं।

लीजिये और सुनिये! **[धृष्टकेतुश्चेकितानः काशीराजश्च वीर्य्यवान्]** धृष्टकेतु, चेकितान और काशीराज ये तीनों भी वडे वीर्य्यवान हैं। युद्ध विजय करनेकी जिनकी महान् कलायें सर्व वीरों पर विदित है। इन तीनों में वह जो आपके वैरी धृष्टद्युम्नका पुत्र धृष्टकेतु+ है, उसेआप छोटा नसमझिये। यह आगकी पलीताके समान काज करनेवाला और रणधीर है। फिर वह जो दूसरा चिकितान राजा

---

* "द्रु" कहिये वृक्षको और "पद" कहिये चिन्हको। सो जिसकी ध्वजामें वृक्षका चिन्हहो उसे 'द्रुपद' कहते हैं।

+'धृष्ट' कहिये भयावहको और 'केतु' कहिये ध्वजाको। सो जिसकी ध्वजा शत्रुओंके भयदायकहो उसे कहिये 'धृष्टकेतु'॥

का पुत्र चेकितान है वहभी इसकी बराबरीका है । बलमें इससे रत्ती मात्र भी कम नहीं हैं। काशीराज भी पाण्डवोंका सम्बन्धी होने के कारण अपनी सारी युद्धकला काम में लानेसे न रुकेगा। ये तीनों एक से एक वीर्य्यवान् हैं।

लीजीये और देखिये ! इस रणमें [पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः] नरपुंगव अर्थात् नरोंमें श्रेष्ठ जो पुरुजित् कुन्ती-भोज और शैब्य हैं, इन तीनोंमें दो अर्जुनके मामा हैं। और तीसरा शैब्य उशीनर-महाराज के प्रसिद्ध पुत्र राजा शिबि के गोत्र में है । इसी कारण इसका शैब्य नाम है । ये तीनो पाण्डवों की सेना के महारथी भी हैं।

इससे अतिरीक्त अन्यान्य वीर भीहैं, जिनका नाम भी सुनाता हूं। सुनिये ! [युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्]विक्रान्त अर्थात् महापराक्रमी जो पांचालदेशका राजा युधामन्यु* और महाशूर रणधीर उत्तमौजा+ ये दोनों भी हैं। ये दोनों परस्पर सगे भाई हैं। इनोंने पाण्डवोंके लिये अपनी-अपनी सारी सेना इस रणभूमि में लाकर खडी करदी है। यदि आप ऐसे कहें, कि ये सबके सब ऐसे, वैसे वीर केवल पाण्डवों को अपनपौ दिखलानेके लिये रणमें आगये हैं, पर जब मेरे शस्त्रोंसे इनको सामना पडेगा तब सबके सब ऐसे-

* "मन्यु" कहते है क्रोधको सो युद्धमें जो क्रोधकरके वीरोंको पानी-पानी करदे उसे कहिये " युधामन्यु "

+ "ओजस"नाम बल काहै, सो उत्तम बल हो जिसको उसे कहिये 'उत्तमौजा' ।

भाग जावेंगे जैसे घोर झंझावात (अंधड झक्कड तूफान) से मेघमण्डल इधर उधर तितर वितर होकर विलाजाते हैं। सो हेगुरो! आप ऐसा कदापि न अनुमान करें। ये सबके सब पाण्डवोंके लिये प्राणदान देवेंगे, पर रण छोडकर नहीं भागेंगे।क्योंकि ये वडे पराक्रमीहैं। इतनेही नहीं वरु जो इनके अपने रुधिरके संगी वीर हैं उनके नामभी सुनिये!

(सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व्व एवमहारथाः) सौभद्र जो सुभद्राका पुत्र "अभिमन्यु" अर्जुनका परमप्रिय पुत्र तथा कृष्णचन्द्रका अपना प्यारा भानजा है, यद्यपि बालक है, पर युद्धकलामें परम प्रवीण है। सर्व प्रकारके व्यूहोंको तोडकर घुसजानेमें तो यह एकही निकला है। अनेकानेक वीरोंको नाकोंदम करदेताहै। फिर इस रणमें द्रौपदेयाः× जो द्रौपदीके पांचोंपुत्र प्रतिविन्ध्यादि नाम करके हैं वेभी सेनाके पृष्ठभागमें स्थित हैं। ये सवके सव जिनके नाम मैंने गिनाये, महारथी हैं। इसकारण इनकी सेना गंभीर और दृढ व्यूहोंके साथ ऐसी रचीहुई देखपडतीहै, कि यदि काल भी अपना कटक लेकर इनके सन्मुख आवे तो वे उसेभी जीत लेवेंगे ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

इतना कहते-कहते दुर्योधन मनहीमन विचारनेलगा, कि आचार्य्य ऐसी आज्ञा न देदेवें, कि जव तुम सेनाको देख डरतेहो तो पाण्डवोंको आधा राज्य देकर सन्धि करलो! युद्धका वखेडा उठादो! इसलिये आचार्य्यके चित्तकी यह शंका मिटादेनेके तात्पर्य्यसे झट अपनी सेनाकी स्तुति करने लगगया। और अपने वीरोंके नाम विलग-विलग

× द्रौपदेयाः—द्रौपदीके पांचों पुत्रोंके नाम—युधिष्ठिरसे 'प्रतिविन्ध्य'। भीमसेनसे 'सूतसोम'। अर्जुनसे 'श्रुतकर्म्मा'। नकुलसे 'शतानीक'। सहदेव से 'श्रुतासन'।

दिखाकर कहने लगा, कि हे गुरो! अब जो अपने दलके महारथी*हैं उनके नाम सुनिये !

मू०—अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥७॥

पदच्छेदः—द्विजोत्तम! (हे द्विजकुलशिरोमणि ! ब्राह्मणानामुत्तम! आचार्य्य!) अस्माकम् (अस्मदीयसेनाया) तु (निश्चयेन) ये विशिष्टाः (श्रेष्ठाः। सर्वेभ्यः समुत्कर्षयुषः) तान् (मयोच्यमानान्) निबोध! (बुद्ध-यस्व! निश्चयेनावधारय ! जानीहि!) मम (मदीय। मामकीन्) सैन्यस्य (कटकस्य) नायकाः (मुख्याः। नेतारः) तान् (वीरान्)संज्ञार्थम् (सम्य-ग्ज्ञानार्थम् । असंख्येषुमध्ये कतिचिन्नामभिर्गृहीत्वा परीशिष्टानुपलक्षयि-तुम्) ते (तुभ्यम्)ब्रवीमि(ज्ञापयामि। वच्मि) ॥ ७ ॥

पदार्थः-(द्विजोत्तम!) हे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ मेरे आचार्य्य! (अस्माकम्) हम लोगोंके (तु) भी तो (ये) जितने (विशिष्टाः)श्रेष्ठ वीर हैं (तान्) तिनको (निबोध !) जानलो ! (मम) मेरी (सैन्यस्य) सेनाके (नायकाः) जितने बडे बडे मुखिया योद्धा हैं (तान्) तिन वीरोंको (ते) तुम्हारे

* महारथी—एकोदशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महा-रथः इतिस्मृत ॥अमितान्योधयेद्यस्तु सम्प्रोक्तोऽतिरथस्तु सः । रथस्त्वेकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्धरथस्मृत ॥ अर्थ=जो अकेला दससहस्र धनुषधारी वीरोंके साथ युद्धकरे अथवा दससहस्र वीर जिसकी आज्ञामेंहों तथा शस्त्रविद्यामें और शास्त्रमें जो विशारद हो उसे 'महारथी' कहते है। जो असंख्य धनुर्धारियोंके साथ युद्धकरे अथवा असंख्य धनुर्धारी वीर जिसकी आज्ञामे रखेजावें उसे 'अतिरथि' कहते हें। जो एकही शूरवीरसे युद्धकरे उसे रथी कहतेहैं। जो इससेभी कम बल रखताहो उसे 'अर्धरथी' कहते हैं । युद्धमें (महारथी, अतिरथी, रथी, और अर्धरथी,) येही चारप्रकारके रथी होते हैं ॥

(संज्ञार्थम्) सम्यक्प्रकार से जानलेनेके लिये (ब्रवीमि) मैं विलग विलग नाम लेकर कहता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थः— यह दुर्योधन वचनके बोलनेमें वडा चतुर है। यहां यद्यपि इसके मनमें पाण्डवोंके वीरोंको देख भय उत्पन्नहो आयाहै तथापि उसे छिपालेनेके प्रयोजनसे इसने इस श्लोकमें "तु" शब्दका प्रयोग कियाहै। तात्पर्य्य यह, कि आचार्य्य मेरेको डराहुआ जान सन्धिकी आज्ञा न देदें। इसलिये अपने कटकके वीरोंका नाम आचार्य्यको जना देनेके लिये विलग-विलग कर कहताहै, कि **[अस्माकं तु विशिष्टा ये तन्निबोध! द्विजोत्तम!]** हेद्विजोत्तम! ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ मेरे आचार्य्य! हमलोगोंके कटकमें भी तो सेनाके बडे-बडे श्रेष्ठ नायक हैं। उन्हें भी तो आप जान लीजिये। आप ऐसा न विचारें, कि पाण्डवोंकी ही सेना में बडे-बडे वीर इकठ्ठे हुए हैं। नहीं! नहीं!! उन वीरोंसे भी अधिक बलवान मेरे कटकके नायक गण हैं।

प्रश्न—यहां दुर्योधन ने इस रणभूमिमें द्रोणाचार्य्य को वीरोत्तम न कहकर द्विजोत्तम् क्यों कहा? यज्ञादि तथा धर्म्मोपदेशादि के समय तो "द्विजोत्तम" कहकर सम्बोधन करना उचित है, पर ऐसे घोर संग्रामके समय "द्विजोत्तम" कहकर स्तुतिकरनेका क्या प्रयोजन है?

उत्तर=दुर्य्योधन भीतरका क्रूरस्वभाव महामलीन है। उसने धूर्त्तता करके दो अभिप्रायोंसे यह शब्द उच्चारण कियाहै। प्रथमतो यह, कि द्विजोत्तम शब्दसे अपनी स्तुति सुनकर यह हर्षपूर्वक पूर्ण उत्साहके साथ मेरेलिये युद्ध करेंगे। दूसरी बात यहहै, कि रणके समय द्विजोत्तम कहना स्तुतिमुख निन्दा भीहै। अर्थात् दुर्योधन आचार्य्य को यहभी जता रहा है

कि यद्यपी तुम धनुर्विद्या विशारद हो, पर जाति से तो तुम ब्राह्मण ही हो। ब्राह्मण तो स्वभाविक डरपोक होते हैं। रणसे सदा भाग जाया करते हैं। यदि तुमभी इनकी सेना से डरकर अथवा अर्जुन को अपना परम शिष्य समझकर उनकी ओर होने की चेष्टा करोगे, तो जानलो! कि हमारे कटकके वीर तुम्हारी जान न छोडेंगे। क्योंकि भीष्मादि बडे-बडे कट्टर औ प्रबल योद्धा मेरी ओर हैं। इसी धूर्त्ततासे रणभूमिमें **द्विजोत्तम*** पदसे द्रोणको पुकारता है।

अब कहता है, कि [**नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्-ब्रवीमिते**] हे आचार्य्य! मैं अपनी सेनाके नायकोंका नाम आपके बोध निमित्त सुनाता हूं। सुनो!

तुम इन सब वीरोंको प्रथमसे ही जानते हो! तथापि संभव है, कि दो एक को तुम विस्मरण करगये होगे। इसी कारण मैं चाहता हूं, कि वे सब के सब तुम्हारे ध्यानमें आजावें और तुमको भी इन सबों की सहायता से युद्ध सम्पादनमें अधिक परिश्रम न हो। क्योंकि पाण्डवोंकी सेनाके वीरोंसे ये किसी प्रकार न्यून नहीं हैं। तथा अत्यन्त कठोर व्यूहों में निःशंक पिल पडने वाले हैं। जब-जब तुम अपने प्रबल प्रतापको दिखातेहुए शत्रुओंकी सेनाको मार भगाना आरंभ करोगे अथवा शत्रुओंकी सेना प्रबल होकर तुमको घेरलेनेकी चेष्टा करेगी तब तब ये तुम्हारी सहायताकरेंगे। हे देव! अबमें उनकानाम सुनाताहूं।सुनो!

* द्विजोत्तमेति विशेषणेनाचार्य्यं स्तुवन्स्वकार्य्ये तदाभिमुख्य सम्पादयति। दौष्ट्य पक्षे द्विजोत्तमेति ब्राह्मणात्वात्तावद्युद्धकुशलत्व तेन त्वयि विमुखेऽपि भीष्म प्रभृतीनां क्षत्रिय प्रवराणां सत्वान्नास्माक महति क्षितिरित्यर्थः (मधुसूदनः)

मू०—भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

पदच्छेदः—भवान्) त्वम्) च (तथा) भीष्मः (कुरुवंशशिरोमणि शान्तनुपुत्रः) च (तथा) कर्णः (कुन्त्याःकन्यावस्थायां सूर्य्याज्जातः प्रसिद्धवीरः) समितिंजयः (समितिं संग्रामं जयतीति यः) कृपः (कृपाचार्य्यः) च (तथा) अश्वत्थामा (द्रोणपुत्रः) च (तथा) विकर्णः (स्वभ्राता कनीयान्) तथा, एव, च, सौमदत्तिः (सोमदत्तस्य पुत्रः श्रेष्ठत्वात् भूरिश्रवाः) ॥ ८ ॥

पदार्थः—दुर्योधन कहता है, कि मेरी ओर सबसे प्रथम तो (भवान्) आप मेरे आचार्य्य हैं (च) और (भीष्मः) मेरे पितामह भीष्म हैं (च) और (समितिंजयः) युद्धको सदा विजय करने वाले (कृपः) कृपाचार्य्य जी महाराज हैं (च) और (अश्वत्थामा) आपके प्रिय पुत्र अश्वथामा हैं। (च) और (विकर्णः) मेरा छोटा भाई विकर्ण है (च) और (तथाएव) इसी प्रकार (सौमदत्तिः) चन्द्रवंशी राजा सोमदत्तका पुत्र सौमदत्ति, जिसे श्रेष्ठता के कारण 'भूरिश्रवा' के नामसे भी पुकारते हैं, उपस्थित है ॥ ८ ॥

भावार्थः—अब दुर्योधन अपने दलके महारथियोंका नाम द्रोणाचार्य्यके प्रति कथन करता हुआ उनके उत्साह बढानेके तात्पर्य्यसे कहता है, कि [भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः] हे भगवन् ! सबसे पहले तो आप मेरे परम रक्षक स्वयम् उपस्थित हैं, जिसका सामना करने वाला कोई नहीं है। क्योंकि आपतो

साक्षात् धनुर्वेदके अवतार ही हैं। यह शस्त्रविद्या तो सदा दासी के समान आपकी सेवामें खडी रहती है। इसलिये आपके ऐसे धनुर्विद्या विशारदके आश्रय, मुझको युधिष्ठिरकी सेनाका तनक भी भय नहीं है। जिस दलमें आप होंगे उसका सदा जय है।यह मेरे मनमें निश्चयहै। पश्चात् वह देखिये! मेरे सर्व प्रकार सहायक वीरशिरोमणि बालब्रह्मचारी "भीष्म पितामह" भी उपस्थित हैं, जिनकी युद्ध कला संसारमें प्रसिद्ध है। ये शत्रु रूप गज समूहके ग्रास करजानेके लिये सिंहके समान हैं, जिनके धनुषके टंकारकी ध्वनि मात्रसे नृपरमणियोंके गर्भ पात होजाते हैं। फिर वह देखिये! सर्वप्रकारके शस्त्रसे सुसज्जित जो अपने रथ के सम्मुख खडा है, वीर कर्ण है, जिसकी वीरता कौन नहीं जानता। यह मेरा परम प्रिय मित्र है। यद्यपि यह अपनी माता कुन्तीके मुख से सुन चुका है, कि वह कुन्तीका-ही पुत्र है, तथापि अपने सहोदर भ्राता पाण्डवोंकी सहायता न करके मेरे लिये प्राण देदेने को इस युद्ध में आन पहुंचा है। फिर देखिये ! कृपाचार्य्यजी महाराज रथके ऊपर किस वीरतासे वीरासन लगाये बैठेहुए हैं? यह गौतमवंशमें शरद्वतऋषिके पुत्र हैं। मेरे पितामह महाराज शान्तनुने बचपनमें बडी कृपासे इनका लालन पालन किया था। इस कारण ये 'कृप' नाम करके प्रसिद्ध हुए। इनोंने भी जीवन पर्य्यन्त ब्रह्मचारी रहकर धनुर्विद्यामें बडी प्रवीणता प्राप्त की। हमारे पितामह 'भीष्म' ने इनको भी हम कौरवों और पाण्डवोंको धनुर्वेद पढानेकेलिये नियुक्त करदियाथा। यह "समितिंजय" इसकारण कहे जाते हैं,कि समिति जो युद्ध तिसे सदा जय करने वाले हैं। संग्रामों में पराजयको

पैरों के तले दबाये हुए जय का टीका अपने मस्तक पर लगाने-वाले हैं। ये तो अश्वत्थामा के मामाही हैं।

दुर्योधन बडी चतुराई के साथ अपनी धूर्त्तता अपनी कक्षा (बगल) में दाबे हुए ऊपरसे हितकी बातें करता हुआ कहता है, कि हे आचार्य्य! औरभी सुनिये [**अश्वत्थामा विकर्णश्च सौम-दत्तिस्तथैवच**] वह देखिये आपके प्राणोंके प्यारे, नेत्रोंके तारे, मेरे परम दुलारे मित्र अश्वत्थामा जी भी आकर उपस्थित हुए हैं। यहभी समितिंजय* कहलाते हैं। ये इस प्रकारके पिताभक्त हैं, कि अपना प्राण देकर केवल आपकी रक्षा करने के तात्पर्य्य से यहां आन पहुंचे हैं।

यहां तक नाम लेकर दुर्योधनने द्रोणाचर्य्यके प्रति अपने मन-का यह भाव दिखलाया, कि हे आचार्य्य! ये जो भीष्म, कर्ण, कृपा-चार्य्य और अश्वत्थामा हैं ये चारों युद्धमें विशेष कर आपकी ही सहायता करेंगे। क्योंकि येही चारों आपके शुभचिन्तक हैं। मेरे पितामह महाराज 'भीष्म' ने आपको धनुर्विद्या विशारद जानकर हम लो-गोंका आचार्य्य नियुक्त किया था, इसकारण उनकी आन्तरिक इच्छा यह है, कि इन उपस्थित वीर नरेशोंके बीच आप युद्धकलामें अग्रसर कहलावें। इसलिये वे भी आपहीकी सहायता करेंगे। 'कर्ण' आपका परम प्रिय शिष्य है, इसको अर्जुनसे किसी प्रकार न्यून नहीं मानें। इसे

* मध्यमणिन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते। (भाष्योत्कर्षदीपिका)। अर्थात् जैसे एक मणि दो मूंगोके मध्य दोनों की शोभाकी वृद्धि करता है, इसीप्रकार यह 'समितिंजय' पद कृपाचार्य्य' और 'अश्वत्थामा' दोनोंका विशेषण है।

अर्जुनसे सनातनी वैर है। क्योंकि द्रौपदीके स्वयम्वरमें जब यह कर्ण मत्स्य वेधनेको उठा था, तब द्रौपदीने " न वरयामि सूतपुत्रम् " में सूतके पुत्रको नहीं वरूंगी, ऐसे कडुवे शब्दोंसे इसका अपमान करके इसे मत्स्यवेधनसे रोकदिया था। तहां अर्जुनने झट उठकर मत्स्यका वेधन कर द्रौपदीको वरलिया, तबहीसे इस कर्णको पाण्डवों से वैर है। इस-लिये आपहीकी सहायता करनेहीके प्रयोजनसे यह प्रसिद्ध वीर, बाण हाथमें लिये खडा है।

फिर वह देखिये ! विकर्ण, जो मेरा छोटा भाई है, सहस्रों वीरोंको क्षणमात्रमें रसातल भेजनेवाला है। वह भी आपकाही शिष्य है। तिसकी बायीं ओर नाना प्रकारके कवचादिकोंको धारणकिये 'सौमदत्ति' भी वीरवेषमें सुसज्जित खडाहै। इसका दूसरा नाम ' भूरिश्रवा ' है। यह चन्द्रवंशी महाराज सोमदत्तका पुत्रहै। बाण विक्षेप करनेमें जिसकी अलौकिक शक्ति है।

किसी-किसी ग्रन्थमें "सोमदत्तिर्जयद्रथः" ऐसा पाठ है। जब ऐसा पाठ होतो यों अर्थ करना होगा, कि सौमदत्ति अर्थात् "भूरिश्रवा" और "जयद्रथ' ये दोनों वीरभी मेरी सेनाके नायक हैं।

किसी-किसी ग्रन्थमें "सिन्धुराजस्तथैवच" ऐसे पाठ हैं। तहां सिन्धुराज "जयद्रथ" को ही कहते हैं।

यहां विचारकर देखनेसे ऐसा बोध होता है, कि "सोमदत्तिस्तथैवच" यही शुद्ध पाठ है। क्योंकि जयद्रथकी गणना उत्तम वीरोंमें नहीं है। "द्रोणाचार्य" और "दुर्योधन" कोभी यह ज्ञात है, कि जिस समय " जयद्रथ " द्रौपदीको चुराकर लेभागाथा,

उस समय उसे "भीमसेन"ने पकड़कर लात-घूंसे तथा थप्पडोंसे उसकी पूरी पूजाकीथी, पर उसके वहुत रोने-पीटनेसे "युधिष्ठिरने" छुडवा दियाथा। एवम्प्रकार अपमानित होकर "जयद्रथ" ने वहांसे भाग हरिद्वारमें जाकर शिवकी आराधनाकी और महादेवके प्रगट होनेपर उस-ने वर मांगा, कि मैं पाण्डवोंको युद्धमें जीतूं, पर महादेवजीने योंकहा, कि 'तू अर्जुनको कदापि नहींजीत सकेगा'। इतना कह अन्तर्धान होगये।

इसीकारण जयद्रथका नाम द्रोणाचार्य्यके समीप लेनेमें दुर्योधन कुछ सकुचगया। इसका नाम न लेकर केवल "सौमदत्तिका" नाम लिया॥ ८॥

दुर्योधनने पाण्डवोंके दलकी ओर तो धृष्टद्युम्नसे लेकर द्रौप-दीके पांचों पुत्रों तक १८ महारथियों और अपने दलकी ओर द्रोण से लेकर सोमदत्ति पर्य्यन्त केवल ७ महारथियोंके नाम गिनाये। इसलिये मनही-मन यह विचार कर, कि अपनी ओर महारथियोंकी न्यून-ता जान आचार्य्य युद्धसे न मुकरजावें झट सशंक हो कहने लगा—

---

* पाण्डवोंके १८ महारथियोंके नाम—१ धृष्टद्युम्न। २ युयुधान। ३ विराट। ४ द्रुपद। ५ धृष्टकेतु। ६ चेकितान। ७ काशीराज। ८ पुरुजित। ९ कुन्तिभोज। १० शैव्य। ११ युधामन्यु। १२ उत्तमौजा। १३ अभिमन्यु। और प्रतिविन्ध्यादि पांच द्रौपदीके पुत्र। सब मिलकर १८ हुए।

कौरवोंके दलके महारथियोके नाम

१ द्रोणाचार्य। २ भीष्माचार्य। ३ कर्ण। ४ कृपाचार्य। ५ अश्वत्थामा। ६ विकर्ण। ७ सोमदत्ति।

मू०—अन्ये च वहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्व्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

पदच्छेदः—च (तथा) अन्ये (शल्यकृतवर्म प्रभृतय) वहवः(बहुसंख्यकाः)शूराः (वीराः) मदर्थे (मत्प्राणरक्षाप्रयोजनाय) त्यक्तजीविताः (जीवितमपि त्यक्तुमध्यवसिताः । प्राणान्त्यक्तुं बद्धपरिकराः) नानाशस्त्रप्रहरणाः (अनेकप्रकाराण्यायुधानि खड्ग गदादीनि केवलं प्रहारार्थानि येषां ते) [ते] सर्व्वे (सकलाः) युद्धविशारदाः (रणक्रीडायां निपुणाः) । ॥ ९ ॥

पदार्थः—दुर्योधन द्रोणाचार्य्यसे कहता है, कि (अन्ये च)पुर्वोक्त वीरों से इतरभी (वहवः) अनेकानेक (शूराः) वीरगण (मदर्थे) मेरेप्राणकी रक्षा के लिये (त्यक्तजीविताः) अपने जीवनको अर्पण किये हुए हैं वे कैसे हैं ? कि (नानाशस्त्रप्रहरणाः)विविध प्रकारके वाण, खड्ग, गदा इत्यादि शस्त्रोंके प्रहार करनेमें वडे प्रवीण हैं और (सर्व्वे)वे सबकेसब (युद्धविशारदाः) युद्धविद्यामें निपुण हैं ॥ ९ ॥

भावार्थः—राजा दुर्योधन जो स्वार्थका मूल है दोनो ओरकी महारथियोंकी सेनाओंका वर्णन करते-करते धोखेसे जो अपनी ओरकी न्यूनता कह सुनायी, इससे उसके चित्तमें यह चिन्ता उत्पन्न होगयी, कि इस रणमें जितने नरेश आये हैं इनमें मेरे मित्र कर्णको छोड और किसी की इच्छा युद्ध करनेकी नहीं है। ऐसी दशामें इस न्यूनताको सुन यदि आचार्य्यका भी चित्त डांवाडोल होगया और रणछोड लौटगये, तो महा अनर्थ होगा मेरा सारा वना-वनाया घर विगड जावेगा। इसलिये झट वहांहीसे पलट पडा और कहनेलगा, कि हे गुरुदेव! आप ऐसा न समझें, कि

मेरे दलकी ओर केवल सातही महारथी हैं । नहीं ! नहीं !! [अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः] हे आचार्य्य ! मैंने जो केवलसातही महारथियों के नाम गिनाये, इससे तुम ऐसा न समझो, कि इतनेही महारथी मेरे कटकमें उपस्थित हैं नहीं ! नहीं !! इनसे अतिरिक्त औरभी हैं । शैल्य, कृतवर्मा, दुःशासन, जयद्रथ इत्यादि सैकडों शूरवीर केवल मेरेही राज्यकी रक्षाके लिये अपने-अपने प्राणको तुच्छ जान रणमें अर्पण करने केलिये उपस्थित हैं। ये केवल कहने मातही मेरे हितैषी नहीं हैं वरु आन्तरिकस्नेहसे सबके सब अपना देशकोश सर्वस्व त्यागकर अपनी-अपनी सेना लिये इस रणभूमिमें आये हुए हैं । ये कैसे हैं ? कि [नाना शस्त्रप्रहरणाः सर्व्वेयुद्धविशारदाः] परशु, गदा, वाण, खड्ग, शूल इत्यादि अनेक शस्त्र-अस्त्रके प्रहार करनेमें जो बडे शूर हैं तथा ये जितने असंख्य वीर मेरी ओर आये हैं, सबके सब युद्ध करने में निपुण हैं । ये अवश्य अपनी युद्धकला-कौशलसे कीर्त्तिरूपी युवती का जय करेंगे और मुझको मेरे राज्यमें स्थिरकर पाण्डवोंका कहीं नाम भी न रहने देंगे ।

हे आचार्य्य ! मैं तुम्हारे समीप क्या कहूँ ? ये सबके सब सच्चे क्षत्रिय हैं । क्षत्रियोंका क्या धर्म्म है? सो इन्हीं लोगोंसे सीखने योग्य है । ये मेरे कटकमें अनगिनत आये हुए हैं। ये सबके सब तुम्हारी सहायता में तत्पर रहेंगे ॥ ९ ॥

अब दुर्योधन मारे भयके बावला औ चंचल चित्त होनेके कारण फिर इस अपने वचनसे प्रतिकूल कुछ मनहीमन विचार यों कहने लगा—

मू०—अपर्य्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्य्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

पदच्छेदः—तत् (तथाभूतैर्वीरैर्युक्तमपि) भीष्माभिरक्षितम् (वयोवृद्धेन भीष्मेण रक्षितम्) अस्माकम् (इदमस्मदीयम्) बलम् (एकादशसंख्याकाक्षौहिणीपरिगणितम् सैन्यम्) अपर्य्याप्तम् (विपक्षसैन्यंप्रतियोद्धुमसमर्थम्) [परन्तु] भीमाभिरक्षितम् (अभिनववयस्केन बालवीरेण भीमेन परिपालितम्) इदम्, तु (निश्चयेन) एतेषाम् (पाण्डवानाम्) बलम् (सप्तसंख्याक्षौहिणीपरिमितंसैन्यम्) पर्य्याप्तम् (परेषांपरिभवे समर्थम्) ॥ १० ॥

पदार्थः—(तत्) वहजो शूरोंसे युक्त (भीष्माभिरक्षितम्) वृद्धभीष्मपितामहसे रक्षित (अस्माकम्) हमलोगोंका (बलम्) एकादश अक्षौहिणी कटक है सो(अपर्य्याप्तम्)शत्रुओंको जीतनेमें असमर्थ है, परन्तु(भीमाभिरक्षितम्) बालवीर भीमसे रक्षित यहजो (एतेषाम्) इन पाण्डवोंका (बलम्) केवल सप्त अक्षौहिणी कटकहै (इदंतु) यहतो (पर्य्याप्तम्) हम शत्रुओंको जीतलेनेमें समर्थ देखपडताहै। क्योंकि भीष्मतो वृद्धहोगयेहैं और भीम अभी गठेला ज्वानहै ॥१०॥

भावार्थः—प्रिय पाठको ! कुबुद्धि, कपट, लोभ, अन्याय और स्वार्थके आभूषणोंसे भूषित इस दुर्योधनने १८ अक्षौहिणी सेना कभी किसी रणमें इकट्ठी न देखीथी। इसकारण यहां इतनी बडी गंभीर सेना देख मारे भय और चिन्ताके बावलासा होगया और द्रोणाचार्य्य को सबका मुखिया जान अपनी ओर प्रसन्न करनेके तात्पर्य्यसे कभी

सीधी और कभी उलटी बातें करनेलगा । विचारकर देखनेसे इसका बावलापन प्रगट देखपडता है। देखो! अभी तो अपने सैन्यकी वीरताका डींग हांक रहा था और द्रोणाचार्य्यको अपना साहस दिखला रहाथा फिर अभी भट वहांहीसे पलट पडा और ऐसे विचारने लगा, कि "द्रोणाचार्य" मेरे कटककी स्तुति सुन ऐसा न कह वैठैं, कि "जब तुमने ११ अक्षौहिणी बलवती सेना एकत्र करली है तो पाण्डवोंकी केवल ७ अक्षौहिणी सेनाको जीतलेनेमें कौनसी कठिनताहै? इसकारण तुम मुझे, मेरे पुत्र 'अश्वत्थामा' और 'कृपाचार्य,' इन तीन ब्राह्मणोंकी जान छोडदो! तुमलोग दोनो मेरे शिष्य परस्पर युद्धकरो! हमलोग तुम्हारी युद्धकला देखकर प्रसन्न होवेंगे ।

एवम् प्रकार द्रोणाचार्यके मनमें संकल्पका उदय होना विचारकर कहनेलगा, कि जबतक आप तीनों महान् योद्धा, जिनके भय से अक्षौहिणी-की-अक्षौहिणी कांपरही है, मेरी सहायता न करेंगे, तबतक मेरी जीत कदापि न होगी। क्योंकि [अपर्य्याप्तम् तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्] हमलोगोंकी सेना यद्यपि ११ अक्षौहिणी बडे-बडे युद्धविशारदोंसे गठीहुई है, तथापि हमलोगोंकी सेना 'भीष्माचार्य्य'से रक्षित होनेके कारण 'अपर्य्याप्त' है, अर्थात् शत्रुकी सेना को जीत लेनेमें असमर्थहै । इससे शत्रुओंकी सेनाका जीतना कठिन जानपडता है । क्योंकि भीष्मपितामह अब वृद्ध होगयेहैं । यद्यपि इस समय भी उनके बलका परिमाण नहींहै तथापि वृद्धताही तोहै। काल और अवस्था तो अपना प्रभाव कुछ मनुष्यके शरीर पर दिखलातेही हैं । ऐसे समयमें हे आचार्य्य! आपही तीनों ब्रह्मर्षियोंका मुझे सहारा है ।

यदि आपलोग मेरी सहायता न करेंगे तो यह मेरी सेना निस्सन्देह अ-पर्य्याप्त अर्थात् असमर्थही है। क्योंकि [पर्य्याप्तंत्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्] इन पाण्डवोंकी सेना यद्यपि सातही अक्षौहिणी है तथापि भीमसे परिपालित होनेके कारण "पर्य्याप्त" है। अर्थात् हमारी अधिक संख्या वाली सेनाको जीत लेनेमें समर्थ है। क्योंकि भीम-सेन बहुत बडा बलवान है और ऐसा दृढहै, कि सुमेरु पर्वत टले तो टले पर इसका अपने प्रणसे टलना कठिन देखपडताहै। इसने प्रण कियाहै, कि—'गदासे मेरा जंघा तोड डालेगा और दुःशासनकी छाती फाड तीन चिल्लू रुधिर पानकरेगा'। सो हेदेव! इसका प्रण तबही टलसक्ताहै जब आप, कृपाचार्य्य और अश्वत्थामा, भीष्मपितामहके साथ मिलकर अपने बाणोंकी बौछाडोंसे इसे व्याकुलकर अटूट निद्रामें औंधमुंह सुलादेवें। आप तीनों वीरोंका ही मुझे सहारा है। आपलोगोंके बिना मेरी सेना तो अवश्यही 'अपर्य्याप्त' [असमर्थ] ही कहलावेगी।

यदि दुर्योधन बावला न समझा जावे, वरु जिसप्रकार अपने बलकी बडाई करता आताहै उसीप्रकार करता हुआ समझा जावे, तो यहां "अपर्य्याप्त" शब्दका अर्थ अपरिमित और अनिवार्य्य करना चाहिये। अर्थात् दुर्योधन अपने दलके वीरोंकी स्तुति करताहुआ यों कहताहै, कि हे आचार्य्य! आप उत्साहपूर्वक युद्धकरें। क्योंकि हमारीसेना जो भीष्म ऐसे बुद्धिमान विचारवान और दिग्विजयी वीरसे भलीभांति रक्षित है वह बलमें अपरिमितहै। अर्थात् मेरे कटकमें आप, भीष्म, कृपाचार्य्य, अश्वत्थामा और कर्ण इत्यादि ऐसे-ऐसे वीर हैं, जिनके जोडका एक भी वीर पाण्डवोंके दलमें नहीं है। यदि इनकी युद्धशक्तियोंको एक

संग मिलादें तो सब मिलकर अपर्य्याप्त अर्थात् अपरिमित और अनिवार्य्य बल होजाता है। पाण्डवोंके दलमें कोई ऐसा वीर नहीं है जो इनके बलको अपनी भुजाके बलसे रोक सके। जिस समय ये मेरे वीर युद्धमें कोपेंगे उस समय पाण्डव दलमें भभरिभगान लग जावेगी। इसलिये मैं इस अपने दलको अपर्य्याप्त अर्थात् अनिवार्य्य कहता हूं।

इसके प्रतिकूल पाण्डवों का दलजो भीम ऐसे चंचल बुद्धिवाले नवयुवक से रक्षित हैं वह **पर्य्याप्त** है अर्थात् परिमित है और निवार्य्य है। क्योंकि एकतो सातही अक्षौहिणी है। इतनी थोड़ी संख्यावाली सेना मेरी ग्यारह अक्षौहिणी वाली सेनाको क्या करसक्ती है? भीम चपल स्वभाव है और घोर क्रोधी है, इसकारण उसमें जितना बल है वह सब निरर्थक है। क्योंकि अधिक क्रोधके समय शरीरमें बल नहीं रहता। इसलिये इसके हाथमें दीहुई सेनाकी शक्तिको **पर्य्याप्त** अर्थात् थोड़ी कहनी चाहिये, जिसकी शक्तिका निवारण मेरे दलका एक साधारण वीरभी कर सकता है।

इस दूसरे अर्थमें कई भाष्यकारोंकी सम्मति है-तहां *आनन्दगिरि और, मधुसूदन * इत्यादि भाष्यकारोंको यह दूसरा अर्थ स्वीकार

---

* आनन्दगिरिः— अथवा तदिदमस्माकं बल भीष्माधिष्ठिनमपर्य्याप्तमपरिमितमधृष्य मक्षोभ्यम्। एतेषां तु पांडवःनां बल भीमेनरक्षितं पर्य्याप्तम्। परिमितम् सोढु शक्यमित्यर्थ.।

* मधुसूदनः—अपर्य्याप्तमनन्तमेकादशाक्षौहिणीपरिमितं भीष्मेण च प्रथितमहिम्ना सूक्ष्मबुद्धिनाभितः सर्वतो रक्षितं तत्तादृशगुणवत्पुरुषाधिष्ठितमस्माक बलम। एतेषां पांडवानां बलं तु पर्य्याप्तं परिमितं सप्ताक्षौहणीमात्रात्मकत्वान्न्यून भीमेनचाति चपलबुद्धिना रक्षितम्, तस्मादस्माकमेव विजयो भविष्यतीत्यभिप्रायः।

है। पर भाष्यकार नीलकण्ठने+ तो अपर्य्याप्त और पर्य्याप्त शब्दोंका एक तीसराही अर्थ करदिया है। अर्थात् पर्याप्त शब्दका "परित आप्तम् ऐसे करके परिवेष्टन (घेरलेना) अर्थ कियाहै। तब दुर्योधनके कहनेका यह अभिप्राय होगा, कि हे आचार्य्य! हमलोगों की सेना ११ अक्षौहिणी होने के कारण पाण्डवोंकी सेना से अपर्याप्त है; अर्थात् घेरी नहीं जासकती और पाण्डवोंकी सेना पर्य्याप्त है; अर्थात् सातही अक्षौहिणी होनेसे भली भांति घेरी जासकती है। इस कारण अवश्य हमलोगोंकी जीत होगी ॥ १० ॥

अब बावला, भयभीत तथा चंचलचित्त दुर्योधन फिर अपने मनमे यों विचारने लगा, कि आचार्य्य ऐसा न कहपडें, कि जब तू सर्वप्रकार बलवान है ही, तो फिर मेरे पास आकर निरर्थक टेढी सीधी बातें बना क्यों बहुत प्रकार जल्पना कररहा है ? जितना समय तूने मिथ्या बात करनेमें मेरे साथ गंवाया है, इतने समय को यदि व्यूहोंकी रचनामें लगादेता तो अति उत्तम था। ऐसा विचार द्रोणाचार्य्यकी इस प्रकारकी शंकाको दूर करनेके लिये फिर कहता है—

+ नीलकण्ठ —पाण्डव सैन्यं हि सप्ताक्षौहिणीमितत्वादल्पं बहुनैकादशाक्षौहिणीमितेनास्मत्सैन्येन वेष्टयितुं शक्यम् नतु तदीयेनास्मदीयमित्यर्थः । एवं च पर्याप्तमित्यस्य पारणीयमित्यर्थः ।

मू०—अयनेषु च सर्व्वेषु यथा भागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व्व एव हि॥ ११॥

पदच्छेदः— हि (निश्चयेन् भीष्मबलेनैव अस्माकं जीवनं भविष्यति तस्मात् कारणात्) **भवन्तः** (यूयम्। भवानश्वत्थामाकृपादयः) **सर्व्वे** (सकलाः) एव (निश्चयेन) **सर्व्वेषु** (सकलेषु) च,* **अयनेषु** (संग्रामारंभकाले योद्धानां यथा प्रधानं संख्ये पूर्वपरादि विभागेन नियतेष्ववस्थितिस्थानेषु) **यथाभागम्** (विभागेन प्राप्तं स्वस्थानम्) **अवस्थिताः** (दीर्घकालपर्य्यन्तमस्थिताः। युद्धपर्य्यन्तमवस्थिताः।) **भीष्मम्** (वृद्धपितामहम) **एव*** (निश्चयेन) **अभिरक्षन्तु** (सावधानतया सम्यक्प्रकारेण चतुर्षु दिक्षु रक्षन्तु) ॥ ११॥

पदार्थः—दुर्योधन आचार्य्य से कहता है कि (हि) निश्चयकर भीष्म की ही वीरतासे हमलोगोंकी रक्षा है, इसकारण हे देव! (**भवन्तः**) आप, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कर्ण इत्यादि जितने वीर हैं (**सर्व्वे**) सबके सब (**एव**) अवश्यही (**सर्व्वेषु च**) चारों ओर सम्पूर्ण (**अयनेषु**) अयनोमें अर्थात् अपने-अपने नियत स्थानमें (यथा-

---

* 'च' कर्त्तव्यविशेषोद्यतनार्थम् अर्थात् 'च'कहनेसे दुर्योधन मानो आचार्यको अपना विशेष प्रयोजन दिखलाता है।

* एव, व्य, (अयनमिति। इण् + " इणशीभ्यां वन् "। १५०। उणादिः वन्।) अवधारणम्। यथा—त्वमेव जानासि। तत्पर्य्यायः। १ एवम्। २तु। ३ पुनः। ४ वा। इत्यमरः॥ ५ व। ६ च। इति सुभूति ॥ सादृश्यम्। इति भरत ॥ नियोगः। वाक्यपूरणम्। चारनियोगः। विनिग्रहः। इति मेदिनी॥ (अनियोगः यथा " अद्यैव " इति मुग्धबोध व्याकरणम् ॥) एवकारस्त्रिविधः—विशेष्यसंगतः। विशेषणसंगत.। क्रियासगतश्चेति।

भागम्) जहां जहां जौन-जौन जिसके-जिसके लिये सेनाके विभाग द्वारा नियत कियागया है (अवस्थिताः) युद्धपर्य्यन्त बराबर चारों ओर से खडे हुए (भीष्मम्) भीष्म ही को (एव) निश्चय कर (अभिरक्षन्तु) बडी सावधानता से सुरक्षित रक्खें। ऐसा न हो, कि व्यूहके किसी द्वार होकर शत्रु घुस जावे और उनको घेर लेवे ॥ ११ ॥

भावार्थः— द्रोणाचार्य्य ऐसा न समझें, कि दुर्योधन कटक की गंभीरता देख भयभीत होकर घबडाता हुआ मेरे समीप आकर निरर्थक जल्पना कररहा है, इसलिये यह अपने आनेका विशेष प्रयोजन दिखलाता हुआ तथा राजा कहलाकर भयभीत होनेका अपवाद मिटाता हुआ कहता है, कि [**अयनेषु च सर्व्वेषु यथा भागमवस्थिताः**] इस मेरे दलमें जितने अयन+ हैं उन सब अयनों में हमारी एकादश अक्षौहिणी सेनाके जितने नायक हैं, वे यथा विभाग अपने- अपने स्थान पर कवच, सन्नाह तथा अन्यान्य प्रकार के शस्त्र और अस्त्रों से सुसज्जित होकर [**भीष्ममेवाभिरक्षन्तु**] भीष्म ही की सब ओर से रक्षा करते रहें। क्योंकि भीष्म ही हमलोंगोके दलके मुख्य नायक हैं। सारा कटक इनहीके अधीन है। ये जिससमय अपने शंख के गंभीर नाद द्वारा जिस वीर को जिस ओर मुख करके शस्त्रप्रहार करनेकी आज्ञा देवेंगे उसी ओर सेनाके वीर एक वारगी झुक पडेंगे।

+ अयन— युद्धके आरम्भसे पहले सर्वप्रकार के शस्त्र अस्त्रोंसे सुसज्जित वीरोंकी स्थिति के लिये जो पूरव, पश्चिम, उत्तर, और दक्षिणकी ओर यथाभाग स्थान नियत कियाजाता है उसे 'अयन' कहते है।

इससे हे आचार्य्य! यह तो निश्चय है, कि उनकी हारसे हार और उनही की जीत से हमारी जीत है। वे कौन-कौन वीर हैं। जो उनकी रक्षा करेंगे सो सुनिये! [भवन्तः सर्वे एव हि] सबसे प्रथम तो जीवनाधार आप हैं, हमारे रक्षक कृपाचार्य हैं, मेरे परम मित्र अश्वत्थामा और कर्ण हैं। इनसे इतर जो शल्य, कृतवर्मा, जयद्रथ, दुःशासन और भूरिश्रवा इत्यादि वीर हैं वे सबके सब निश्चयरूपसे उनहीकी रक्षा करें। क्योंकि यही भीष्म इस रणभूमिमें विशेषकर हमारे जीवनके कारण हैं॥ दूसरी बात यह है, कि वे बडे दयावान हैं। ऐसा नहो, कि पाण्डवों पर दयाकर उनकी ओर चले जावें अथवा रण छोड चुप बैठ रहें। हे आचार्य्य! मैं इसी अभिलाषा से आपके शरण आयाथा अब अपने दलमें जाता हूं।

शंका— भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य्य, और कृपाचार्य्य ये तो बडे महान्, धार्म्मिक सज्जनोंके पक्षपाती, पुण्यात्माओंके परम आश्रय तथा बुद्धि, शील, करुणा, दया इत्यादि शुभगुणोंके सागर थे। फिर अब कौनसा विशेष कारण होगया, कि ये महापुरुष होकर पाण्डव ऐसे सज्जनोंको त्याग अन्यायी औ आततायी दुर्योधनके पक्षमें हुए?

समाधान— इन महानुभावोंको दुर्योधनके पक्ष लेनेका विशेष कारण यह हुआ, कि ये सबके सब "सफलीकृतभर्तृपिण्ड" (नमक हलाल) थे। जिसके पिण्ड (नमक) को खाकर जो सफलीभूत करे; अर्थात् समय पडने पर जान तक अर्पण करदे, उसीको सफलीकृतभर्तृपिण्ड (नमक हलाल) कहते हैं।

जबसे पाण्डव द्यूतमें अपना राज्य हार गये तबसे सम्पूर्ण राज्यकी भूमि, कोश, अन्न, जल, वस्त्रादि सब पर दुर्योधनका अधिकार होगया। राज्यका अन्न जल ग्रहण करतेहुए, उसके द्वारपालोंकी रक्षामें उसकी भूमि पर शयन करतेहुए और उसके देश का वस्त्रादि पहनते हुए, यदि युधिष्ठिरकी ओर होते तो 'असफलीकृतभर्तृपिण्ड' (नमक हराम) कहलाते।

इसलिये सच्चे 'सफलीकृतभर्तृपिण्ड' होनेके परम उत्तम आदर्श हो, संसारको सफलीकृतभर्तृपिण्ड होजानेकी शिक्षा देतेहुए, दुर्योधनकी ओर रणमें निःशंक प्रवेश करगये और जान देदी। यहां तनक भी शंका मत करो!

बहुतेरे साधारण बुद्धिवाले मनुष्य यों कह पडते हैं, कि पापी दुर्योधन का अन्न भोजन करनेसे इनकी बुद्धि भ्रष्ट होगयी थी, इसलिये दुर्योधनकी ओर होगये, पर ऐसा कहना मूर्खता है। गो० स्वा० तुलसीदासजी का वचन है कि "कबहूं कि कांजी सीकरणि क्षीरसिन्धु विनशाय' क्या खटाईकी छोटी-छोटी बूंदोंसे क्षीर समुद्र भी फट सकता है? कदापि नहीं! क्या इन महानुभावों का अथाह बुद्धिरूप सागर दुर्योधनके तुच्छ अन्नरूप खटाईसे फट सकता था? कदापि नहीं॥ ११॥

अब धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा, कि दुर्योधनके इतना वचन कहने पर क्या हुआ? समझाकर कहो! तहां संजय अन्धराज के प्रति कहता है—

मू०—तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

पदच्छेदः— प्रतापवान् (स्मृतिमात्रेण रिपुहृदयविदारणक्षमः । *कोषदण्डजतेजः तद्वान्) कुरुवृद्धः (वर्त्तमान कुरुकुलोद्भवानां मध्ये वृद्धः गतयौवनः) पितामहः (पितृपितृव्यः । कौरवपाण्डवानां जनकस्य जनकः) तस्य (राज्ञो दुर्योधनस्य) हर्षम् (वृद्धिगतमुल्लासविशेषम् । विजयसूचकं युद्धोत्साहम) संजनयन् (उत्पादयन्) सिंहनादम् (केशरीनादम् । द्विरदान्तक इव शब्दम् । मृगेन्द्रनादम् । अतिगमुलान्तम्) विनद्य (महारवेण शब्दायमानं कृत्वा) उच्चैः (महान् घोषैः । तुमुलरवैः ।) शंखम् (कम्बोजम् । अरणोद्भवम्) दध्मौ (वादितवान् । आपूरितवान्) ॥ १२ ॥

पदार्थः—(प्रतापवान) बड़े प्रतापी तेजस्वी (कुरुवृद्धः) कुरुओंके वृद्ध (पितामहः) पितामह श्रीभीष्मदेव (तस्य) दुर्य्योधनके हृदय में (हर्षम्) हर्षको (संजनयन्) उत्पन्न करते हुए (सिंहनादम्) सिंहके समान परम गंभीर नादको (विनद्य) ललकारा द्वारा रणमें सर्वत्र फैलाते हुए (उच्चैः) बड़े ऊंचे स्वरसे (शंखम्) रणके आरम्भसूचक शंखको (दध्मुः) वजाते भये ॥ १२ ॥

भावार्थः—संजय ने धृतराष्ट्रसे कहा, कि दुर्योधन ने आचार्य्य के पास जा, युद्धका समय जान, वीरोंकी गणना करवा, सब वीरोंको अपने-अपने नियत स्थान पर स्थिर कर, भीष्मपितामहकी चा-

*'कोशदण्डजतेजः',कोषः, धनम्, दण्डं', दम , तद्धेतुत्वात् सैन्यमपि ताभ्या यत्तेजो जायते स ।

रों ओर से रक्षा करनेकी आज्ञा दे, झट रणभूमिमें पैठ गया। एवम् प्रकार रणभूमिमें घुसतेही क्या देखा, कि [तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः] उसके हृदयमें विजय प्राप्त करने वाले युद्धोत्साहका परम आनन्द उपजाते हुए कौरवोंके वृद्धपितामह भीष्मने [सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखम् दध्मौ प्रतापवान्] वडे ऊंचे गंभीर नादसे, सिंहके समान गरजते हुए तथा सम्पूर्ण रणभूमिको एकही ललकारसे कंपायमान करतेहुए बडे ऊंचे स्वरसे युद्धारंभका सूचन करनेवाला शंख बजादिया क्योंकि यह वडे प्रतापवान हैं।

शंका—जो भीष्म पितामह पहले परस्पर संधि करवानेके पीछे पडे हुए थे, अब रणभूमिमें आकर सबसे पहले शंख क्यों बजादिया? ऐसे शंख बजादेने से युद्ध आरंभ करनेके प्रथम कारण तो यही कहे जावेंगे। ऐसा क्यों किया?

समाधान—इस भीषण युद्धमें वीरोंके अग्रगण्य यही भीष्म थे। इनकी गणना अतिरथियोंमें है। इसकारण युद्ध आरंभ करना इनही पर निर्भर था॥

यदि यह कहो, कि इनसे भी बलवान द्रोणाचार्य्य थे। इसलिये उनको रणका आरंभ करना चहिये था, फिर भीष्मने ऐसा क्यों किया? तो उत्तर यह है, कि यह क्षत्रियोंका युद्ध था। इसलिये ब्राह्मणका युद्ध आरंभ करना अयोग्य होता। क्षत्रियोंके रणमें किसी कारण उपस्थित होने पर भी द्रोणका अधिकार युद्ध आरंभ करनेका नहीं था। प्रथम शंख बजानेका दूसरा कारण यह है, कि भीष्म गुप्त दूत द्वारा दुर्योधनका

भयभीत होकर आचार्य्यके शरण जानेका समाचार जानगये थे । इसका रण दुर्योधनको निर्भय करनेके तात्पर्य्यसे ऊंचे स्वरसे ललकारा दे शंख बजा उसके हृदयमें वीररस जगादिया। तीसरा कारण यह है, कि पहले विराट नगरके युद्धमें यह दुर्योधन और उसके सहायक वीरगण पाण्डवोंके वल और पराक्रमको देखचुके थे, इसलिये सवके सव पाण्डवोंसे भयभीत होरहे थे, जिनमें वहुतेरे रण छोड़ भागजाना चाहतेथे, तिन सवोंको निर्भय कर स्थिर करदेनेके तात्पर्य्यसे सबसे प्रथम शंखवजादिया ।

इनहीं अभिप्रायोंको धृतराष्ट्र के प्रति प्रगट करदेनेके तात्पर्य्यसे संजयने यहां तीन शब्द उच्चारण कर भीष्म की स्तुति की है। १ कुरुवृद्धः। २ पितामहः। ३ प्रतापवान्। तहां "कुरुवृद्धः" कहकर यह जनाया,कि यह भीष्म कुरुओंमें इससमय वृद्ध हैं और वृद्धोंका स्वभाव होता है, कि अपने वालबच्चोंको आनन्द करनेके तात्पर्य्य से प्रत्येक काज में अग्रसर हुआ करतेहैं । इसी कारण युद्ध आरम्भकी सूचना देनेके तात्पर्य्यसे सवसे प्रथम शंख वजादिया ।

फिर "पितामह" कहकर यह जनाया, किकोइ पितामह अपने वच्चोंकी उपेक्षा कभी नहीं करता। इसलिये दुर्योधनको अन्यायी, कुटिल, कपटी, और निर्वुद्धि जानकरभी भीष्म उसकी उपेक्षा न कर सके।

फिर प्रतापवान् कहकर यह जनाया, कि इनके गरजनसे तथा ललकार देकर शंखनाद करनेसे वीरोंमें खलबली पडगयी ।जो जहां थे वहां ही चौंक पडे। इनकी ललकार शंखकी ध्वनिके साथ मिलकर ऐसे गुंज उठी मानों प्रलय कालकी घनघोर घटा गरज रही हो ॥ १२ ॥

अब संजय कहता है, कि हे राजन्!भीष्मके शंख फूकनेके साथही

रणभूमिमें कैसी अद्भुत लीला हुई? सो सुनो !

मू०—ततः शंखाश्च भेर्य्यश्च पणवानकगोमुखाः।

सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

पदच्छेदः—ततः (भीष्मशंखशब्दश्रवणानन्तरम्) शंखाः (अर्णोद्भवाः। प्रसिद्ध वाद्यविशेषाः। अन्तः कुटिलाः) च (तथा) भेर्य्यः (बृहड्ढक्काः) च (तथा) पणवानकगोमुखाः (पटहमृदंगरणसिंहाख्य वाद्य विशेषाः) सहसा (तत्क्षणम्। झटिति एकसंगः पूर्णवेगेन) एव, अभ्यहन्यन्त (वादिताः। अभिहताः) स शब्दः (भीष्मशंखशब्दः) तुमुलः (महानघोषः। महान् रणत्कारः। निनादपूरित कलकलव्याप्त महद्ध्वनिः) अभवत् (जातः) ॥ १३ ॥

पदार्थः—(ततः) भीष्मपितामहके शंख फूंकनेके साथही (शंखाः) अन्य सब वीरोंके शंख (च) और (भेर्य्यः) भेरियां अर्थात् बडे ढक्के (च) और (पणवानकगोमुखाः) पणव जो पटहा, फिर आनक जो बडे-बडे नगाडे तथा गोमुखाः जो बडे-बडे रणसिंहे (सहसाएव) सबकेसब एकबार बडे वेगसे (अभ्यहन्यन्त) बजते भये, जिनके संग मिलकर (सः) सो जो बडा घोर (शब्दः) पहले बजायाहुआ भीष्मके शंखका शब्द था (तुमुलः) बहुत भयंकर कोलाहलका स्वरूप (अभवत्) होगया ॥ १३ ॥

भावार्थः—संजय धृतराष्ट्रसे कहताहै, कि हे राजन्! भीष्मपितामहके शंख बजादेनेसे कौरवोंके रणमें आयेहुए देश-देशके नरेशोंके हृदय कंपायमान होगये। उनको निश्चय होगया कि अब युद्ध न रुका, अबतो प्राणदेनाही पडेगा।

फिर तो मत पूछो! [ततः शंखाश्च भेर्य्यश्च पणवानकगोमुखाः] भीष्मके शंखकी ध्वनि सुनते ही न जाने कितने गंभीर नादवाले जुझाऊ वाजे जैसे शंख, भेरी, (वडा ढक्का) पणव, पटहा बाजा, आनक, बडे—बडे (नगाडे) गोमुख (रणसिंहे) इत्यादि जिनके बजाये जानेसे वीरोंमें वीररस भर आता है, और मतवालेके समान हो झूमते हुए शस्त्रोंको एकाएक सीधाकर शत्रुदलमें पिलपड़ते हैं, दायें बायें कुछ भी न देखकर सीधा शस्त्र की ओर मुख करलेते हैं, (सहसैवाभ्यहन्यन्त) बडी शीघ्रताके साथ एक संग बज पडे। तात्पर्य यह, कि कौरव दलके वीरोंने एक ही कालमें अपने शंख इत्यादि सब जुझाऊ वाजे पूर्ण वलके साथ झट बजाही तो दिये। किसीने किसी प्रकार की शंका न की।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि सारे कौरव दलके वीरोंने मानों पाण्डवोंको युद्ध करने के लिये ललकार देदी। नगाडे इत्यादि वाजाओंकी ध्वनिके साथ इनकी ललकारों के शब्द मिलने से [स शब्दस्तुमुलोऽभवत] वह जो भीष्मके शंख की ध्वनि थी, इतनी अधिक बढी, कि दशों दिशाओंमें कोलाहल मचगया। जिसे सुनकर बडे—बडे योद्धाओं को प्रलयकालसा जानपड़ा इनमें जो अधिक डरपोक थे उनके तो खडे—खडे प्राण निकलगये। कितने मारे भयके औंधे मुंह गिर पडे। कितनोंका मुंह सूखगया। कलेजा धड़कने लगगया। जैसे वादलसे ह्रादुनी (ठनका) गिरते समय घोर गरज सुनकर लोग कानोंमें उंगलियां डाल लेते हैं। इसी प्रकार

कई वीरोंने तो कान बन्द करलिये और कितनों के कान बहेर हो गये। कितने वीर तो दायें बायें देखने लगगये, कि किसी ओर मार्ग पाऊं तो झट निकल भागूं। कितनोंके दांत वैठगये। कितने शस्त्र फेंक-फेंक कर जान लेकर भाग गये। पर पराडवोंके हृदयमें इन भयंकर शब्दों से तनकभी भय न हुआ। वरु वीर रस एका-एक ऐसा जग-पड़ा, कि अपने शस्त्रोंको उठा कौरव दलकी ओर लाल-लाल आंखें कर इस प्रकार देखते हुए अपनी युद्ध-कला दिखानेको तत्पर हो गये जैसे मृगेन्द्र कोपकर हाथियोंके दलकी ओर देखता हुआ उनके नि-गल जानेकी चेष्टा करता है। ये यदि चाहते तो कौरव दलके वीरोंको चण मात्रमें छिन्न भिन्न करदेते, पर कुशल इतनाही था कि अर्जुन का रथ आगे न वढ़ाथा ॥ १३ ॥

इस प्रकार कौरवदल में युद्ध आरंभ करनेके शंखों का शब्द सुन पाराडव दल के वीर निर्भय हो अपना—अपना शंख किस प्रकार बजाने लगगये। सो संजय धृतराष्ट्र से कहता है--

---

टिप्पणी—इस श्लोकमें जो भेरी, पणव, आनक, गोमुख इत्यादि रणमें उत्साह बढाने वाले बाजाओं के नाम लिये गये हैं ये सब पूर्वकालमें युद्धके समय वजाये जातेथे, पर अब उन बाजाओं का अभाव होगया और उनका स्वरूप बदलकर दूसरे-दूसरे नामों से प्रसिद्ध हुआ—जैसे भेरी का अर्थ कोषकारोंने वृहड्ढका अर्थात् बडा नगाड़ा अथवा मृदग किया है। पणव का अर्थ छोटा ढक्का (डमरू) किया है। गोमुख का अर्थ रण-सिंहा किया है, जिसे इन दिनों बिगुल (Bugle) के नाम से पुकारते हैं। इनसे इतर झरझर मर्द्दल, काहलज, (बडा ढोल) ये भी बाजाओं के ही नाम हैं, ठेठ हिन्दी भाषामें मर्द्दल को मांदल और मानर भी कहते है--"मृदगानकशंखानाम्मर्द्दलानांचनिःस्वनैः। महाभा० ८।४४।१६।

मू०—ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

पदच्छेदः—ततः (भीष्मशंखादिवाद्यश्रवणानन्तरम् । तुमुलशब्दानन्तरम्) श्वेतैः (शुभ्रैः । शुक्लवर्णैः) हयैः (अश्वैः) युक्ते (संयुक्ते । सम्मिलिते) महति (श्रेष्ठे। अग्निदत्तेऽप्रहृष्ये) स्यन्दने (रथे) स्थितौ (व्यवस्थितौ । आसनमलंकृतौ) माधवः (मायाः लक्ष्म्याः धवः पतिः श्रीकृष्णः) च (तथा) पाण्डवः (पाण्डोः पुत्रोऽर्जुनः) एव (निश्चयेन) दिव्यौ (दीप्तिमन्तौ । अप्राकृतौ) शंखौ (अरणो ऋवौ) प्रदध्मतुः (प्रकर्षेण वादयामासतुः। पूरितवन्तौ ।) ॥१४॥

पदार्थः-(ततः) भीष्म इत्यादि के शंख तथा बाजाओंके बजने के पश्चात् (श्वेतैः) उजले रंगके(हयैः) चार घोडोंसे जुरे हुए(महति) वहुत बडे उत्तम(स्यन्दने) रथमें (स्थितौ) बैठे हुए (माधवः) श्रीकृष्णचन्द्र (च) और (पाण्डवः) अर्जुन दोनों (एव) निश्चय करके (दिव्यौ) अलौकिक दिव्य (शंखौ) दो शंखों को (प्रदध्मतुः) विलग-विलग बजाते भये ॥१४॥

भावार्थः--अहा ! इसी श्लोकको इस गीता ग्रन्थके मंगलका श्लोक कहना चाहिये । क्योंकि जो मंगलका श्लोक होता है उसीमें ग्रन्थकार उस जगदाधार सर्वगुणसागर श्री सच्चिदानन्द आनन्दकन्द कृष्णचन्द का पवित्र नाम अंकित करता है । इस गीता के आरंभमें कोई मंगलका श्लोक न रहनेसे इसी श्लोक को मांगलिक श्लोक कहना चाहिये । क्योंकि यहां ही से श्यामसुन्दर का नाम अंकित होता है ।

यहांही से इस ग्रन्थमें पवित्रता आरंभ होती है। यहांही से ग्रन्थकार का परिश्रम सफल होना आरंभ होता है। यहांही लेखनी परमानन्दमें मग्न हो जाती है। यहांहीसे इस ग्रन्थकी टीका करने में टीकाकारों का उत्साह दूना और चौगुना बढना आरंभ होजाता है। अस्तु'

दूसरी बात यह है, कि भगवान् सदासे दीनबन्धु कहलाते आये है। क्योंकि दीनोंकी सहायता करनी तो आपका स्वाभविक गुण है। इस युद्धमें पाण्डव वेचारे राजहीन होजानेके कारण अति दीन दुखिओंके समान बहुत निराश्रय होरहे थे, उनपर भगवान्ने इस समय अपनी दीनबन्धुताका परिचय किसप्रकार दिया है? सो सुनिये!

जिससमय दोनो ओर वाले युद्धमें सहायताकेलिये अपने अपने हितैषियों को निमन्त्रण देरहे थे, उस समय अर्जुन और दुर्योधन दोनों श्रीकृष्णचन्द के समीप सहायता मांगने के लिये पहुँचे। उस समय श्यामसुन्दर शयनमें थे। अर्जुन तो हाथबांधे पैताने खडारहा और दुर्योधन राज्यके अहंकार और मदसे फूला हुआ आपके मस्तक की ओर एक मंच पर जाबैठा। सोने वाला जब नींदसे जागता है तो पहले पैताने की ओर झुकता है और देखता है। इसकारण श्रीकृष्णभगवान् जगते ही पैताने की ओर अर्जुनको खडा देखा और बातें करने लगे। अर्जुनने जब युद्धमें सहायता की अभिलाषा प्रकट की तो झट भगवानने कहदिया, कि हां! हम तुम्हारी सहायता करेंगे। पश्चात् पीठकी ओर दुर्योधनको बैठे देख बोले आहा! आपभी आगये। कहिये! क्या प्रयोजन है? उसनेभी सहायता मांगी। आनन्दकन्द ने कहा "भाई तुम दोनों मेरे लिये एक समान हो। इसकाकारण मैं अपनी सहायता को

दोभागों में बांट देता हूं। एकमें तो मेरी एक अर्बुद नारायणी सेना और दूसरेमें मैं अकेला। आप दोनों अपनी इच्छानुसार परस्पर बांटलें। सुनतेही अर्जुन बोलउठा। भगवन्! आप अकेले मेरी सहायता करें। मैं अकेले आपको ही चहाता हूं। मुझे सेना की आवश्यकता नहीं है। दुर्योधन ने विचारा, कि चलो अच्छा हुआ। एक अर्बुद सेनासे तो मैं बहुत काम लूंगा। अकेला इनको लेकर मैं क्या करूंगा? ऐसा विचार सेनाकी सहायता स्वीकार करली और चलागया। इधर श्री आनन्दकन्द व्रजचन्दने अर्जुनका रथवान होना स्वीकार कर लिया। क्या इससे भगवान् की दीनबन्धुता प्रकट नहीं होती? अवश्य होती है।

अब संजय राजा धृतराष्ट्रसे कहता है, कि जब कौरवोंकी ओरसे युद्ध करनेकी ललकारकी ध्वनि रणभूमिमें व्यापगयी तब [ततःश्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ] माधव * और पाण्डव दोनों श्वेतरंग के चार घोडोंसे जुरे हुए वहुत वडे अग्निदत्त नामक रथके ऊपर दमकते हुए ऐसे देखपडे मानो दो दिनकर अपने प्रकाशसे रणभूमिको प्रकाशमान कर रहे हों।

शंका—इन दोनों दलोंमें जितने नरेश आये हैं सवों के पास अपना-अपना रथ है। सवोंने रथपर ही स्थित होकर शंख बजाया है, फिर क्या कारण है? कि संजयने औरोंके रथका नाम न लेकर केवल **महति स्यन्दन** कह कर अर्जुन केही रथका नाम लेकर स्तुतिकी?

समाधान--इस अर्जुनके रथकी स्तुति करने और नामलेनेके अनेक कारण हैं। सुनो! प्रथम तो यह, कि सम्पूर्ण रणभूमिमें ऐसा

* "मा" कहिये माया वा लक्ष्मीको और "धव" कहिये पतिको इसलिये लक्ष्मीके पति श्रीकृष्णचन्द "माधव" कहलाते हैं।

विशाल रथ एकभी न था। दूसरा यह, कि यह रथ अग्निदेवने न जाने किस दिव्यलोकसे लेआकर अर्जुनको दिया था। तीसरा यह, कि इस रथके ऊपर श्री हनुमानजी जो शिवस्वरूप हैं स्वयं विराजमान थे। चौथा यह, कि इस रथके ऊपर साक्षात् परब्रह्म जगदीश्वर चार घोडोंके वागों को ग्रहण किये मानो अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों फलों को हाथोंमें लिये सारथि बने वैठे थे। फिर जिस रथका सारथि साक्षात् श्री सच्चिदानन्द हों उस रथकी स्तुति क्योंन कीजावे ? इनही कारणोंसे संजयने नामलेकर इसकी स्तुति की। शंका मतकरो !

उक्त रथके साथ-साथ अग्निदेवने अर्जुनको 'अक्षायतूणीर' और 'गांडीवधनुष' भी लादिया था। अक्षयतूणीर उस तरकशको कहते हैं, जिसके वाण कभी क्षय नहों। यदि एक सहस्र वाण भी उससे निकलकर शत्रुदलमें जापडें तबभी वह तूणीर पूर्ववत् भराभराया देखपडे। इसी कारण इसका नाम अक्षयतूणीर था। इसीके साथ-साथ अग्निदेवने श्यामसुन्दर श्री कृष्णचन्द कोभी 'सुदर्शनचक्र' लाकर दिया था। दोनों सखाओंको रथ, तूणीर, धनुष और चक्र लाकर क्योंदिया था ? इसका कारण यह था, कि खाण्डववन जलाकर भरपेट भोजन करानेमें कृष्ण और अर्जुनने अग्निदेवकी बडी सहायता की थी। संजय कहता है, कि ऐसे दिव्य रथके ऊपर चढे हुए [माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः] माधव और पाण्डवने अपना-अपना दिव्य शंख फूंकदिया। सच है! ऐसा कब संभव था, कि कौरवदल युद्धकी ललकार देवे और माधव चुप वैठ रहें। इसलिये माधव और अर्जुन दोनोंने शंख बजाकर शत्रुदलको यों उत्तर दिया, कि हमलोग भी तुमसे आनन्दपूर्वक युद्ध करनेको अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित हैं ॥१४॥

किस शंख को किसने फूंका ? सो सुनो ।

मू०-पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोकदरः ॥
अनन्त-विजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १५ ॥ १६ ॥

पदच्छेदः--हृषीकेशः (सर्वेषां हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशः । सर्वेन्द्रिय प्रवर्त्तकत्वादीशत्वं विद्यते यस्मिन् सः । इन्द्रियाणि यद्वशे वर्त्तन्ते स परमात्मा । हृष्टा जगत्प्रीतिकराः केशारश्मयोऽस्य हृषीकेशः) **पांचजन्यम्** (पञ्चजनो नाम दैत्यः समुद्रे तिमिरूप आसीत् तदस्थिजन्यम् शंखम्) **धनंजयः** (दिग्विजये सर्वानरीन् जीत्वा धनमर्ज्जतीति यः । धनमाहृतवान् वा) **देवदत्तम्** (देवेनाग्निनादत्तः तम देवदत्तनामानं शंखम्) **भीमकर्मा** (हिडम्बवधे अतिरौद्रे भयंकराणि तथा दुःशासनरक्तपानादि कर्माणि यस्य सः) **वृकोदरः** (वृकवदुदरं यस्य सः । वृकनामाग्नि उदरे यस्य सः । बहवन्नपाकादतिश्लिष्टः । यस्योदरस्य वृकाग्निना मनुष्यरक्तमपि जीर्णं भविष्यतीति वृकोदरः) **महाशंखम्** (महान् नादो विद्यते यस्मिन् शंखे तम्) **पौण्ड्रम्** (शंख विशेषम्) **कुन्तीपुत्रः** (कुन्तीगर्भाज्जातः) **राजा** (नृपः । प्रजाःरंजयतीति यः ।) **युधिष्ठरः** (युद्धेसर्वानरीन् जीत्वा स्थिरोभवति यः स पाण्डोः ज्येष्ठपुत्रः । धर्म्मराजः) **अनन्तविजयम्** (अनन्ताः विजयाः यस्मात् तं शंखम) **दध्मौ** (वादयामास) [तथा] **नकुलः** (माद्रीगर्भाज्जातः पाण्डुपुत्रः) **च** (तथा) **सहदेवः** (नकुलस्य सहोदरः) **सुघोषमणिपुष्पकौ** (सुघोषश्च

मणिपुष्पकश्च द्वौ शंखौ) दध्मतुः (वादयामासतुः) ॥१५॥१६॥

पदार्थः—(हृषीकेशः) सर्व इन्द्रियोंके प्रेरक ईश अन्तर्यामी श्रीकृष्णने (पांचजन्यम्) पांचजन्य नामक शंखको (धनंजयः) अर्जुनने (देवदत्तम्) देवदत्त नामक शंखको (भीमकर्मा) भयंकर कर्म करनेवाले तथा (वृकोदरः*) बहुत अन्नोंको पचानेमें समर्थ उदरवाले भीमसेनने (महाशंखम्) बहुत बडा (पौण्ड्रम्) पौण्ड्र नामक शंखको और (कुन्तीपुत्रः) कुन्तीके पुत्र (राजा युधिष्ठिरः) राजा युधिष्ठिरने (अनन्तविजयम्) अनन्त-विजय नामक शंखको (दध्मौ) एक संग बजादिया। इसी प्रकार (नकुलः) नकुल और (सहदेवः) सहदेव दोनो भाइयोंने (सुघोषमणिपुष्पकौ) सुघोष और मणिपुष्पक नामवाले दोनों शंख बजादिये ॥१५॥१६॥

भावार्थः-- अब संजय धृतराष्ट्रसे कहता है, कि हे राजन् ! अब मैं तुमको विलग-विलग उन शंखोंका नाम सुनाता हूं जो पाण्डव-दलमें एक संग बजाये गये। सुनो ! (**पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः**) सबसे पहले पांचजन्य नामका शंख श्री हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णने बजाया। तहां "हृषीक" कहते हैं इन्द्रियको। तिन इन्द्रियोंका जो 'ईश' हो; अर्थात् सब इन्द्रियां जिसकी आज्ञा में वर्त्तमान रहती हों उसे कहिये हृषीकेश। अथवा 'हृष्टा जगत्प्रीतिकराः केशारश्मयोऽस्य' जिसके केश जगतको हृष्ट करने

*वृकोदरः—'वृक' अग्निका नामहै। सो अग्नि बडी प्रबलताके साथ निवास करे जिसके उदरमें अर्थात् जो बहुत अन्न पचावे उसे कहिये 'वृकोदर'॥

वाले अर्थात् परम प्रीतिकी वृद्धिकर आनन्द देने वाले हों, अथवा जिसकी घुघुरारी लटें अपनी सुन्दरतासे विश्वमात्रको विशेषकर ब्रजको और ब्रजवासियोंको हृष्ट करनेवाली हों, उसे कहिये 'हृषीकेश'।

संजय कहता है, कि ऐसे हृषीकेश श्री कृष्णाचन्द्रने जब देखा, कि उधर कौरव-दलके प्रधान भीष्मदेवने युद्धारंभका शंख फूंक दिया, तब इधरसेभी चुपरहना उचित नहीं है। चुपरहने से निर्वलता समझी जावेगी, इस कारण कौरव-दलके शंखोंका कोलाहल सुनतेही अपना 'पांचजन्य' शंख बजादिया। मानो युद्धआरंभ करदेना स्वीकार करलीया। इस शंख का नाम पांचजन्य इसकारण है, कि 'पंचजन' नाम राक्षस जो तिमि [बृहत्मत्स्य] रूपसे समुद्रमें निवास करताथा उसे भगवान्ने वध करके उसके हाडसे इस शंखको तयार किया था। इसके वजतेही कौरव-दलके शंखोंकी ध्वनि ऐसी लुप्त होगयी जैसी सिंह के गरजनेसे भेडियोंकी।

शंका—वीरोंको तथा सम्पूर्ण कटकको अपनी आज्ञामें रखनेकेलिये दोनो दलमें रणाधीश नियत किये गयेथे। कौरव-दलके 'भीष्मपीतामह' और पाण्डव दलके 'भीमसेन'। इसलिये जव कौरव-दलके प्रधान भीष्मने युद्धआरंभका शंखफूंका तो इधर पाण्डव-दलके प्रधान 'भीम' को पहलाशंख फूंकना उचित था। तहां श्रीकृष्णने सारथि होकर सबसे पहले शंख क्यों फूंका? यह युद्धकी रीतिसे विरुद्ध है। अर्थात् महारथीके रहते सारथिका शंख फूंकना अनुचित व्यवहारहै। सर्वज्ञ श्रीकृष्णने ऐसा क्यों किया?

समाधान = पाण्डवों ने अपने दलका प्रधान श्री श्यामसुन्दर कृष्णचन्द्र ही को मानरखा था। यद्यपि श्यामसुन्दरने अपनी इच्छा से अर्जुनका सारथि होना स्वीकार किया था; तथापि अर्जुन तो उनको सारथि नहीं समझता था। वहतो उनको अपना स्वामी जानता था और सर्वप्रकार अपना रक्षक समझताथा। इसी प्रकार अर्जुनके अन्य भ्राता युधिष्ठिरादि भी श्री कृष्णहीको अपना स्वामी, रक्षक, तथा अपना प्रधान मानते थे। इसी कारण भगवान् अन्तर्यामीने इनके मनकी गति जान सबसे पहले शंख वजाया। यहां शंका मतकरो!

एवम् प्रकार भगवान्के वजानेके पश्चात् झट अर्जुनने देवदत्त नाम शंख वजाकर कौरवदलके वीरोंका हृदय कंपायमान करदिया। पश्चात् [पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखम् भीमकर्मा वृकोदरः] उक्त दोनों शंखोंकी ध्वनी सुनतेही वृकोदर अर्थात् भीमके हृदयमें वीर रस उपज आया और उनोंने अपने 'पौंड्र' नामक महा शंखको पूर्ण वलके साथ फूंक दिया। यह भीम कैसे हैं, कि भीमकर्मा हैं और वृकोदर कहलाते हैं। तहां जो वडे-वडे कर्मोंको कर देखलावे उसे कहिये भीमकर्मा, सो भीमने पहले 'हिडिम्ब' नाम राक्षसको मल्लयुद्ध में परास्त कर उसकी छाती पर घुटना रख उसकी गर्दन ऐसी दबायी, कि वह चीख़ मारकर मरगया। उस राक्षसकी भगिनी हिडिम्बाने भीमसेनकी सुन्दरताई पर मोहित हो उनसे विवाह करनेकी इच्छा प्रगट की। पहले तो भीमने स्वीकार न किया पश्चात् माता कुन्ती और वडे भाई युधिष्ठिर के कहने से उसे विवाह लिया। इसी हिडिम्बाके गर्भ से वलवान घटोत्कच उत्पन्न हुआ, जिसने महाभारत युद्धमें पाण्डवों की

जीजानसे सहायता की । इसी हिडिम्ब-वध रूप भयंकर कर्मके कारण भीमको भीमकर्मा कहकर पुकारते हैं।

संजय दिव्य दृष्टि द्वारा यह भी जानता है, कि भीम अवश्य दुःशासन की छाती फोड तीन चिल्लु रुधिर पान करेगा। इस कारण धृतराष्ट्रके सम्मुख भीम को भीमकर्म्मा कहकर मानो प्रथम ही से इस भयंकर वार्त्ताकी सूचना देरहा है। फिर वृकोदर कहनेका कारण यह है, कि वृक नामा अग्निकी ज्वाला जो इस भीमके उदरमें है, इतनी प्रवल है, कि बहुत अन्न पचानेके अतिरिक्त मनुष्यके रुधिरको भी पचा सक्ती है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि ऐसे भीमकर्म्मा वृकोदर भीमने अपने महान् नाद करने वाले पौण्ड्र नामके विशाल शंख को वजा दिया। इसके शब्द को सुनतेही वडे-वडे वीरोंकी आंतें ढीली होगयीं।

तदनन्तर [अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः] कुन्तीके पुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्त-विजय नामका शंख वजाया। यहां कुन्ती पुत्र कहने से संजय धृतराष्ट्रके प्रति अपना यह अभिप्राय प्रगट करता है, कि कुन्तीको जो साक्षात् देवी की मूर्त्ति, परमसाध्वी पाण्डवोंकी माता, वसुदेवकी भगिनी, शूरसेनकी कन्या, तथा चक्रवर्त्ती राजा पाण्डुकी पाटरानी जो सुरम्य राज प्रासादमें राजभूषणोंसे सुसज्जित होकर अनेक प्रकार के राजसी सुखोंको भोगती थी, उसे तुम्हारे महापापी दुरात्मा पुत्र दुर्योधनने वन-वनकी धूल फँकवायी थी। ऐसी हृदय से जली हुई साध्वी कुन्ती देवी के शाप से तुम्हारे कुलका नाश

अवश्य होगा तथा **युधिष्ठिर** अपनी माताके इस दुखका बदला अवश्य लेंगे।

शंका—युधिष्ठिर उस समय किसी स्थानके राजा न थे। पांच गांव तकभी दुर्योधन ने उनको न दिये। फिर संजय ने युधिष्ठिरको राजा कहकर क्यों पुकारा?

समाधान—संजयने धृतराष्ट्रके प्रति युधिष्ठिरको राजा कहकर यह सूचना करदी, कि यही युधिष्ठिर तुम्हारे पुत्रोंको स्वयं अपने भाइयोंके द्वारा नाश करवाकर* हस्तिनापुरके राजा होवेंगे जिसे केवल अब ढाई सप्ताहके लगभग विलम्ब है। यह निश्चय जानो।

युधिष्ठिरने शंख फूंकनेमें कुछ विलम्ब किया। इसका कारण यह था, कि परम धार्म्मिक साधु स्वभाव होनेके कारण इनकी इच्छा अब तक यह थी, कि यदि मुझे पांचगांव भी मिलजावें तो मैं ऐसा घोर युद्ध करवाकर अपने वंशके नाश करनेका कारण होनेसे बचूं। पर जब देखा, कि दोनो ओरके मुखिया वीरगण शंखोंको बजाकर युद्ध छेड़चुके तो अब शंखको न बजानेसे सब मुझको कादर और डरपोक कहेंगे तथा वीरोंकी श्रेणीमें गणना न करके मेरी निन्दा करेंगे। इसलिये अपना अनन्त-विजय नामका शंख बजादिया। इस शंखका नाम अनन्तविजय इस कारण पडा था, कि जब युधिष्ठिर खाण्डवप्रस्थके राजा थे तो इसी शंखको बजाकर बहुतेरे राजाओंको जीत लिया था।

इनके पश्चात् **[नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ]**

---

* शत्रूञ्जित्वा निष्कण्टकराज्यस्यलाभस्तस्यैव भवतीति द्योतनार्थं राजेति पदम् (भाष्योत्कर्षदीपिकायाम्)

नकुल और सहदेवने जब देखा, कि मेरे बडे भ्राताने शंख बजादिया अब इस युद्धके रुकनेकी कोई आशा नहीं है, तब दोनोंने एकसाथ सुघोष और मणिपुष्पक नामके शंख बजादिये ॥ १५ ॥१६॥

रणके इन मुखियों का शंख बजाना सुनकर और किस किसने शंख बजाया सो सुनो!

मू०--काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते !
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥
॥ १७॥१८ ॥

पदच्छेदः — पृथ्वीपते ! (हे राजन् !) परमेष्वासः (श्रेष्ठो धनुर्यस्य सो महाधनुर्धरः) काश्यः (काशीराजः) च (तथा) महारथः (महारथोयस्य सः । एकोदशसहस्राणि योधयेत् सैव-महारथः) शिखंडी * (द्रुपदराजपुत्रः) च (तथा) धृष्ट-द्युम्नः (द्रोणहन्ता द्रुपदपुत्रः) च (तथा) विराटः (विराट-देशाधिपः) च (तथा) अपराजितः (पराजितम्प्राप्तः । न पराजितः पारि-जातहरणबाणयुद्धादिमहासंग्रामेषु) सात्यकिः (यदुकुले वीर विशेषो वासुदेवस्य सारथिः) च (तथा) द्रुपदः (पांचालाधिपतिः) च (तथा) द्रौपदेयाः (प्रतिविन्ध्यादयो द्रौपदी पञ्चपुत्राः) च (तथा) महाबाहुः (विशालबाहुः) सौभद्रः (सुभद्रापुत्रोऽभिमन्युः) सर्वशः (सर्व-

* शिखडी— अस्य जन्मादि विवरण महाभारते द्रष्टव्यम् । ५ । १९० अध्याये

प्रकारेण) पृथक् पृथक् (विलग-विलग।एकैकशः) शङ्खान् (निजनिज कम्बुकान्) दध्मुः (वादयामासुः) ॥ १७, १८ ॥

पदार्थः—सञ्जय धृतराष्ट्रसे कहता है, कि(पृथ्वीपते!)हे राजन्! पाण्डवोंके शंख फूंकनेके पश्चात् शीघ्रही (परमेष्वासः) श्रेष्ठधनुषका धारणकरनेवाला (शिखण्डी) द्रुपदका पुत्र शिखण्डी (च) और (धृष्टद्युम्नः) द्रोणहन्ता धृष्टद्युम्न (च) और (अपराजितः) परायेसे नहीं जीता जाने वाला (सात्यकिः) यदुवंशमें वीर सात्यकि (च) और (द्रुपदः) पांचाल देशका नरेश द्रुपद (च) और (द्रौपदेयाः) द्रौपदीके प्रतिविन्ध्यादि पांचो पुत्र (च) और (महाबाहुः) विशाल भुजवल वाला (सौभद्रः) सुभद्राका पुत्र अभिमन्यु ये सबके सब वीर (सर्वशः) सर्व प्रकारसे (पृथक् पृथक्) विलग-विलग (शङ्खान्) शंख (दध्मुः) वजाते भये॥ १७, १८ ॥

भावार्थः—अव संजय धृतराष्ट्रसे कहताहै, कि पाण्डवोंके शंख वजानेके पश्चात् अन्यान्य जितने मुख्यवीर इनके कटकमें थे सवोंने एकाएकी शंख वजाना आरम्भ करदिया। वे कौन-कौन वीर हैं? सो सुनो! [काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः]परम विशाल धनुष्के धारण करनेवाले काशीनरेशने शंख फूका। यह नरेश पाण्डवों के विशेष सम्बन्धी थे क्योंकि इनहींके पूर्वजकी कन्याओंसे पाण्डवों के दादा भीष्मके छोटे भाई विचित्रवीर्य्यका विवाह हुआथा। तवसे आजतक सम्बन्ध चलाआता था। इसी कारण यह, इससमय पाण्डवोंकी सहायता करनी उचित जान पाण्डव दलमें अपना सारा कटक लेकर, आन

पहुंचेथे। तत्पश्चात् शिखण्डी ने भी अपना शंख फूंका। यह शिखण्डी राजाद्रुपदके गृहमें कन्या होकर उत्पन्न हुआ था। पीछे तप करनेसे पुरुषत्वको प्राप्त हुआ।

स्त्रीरूपमें इसके जन्म लेनेका कारण यह है, कि जिस-समय भीष्मदेव अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य्यके विवाह निमित्त काशीराजकी तीन कन्या अम्बा, अम्बिका और अम्बालिकाको स्वयम्वरसे जीतलाये थे उस समय "अम्बा"ने भीष्मसे कहा, कि मैं तो पहलेसे शाल्वराजको वर चुकी हूं, और अपना पति वनाचुकी हूं, इसलिये यदि अवमैं दूसरा पति करूंगी तो मेरा पतिव्रतधर्म्म नाश हो जावेगा। इस विषय मे हे भीष्मदेव! जैसी आपकी आज्ञाहो करूं। भीष्मने यह सुनकर अम्बाको शाल्वके पास भेजदिया, पर शाल्व ने उससे कहा, कि तू परायेके घरमें रह आयी है इसलिये मैं तुझे स्वीकार नहीं करसकता। इतना कह उसे भीष्मके पास लौटा दिया। तव उसने भीष्मके पास आकर प्रार्थनाकी, कि अव तुम मुझे स्वीकार करलो! अपनी धर्म्मपत्नी वनालो! पर भीष्मने, जो जन्मभर ब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञा करचुकेथे, उसे वरनेसे मुंह मोरलिया। इसकारण अम्बा* को क्रोध-आया और वह भीष्मके मार डालनेके तात्पर्य्यसे वनमें तप करने चलीगयी। वहां अपने तपबलसे दूसरे जन्ममें द्रुपदके घर जाकर शिखण्डिनी नामकी कन्या होकर उत्पन्न हुई। इस शिखण्डिनी के-माता पिताने इसे पुत्रवत् प्रतिपाल किया और सदा पुत्रके स्वरूपमें-

*अम्बा—ज्येष्ठा काशीपतेः कन्या अम्बा नामेतिविश्रुता। द्रुपदस्य कुले जाता-शिखण्डी भरतर्षभ! (महाभा० उद्यो० अ० १९३)

रखा। सभी जानतेथे, कि यह द्रुपदका पुत्र है। यहां तक,कि इस शिखण्डिनीका विवाह महाराज हिरण्यवर्म्माकी+ कन्यासे करदिया। जब उसे ज्ञात हुआ, कि राजाद्रुपदने धोखा देकर मेरी कन्याको अपनी कन्यासे विवाह करदिया है, तब मारे क्रोधके कटक लेकर राजा द्रुपद पर चढाई करदी और द्रुपदको बांध लेजानेका प्रबन्ध किया। तब द्रुपद अपनी धर्म्मपत्नी समेत बहुतही दुःखी हुए।

एवम्प्रकार माता पिताको दुःखी जान शिखण्डिनी÷ पुरुष चिन्ह प्राप्तकरनेके तात्पर्य्यसे वनमें तपकरने चलीगयी। तहां स्थूणा नाम यक्षने अपना पुरुषत्व शिखण्डिनीको प्रदानकिया और उसकी स्त्रित्वको आप स्वीकारकरलिया। एवम्प्रकार शिखंडीने पुरुष चिन्हको प्राप्तकर पुत्ररूपसे घर लौट अपने पिताको सब समाचार कह सुनाया। वे सुनकर प्रसन्न हुए और हिरण्यवर्म्माको यह समाचार भेजदिया,कि शिखण्डी मेरा पुत्रहै। पुत्री नहीं है। तुम पूर्णप्रकार परीक्षाकर अपनी कन्याको मेरे घर बिदाकरदो। हिरण्यवर्म्माने एसाही किया। द्रुपदने इस शिखण्डीको तथा धृष्टद्युम्न अपने दूसरे पुत्रको द्रोणाचार्य्यके पास युद्धविद्या सीखनेके लिये भेज दिया। तहां ये दोनो धनुर्विद्यामें पूरी शिक्षा पाकर बडे वीर योद्धा और महारथियोंकी गणनामें प्रसिद्ध हुए। यही दोनों द्रोण तथा

+ ततोराजा द्रुपदो राजसिंहः सर्व्वान्राज्ञः कुलतः सन्निशम्य।
दशार्णकस्य नृपतेस्तनूजां शिखण्डिने वरयामास दारान्॥
हिरण्यवर्मेति नृपो योऽसौ दशार्णक स्मृतः। स च प्रादान्महीपाल कन्यां तस्मै शिखण्डिने॥
(महाभा० उद्यो० अ० १६०)

÷ शिखण्डी द्रुपदाज्जज्ञे कन्या पुत्रत्वमागता। यां यक्षः पुरुषं चक्रे स्थूणः प्रियचिकीर्षया॥
(महा० आ० अ० ६३)

भीष्मके वधके कारण हुए । इनका पूर्ण वृत्तान्त महाभारत उद्योगपर्व अध्याय १९०से १९३ तक देखो ।

अब सञ्जय कहताहै, कि इस शिखण्डीने भी अपना शंख फूंकदिया। पश्चात् (धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः) धृष्टद्युम्नने, फिर राजा विराटने अपना-अपना शंखफूका। तत्पश्चात् सात्यकिने भीजो अपराजितहै अर्थात् परायेसे जीता नहीं जाता अजय है, अपने शंख को घोर ध्वनिके साथ फूंक दिया। यह सात्यकि वृष्णिवंशी राजा सत्यक का पुत्र, अर्जुनका शिष्य और कृष्णभगवान्का निज सारथि था । इस महाभारतके युद्धमें मारे जानेपर भी मरा नहीं जीता रहा । फिर पारिजातहरणके समय भी इसने अपनी बाणविद्याकी कलायें ऐसी दिखलायी थी कि सबोंको परास्त कर आप रणभूमिमें अडाखडा रहा । इसीकारण संजय इसके नामके साथ अपराजित ऐसे विशेषणका प्रयोग करताहै । फिर [द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते!] संजय कहताहै, कि हे राजन्! सुनो इसीप्रकार एकके पीछे दूसरे वीरोंको शंख बजातेहुए देख पांचाल देशके नरेश द्रुपदराजाने भी अपना शंख फूंका । तिनके पीछे द्रौपदेय अर्थात् द्रौपदीके पांचो पुत्रोंने अपना अपना शंख बजाया ।

पाठकोंके बोधार्थ द्रौपदीके पांचोंपुत्रोंके नाम और यह, कि कौन किससे उत्पन्नहुआथा यहां वर्णन करदिया जाताहै—

प्रतिविन्ध्यो युधिष्ठिरात् सूतसोमो वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्त्तिस्तु शतानिकस्तु नाकुलिः ॥
तथैव सहदेवाच्च श्रुतसेनः प्रतापवान् ।

हिडिम्बयांच भीमेन वने यज्ञे घटोत्कचः॥ (महाभा०आ० अ० ६२)

अर्थ— युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य । भीमसे सूतसोम, । अर्जुनसे श्रुतिकीर्त्ति । नकुलसे शतानीक । सहदेवसे श्रुतसेन ये पांचों द्रोपदीके गर्भ द्वारा उत्पन्न हुए । इनसे इतर भीमसेनकी दुसरी स्त्री हिडिम्बासे वनमें घटोत्कच उत्पन्न हुआ । सो घटोत्कच भी इन पांचोके साथसाथ रणभूमिमें उपस्थित था ।

मुख्य अभिप्राय संजय के कहनेका यहहै, कि प्रतिविन्ध्यादि द्रौपदीके पांचों पुत्रोंने विलग-विलग पांच शंख वजादिये । तत्पश्चात् [सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक्] सुभद्रा के पुत्र अभिमन्युने और अन्य सब वीरोंने अपना-अपना शंख वजा दिया । यह अभिमन्यु कैसाहै, कि महाबाहु है । जिसकी भुजायें जानुतक लम्बी हैं, युद्ध करनेमें विशाल वलवाला है । क्योंकि महाभारत युद्धमें जिस चक्रव्यूहको कोई पाण्डव वीर वेधन करनेका साहस नकरसका उसे यह वच्चा अभिमन्यु, जो श्रीकृष्ण महाप्रभुका परमप्रिय अपना भांजा था, वेधकर अकेलाही घुसगया था। इसकी विलक्षण वीरताने कौरव सेनामें बडा त्रास फैला दिया था । पर जव यह लड़ते-लड़ते विरथ हो गया और इसके हाथमें एक शस्त्र भी न रहा, तव परम निर्लज, निर्दयी, अन्यायी और अधर्म्मी कौरव-वीरोंने इसके सिरपर ऐसी निष्ठुरताके साथ गदा मारि, कि जिसकी चोट यह न सहसका, गिरकर स्वर्गलोकको सिधारगया । युद्धमें जव कोई वीर रथसे रहित होजावे और कोई शस्त्र उसके हाथमें न रहे तो उसे मारना अधर्म्म है ॥१७॥ ॥ १८॥

अब संजय कहता है, कि हे राजा धृतराष्ट्र! इन पाण्डवदलके वीरोंके शंख बजानेके पश्चात् क्या हुआ? सो सुनो!

मू०—स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत।

नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

पदच्छेदः—सः (प्रसिद्धः) तुमुलः (निनादपूरित कल कलव्याप्तातिभैरवः) घोषः(शंखनादः) नभः (आकाशम्। अन्तरिक्षम्) च (तथा) पृथ्वीम् (भूलोकम) च एव (निश्चयेन)व्यनुनादयन् (प्रतिध्वनिभिः आपूरयन) धार्त्तराष्ट्राणाम् (धृतराष्ट्रस्य अपत्यानां दुर्योधनादीनाम्) हृदयानि (अन्तःकरणानि) व्यदारयत् (विदारितवान्। हृदयव्यदारण तुल्यां व्यथां जनितवान्) ॥ १९ ॥

पदार्थः—(सः)वह जो प्रसिद्ध (तुमुलः) अत्यन्त भयावन(घोषः) शंखनादका कल-कल शब्द था वह (नभः) आकाश (च) और पृथ्वीम्) पृथ्वीको (च) भी (व्यनुनादयन्) अपनी गूंजसे भरताहुआ (धार्त्तराष्ट्राणाम्) धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनके (हृदयानि) हृदयोंको (व्यदारयत्) मारे भयके टुकडे-टुकडे करता भया ॥ १९ ॥

भावार्थः—संजय कहताहै, कि हे राजा धृतराष्ट्र! तुम्हारे पुत्रों के दलके शंखोंकी ध्वनिसे पाण्डवोंको तो तनकभी भय न हुआ। पर [**स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत**] पाण्डव दलके वीरोंके पान्चजन्य, देवदत्त, पौण्ड्र, अनन्त-विजय, सुघोष, मणिपुष्पक तथा अन्यान्य शंखोके भयंकर शब्दने तुम्हारे पुत्रोंके तथा कौरव-दल के वीरोंके हृदयोंको तो फाडही डाला। जैसे सिंहके गरजनेसे सबके सब बनैले जीवोंका हृदय मारे भयके कांपने लगजाता है। सब अपनी

जानलेकर भागजानेकेलिये इधर उधर तकने लगते हैं। इसीप्रकार कौरव वीर बायें दायें भागनेका मार्ग देखने लगे। क्योंकि [नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्"] यह ध्वनि समीपके पर्वतोंसे टकराकर आकाशसे पृथ्वी पर्य्यन्त ऐसी गूंजी, कि सबोंके कान बहरे होगये और ऐसा बोध हुआ, कि प्रलय कालका आरंभ होनेवाला है। आजही पृथ्वी टूट कर रसातल जानेवाली है। तथा सब पर्वत एक दूसरेसे टकराते हुए चुर-चूर होना चाहते हैं। इस घोरध्वनिको सुनकर पर्वतके पशु पक्षी कन्दराओंको त्याग त्यागकर बाहर भागने लगगये। कन्दरानिवासी सर्पोंने फूत्कार करना आरंभ कर दिया। व्याघ्र, सिंह, भेडिये इत्यादि चीखमारने लगगये। वानर समूह वृक्षोंकी डालियोंसे चिपट गये। पक्षी घोंसलोंको छोड-छोडकर आकाश की ओर भागचले। मुख्य अभिप्राय यह है, कि इस घोर ध्वनिने सर्वत्र आकाशसे पृथ्वी पर्य्यन्त खलबली मचादी। भला ऐसी दशामें अन्यायी कौरवोंका हृदय कैसे स्थिर रहसक्ता था? यहां संजयने जो थोडीदेर पहले धृतराष्ट्रके प्रति यह वार्ता स्पष्टरूपसे कह सुनायी है, कि कौरवदलके वीरोंके शंखनादसे पाण्डवोंको तनकभी क्षोभ न हुआ, पर पाण्डवोंकी शंखध्वनिने कौरवोंके हृदयोंको विदार डाला, इतना कहनेसे संजयका मुख्य अभिप्राय यह है, कि धृतराष्ट्र भलीभांति समझ जावें, कि मेरे पुत्र बडे अधर्म्मी और अन्यायी तथा लोभी हैं। अन्यायका डंका बहुत दिनों तक नहीं बजता। पूर्व जन्मके पुण्य उदय होनेसे कुछ दिनोंके लिये अन्यायियोंको सुख होतो हो, पर अन्त में दुखोंके तापसे जलना पडता है। अपनी कीर्त्तिकी कर्मनाशा

नदीमें डूबकर मरना पडताहै। अधिक कहांतक कहूं, अन्तकाल हाथ मल-मल पछताते हुए चिरकाल पर्य्यन्त नरकका दुख भोगना पडता है। सो हे राजाधृतराष्ट्र! तुम्हारे पुत्र अन्यायी होनेके कारण युद्धमें कदापि न जीतेंगे। क्योंकि यह कुरुक्षेत्र धर्म्मक्षेत्र इसीकारण कहलाता आता है, कि यहां केवल धर्म्मात्माओंको ही जय लाभ होता है ॥ १९ ॥

संजय कहताहै, कि हे महाराज धृतराष्ट्र! आगे रणभूमिमें कौनसी विचित्र घटना हुई? सो सुनो!

मू०-- अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥
हृषीकेशं तदावाक्यमिदमाह महीपते!
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत!॥२०,२१॥

पदच्छेदः-- महीपते! (पृथिव्याःपते धृतराष्ट्र!) अथ इत्यनन्तरम्। शंखशब्दश्रवणान्तरम्) व्यवस्थितान् (भयोद्विग्नतया पलायने प्राप्तेऽपि वैपरीत्यादपरिचलितान्। युद्धोद्योगेनावस्थितान् वा) धार्त्तराष्ट्रान् (दुर्योधनादीन्) दृष्ट्वा (अवलोक्य) तदा (तस्मिन्युद्धारंभकाले) शस्त्रसंपाते (शस्त्राणांप्रयोगाभिमुखे। शस्त्राणामिषुःप्रासप्रभृति समुदायः तस्मिन्) प्रवृत्ते (प्रवर्त्तमाने) [सति] कपिध्वजः (हनुमता महावीरेण ध्वजरूपतया ऽनुगृहीतः। हनुमानो ध्वजे यस्य सः) पाण्डवः (अर्जुनः) धनुः

(गाण्डीवम्) उद्यम्य (उद्धृत्य) हृषीकेशम् (इन्द्रियाणामीशं भगवन्तं श्रीकृष्णम्) इदम (ईदृशम्) वाक्यम् (वक्ष्यमाणं वचनम्) आह (उक्तवान्) अच्युत ! (हे कृष्ण ! यस्यभगवतः स्वरूपं देशकालवस्तुषु न कदाचिदपि प्रच्युतिं प्राप्नोति तस्य सम्बोधने हे अच्युत !) उभयोः (स्वपक्षप्रतिपक्षभूतयोः) सेनयोः (कटकयोः) मध्ये (मध्यभागे) मे (मम) रथम् (स्यन्दनम्) स्थापय ! (स्थिरीकुरु !) ॥ २०, २१ ॥

पदार्थः— संजय कहता है, कि (महीपते !) हे राजा धृतराष्ट्र! (अथ) एवम् प्रकार दोनों दलवाली घोर शंखध्वनिके सुननेके पश्चात् (व्यवस्थितान्) युद्ध करने के लिये व्यवस्थित (धार्त्तराष्ट्रान्) धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनादिकों को (दृष्ट्वा)देखकर (तदा) तिस युद्धारंभके समय (शस्त्रसंपाते) शस्त्र समुदायोंके छोड़नेमें तथा छुटेहुए शस्त्रोंके सम्मुख (प्रवृत्ते) तत्पर होनेपर (कपिध्वजः) महावीर स्वरूप करके विराजमान ध्वजा वाला (पाण्डवः) अर्जुन (धनुः) अपने धनुषको (उद्यम्य) उठाकर (हृषीकेशम्) श्री कृष्ण भगवान्के प्रति (इदम्) इसप्रकारका (वाक्यम्) वचन (आह) बोलता भया, कि (अच्युत !) हे अच्युत भगवान् श्रीकृष्णचन्द ! (उभयोः) दोनों (सेनयोः) कटकोंके (मध्ये) वीचमें (मे) मेरे (रथम्) रथको (स्थापय) खड़ा करदो ! ॥ २०, २१ ॥

भावार्थः— जब उक्तप्रकार दोनों दलवाले शंख फूंक-फूंक कर युद्धमें प्रवृत्त होने केलिये तयार होगये - तव [अथ व्यवस्थि-

तान्दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान्कपिध्वजः] कपिध्वज अर्जुनने, जिसकी ध्वजापर श्रीमहावीरजी स्वयं वैठे हुए रथकी रक्षा कररहे हैं, धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधन, दुःशासनादिकों को तथा उनके सववीरोंको युद्ध करनेकेलिये अवस्थित देखकर, क्या किया? सोसुनो !

पाण्डवोंके चित्तमें तो यह आशा थी, कि मेरे दलके वीरोंके शङ्खोंके शब्दोंको सुन अवश्य कौरवदल चाहे पलायमान होजावेंगे चाहे सन्धि करलेवेंगे, पर ऐसा न हुआ। इतना तो अवश्य हुआ, कि जिस पाञ्चजन्य शंखकी घोर ध्वनि सुन अन्यकी तो क्या गणना कीजावे स्वयं ब्रह्मादि थर्रा जाते हैं और जव भगवान् कोपकर वजाते हैं तो सारा ब्रह्माण्ड दलदलाकर लौट-पौट हो छिन्न-भिन्न हो जाता है; अर्थात् प्रलय हो जाताहै; तिस पांचजन्य शंखकी घोर कोलाहलको सुन किस वीरका ऐसा कलेजा था? कि रणमें खड़ा रहे । भगवान्की असीम ब्रह्मसत्ताको तो विलग रखो, यदि उनके इस कृष्णरूपही के वलकी ओर देखा जावे तो ज्ञात होजावेगा, कि कौरव दलमें **भीष्म** और **द्रोण** भी सामना नहीं करसकते थे । क्योंकि शास्त्रोंमें जहां वलकी गणना कीगयीहै तहां यों दिखलायागया है, कि **भरत** से १०००० गुण अधिकवल **दशरथ** को, **दशरथ** से १०००० गुण अधिक वल **भीष्म** को, **भीष्म** से १०००० गुण अधिक वल **द्रोणाचार्य्य** को, **द्रोणाचार्य्य** से १०००० गुण अधिक वल **परशुराम**को और **परशुराम**से १०००० गुण अधिक वल **श्रीकृष्ण** को है । तहां ऐसा कहा है, कि " नास्ति कृष्णात्परोबली" । श्री कृष्णसे अधिक वलवान कोई दूसरा नहीं है ।

इस वलकी गणनाके देखनेसे प्रत्यक्ष समझमें आता है, कि द्रो-

णसे १०००० × १०००० (१००००००००) दस क्रोड़ गुण अधिक और भीष्मसे (१००००००००००००) दस खर्व गुण अधिक वल श्रीकृष्णको है, । फिर कौरव-दलमें इनदोनों से इतर दूसरा कौन बली था जो भगवान् श्री कृष्णके पाञ्चजन्य शंखका घोर शब्द सुन स्थिर रह सके । इसीकारण पाञ्चजन्य शंखने तो सबोंको पलायमान करदिया होता। भीष्म और द्रोणभी न जाने कहां छिपजाते? पर इन सबोंको इतना ज्ञात होगया था, कि कृष्णभगवान् यह प्रणकर चुके हैं, कि इस युद्धमें शस्त्र नहीं धारण करेंगे ।इसीकारण कौरव-दलके वीर स्थिर रहगये और युद्धकेलिये तयार होगये ।

एवम्प्रकार[प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः]रिपुदलको युद्धकेलिये सुसज्जित देख आपभी शस्त्रसमूहके प्रहार करनेमें तत्पर होनेके तात्पर्य्यसे पांडववीर अर्जुन ने झटिति अपना धनुष उठालिया और चाहा,कि बाणोंकी बौछारोंसे कौरव-दलको ढक दूं, पर नजाने उसके चित्तमें कैसा संकल्प उदय होआया, कि बाणोंकी बौछार करना न स्वीकारकर केवल धनुषको उठा, [हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते !]हेराजा धृतराष्ट्र! इन्द्रियों के स्वामी तथा सबोंके अन्तर्य्यामी श्री कृष्णभगवानके प्रति, यह वचन* बोलता भया,

* यद्यपि ऐसे बचनोंमें अर्जुनकी बहुत बड़ी ढिठाई पायी जातीथी, तथापि अर्जुन जो बचपन से श्यामसुन्दरके सग हंसता खेलता आया है और प्रेमवश ढीठ होरहा है, अपने ऊपर भगवान् की असीम कृपादृष्टि देख ऐसा अनुमान करने लगा, कि जब भगवान् अपने पैज को विसार अपने महत्वकी ओर न देखकर मेरे लिये सारथि होना स्वीकार कर चुके है और ऐसे विपत्तकालमें मेरे लिये सहायक होचुके तो क्या राजसुखसे च्युत हुए मुझ दुखियाके बचनको नमानेंगे अवश्य मानेंगे ।

[सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत] हे अच्युत ! दोनों दलोंके बीचोंबीच जहांसे दोनों दलोंके वीर मेरे देखनेमें आवें, रथको खडा करदो !

यहां भगवान्को अच्युत- कहकर पुकारनेसे अर्जुनका मुख्य अभिप्राय यह है, कि कदाचित् भगवान् एसा न कहपडें, "कि ऐसे कोमल समयमें जबकि भीष्म, द्रोण इत्यादि वीर बाणोंके छोडने पर तत्पर होरहे हैं, हे अर्जुन ! तू अपने व्यूहसे निकल बाहर रथ स्थापन करनेको क्यों कह रहा है ? ऐसा करना युद्धविद्याकी रीतिसे विपरीत है। ऐसा करनेसे शत्रुदल तुझको अकेला जान तुझपर टूटपडेंगे और तेरे रथ-को गिराकर तुझे लेजावेंगे" इसी शंकाकी निवृत्तिके तात्पर्य्य से "अ-च्युत" ऐसे विशेषणका उच्चारणकर भगवान्को अपने स्वरूपका स्मरण दिलाता है, कि हे भगवन् ! आप अच्युत हैं। इसकारण किसीभी कालमें किसी देव देवीसे तथा किसी अस्त्रशस्त्रसे कदाचित् च्युत नहीं होसकते अर्थात् गिर नही सकते। किसीको भी ऐसी शक्ति नहीं है, कि आप-के स्वरूपको च्युत करसके। जब ऐसे अच्युत होकर आप मेरे रथ-वान होरहे हैं और मेरे चारों घोडोंका बाग आपके हाथ है, तो फिर मुझे भय कैसा ? आपके रहते मेरे रथको वा शरीरको कौन गिरासकता है ? क्योंकि सिंहके शरणमें रहनेवाला भी सिंहही होता है। इसलिये आ-

—अच्युत —न च्यवते" स्वरूपतो नगच्छति यः, नित्य इति यावत् ।

नन्वेवं रथ स्थापयन्तं मामेते शत्रवो रथाच्चयावयिष्यन्तीति भगवदाशंकामाशक्याह । देशकालवस्तुष्वच्युतं त्वां को वा च्यावयितुमर्हतीति भावः ॥ (मधुसूदनः ।

परमे श्वरोऽपि यस्य सारथ्ये स्थित प्राकृतसार्थिवन्नियुज्यते तस्य विजये को विस्मय इतिभावः । (भाष्योत्कर्षदीपिकायाम्)

प ऐसे अच्युतके शरण रहकर मुझे अपने रथ तथा अपने शरीरके च्यु त होनेका कुछभी भय नही है । इसकारण हे अच्युत भगवान! आप निः शंक होकर मेरे रथको दोनों सेनाओंके मध्यस्थानमें खड़ा करदें ॥२०,२१॥

फिरअर्जुनके चित्तमें ऐसी शंका हो आयी, कि भगवान इसप्रकार रथको मध्यमें खड़ा करना निरर्थक न समझें । इसलिये अगले श्लोकमे अपना विशेष प्रयोजन प्रकट करता हुआ कहता है—

मू०--यावदेतान्निरीक्ष्येऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२ ॥

पदच्छेदः-- यावत् (यावत् प्रदेशे । यावदितिकालपरंवा) **अहम्** (अर्जुनः) **योद्धुकामान्** (युद्धेच्छुकान्) **अवस्थितान्** (अस्मिन् धर्म्मक्षेत्रे स्थितान्) **एतान्** (प्रतिपक्षे प्रतिष्ठितान् भीष्मद्रोणादीन्) **निरीक्ष्ये** (अवलोकयितुक्षमः स्याम) **अस्मिन्** (संग्रामभूमौ) **रणसमुद्यमे** (बन्धुनामेव परस्परं युद्धोद्योगे) **मया**। **कैः** (मत्कर्तृक युद्धप्रयोगिनः के ? सन्ति यैः) **सह** (साधम् । सहितम्) **योद्धव्यम्** (युद्धकर्तुं योग्यमस्ति) ॥ २२ ॥

पदार्थः— (यावत्) जिस स्थानसे वा जितने कालतक (अहम्) मैं अर्जुन (योद्धुकामान्) युद्धकीकामनावाले (अवस्थितान्) रणभूमिमें स्थित (एतान्) इनकौरवदलके वीरोंको (निरीक्ष्ये) देखसकूं, कि (अस्मिन रणसमुद्यमे) इस भाई बन्धुओंके परस्पर संग्रामके उद्योगमें (मयाकैः सह) मुझे किनलोगोंके साथ अ-

थवा किनलोगोंका मेरे साथ (योद्धव्यम्) युद्धकरने योग्य है ॥ २२ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन भगवान्‌को अच्युत कहकर निर्भय-होना प्रगट करताहुआ दोनों दलोंके मध्य अपना रथ स्थापन करनेका विशेष प्रयोजन भगवान्‌के प्रति प्रगट करता हुआ, कहताहै, कि(यावदेतान्निरीक्षयेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्] हे भगवान्! इस प्रकार दोनों दलोंके मध्य रथके स्थापन करनेसे मेरा यह बिशेष प्रयोजनहै, कि मैं दोनों दलोंके उन वीरोंकी ओर देखूं जो इस धर्म्मक्षेत्रम युद्ध करनेकी इच्छा से आखडे हुए हैं। जिनके चित्तमें युद्धका उत्साह बढाहुआ है, कि एक दूसरे की ओर इस इच्छासे देखरहेहैं, कि पहले कोई वीर शस्त्र छोडे, तो उसे हमलोग वेधकर टुकडे-टुकडे कर डालें। इसकारण हे देव! आप मेरा रथ ऐसे स्थानमें खडा कररखें, जहांसे इन सब युद्धकरनेवाले वीरोंकी स्थिति देखूं और इतने कालपर्य्यन्त खडा रखें, जबतक इन वीरोंको पहचानलूं। हे भगवन्! यदि आपको यह शंकाहो, कि तू तो युद्ध करनेवाला है, देखनेवाला नहीं है, देखनेसे तुझको क्या लाभ होगा? तो हे प्रभो! विशेषकर मेरा तात्पर्य्य यह है, कि[कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे] स्वयं मुझको किन वीरोंके साथ तथा किन वीरोंको मेरे साथ युद्ध करना है? अर्थात् परस्पर बंधु बांधवके इस उद्योग किये हुए युद्धमें कैसे कैसे बलवान् योधाओंके साथ लडना है? सो देख तो लूं। यह युद्ध किसी अन्य शत्रुके साथ नहीं है, अपनेही सम्बन्धियों के साथ है। इसी कारण अपनेही बंधु बांधवोंने इस रणका उद्योग किया है। हे

दया सागर ! मेरी यह दृढ लालसा होरही है. कि मैं अपने नेत्रोंसे अ-
पनेही भाई, काका, चाचा, बाबा, दादा इत्यादिको एकबार देखलूं, कि
कौन-कौन इस रणमें मेरे साथ युद्धकरनेको उपस्थित हैं, ? तथा किन
अपने सम्बन्धियोंके साथ मुझे सारी लज्जा और मोहमाया परित्याग-
कर युद्ध करना पडेगा ॥ २२ ॥

अब अर्जुन केवल अपने वन्धु वर्गों को ही नहीं वरु अन्यभी
जितने दुष्ट और दुर्बुद्धि वीर दुर्योधनकी सहायताके लिये आये हैं
उन्हे देखलेनेकी अभिलाषासे कहता है—

मू०— योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

पदच्छेदः—दुर्बुद्धेः (स्वरक्षणापायमजानतः । दुष्टबुद्धेः) धा-
र्त्तराष्ट्रस्य (धृतराष्ट्रपुत्रदुर्योधनस्य) युद्धे (रणक्रिडायाम्) प्रि-
यचिकीर्षवः (प्रियकर्तुमिच्छवः) ये, एते (भीष्मद्रोणादयस्तथा-
ऽन्यान्य देशाधिपनयः) अत्र (अस्मिन् समरभूमौ) समागताः
(सम्यक्प्रकारेणोपस्थिताः । प्राप्ताः) (तान्) योत्स्यमानान् (युद्ध्य-
न्तिते योत्स्यमानाः तान् युद्धसम्पादनेऽति कुशलान्) अहम् (अर्जुनः)
अवेक्षे (उपलभे । अवद्रक्ष्यामि) ॥ २३ ॥

पदार्थः— अर्जुन कहताहै, कि हे भगवन्! (दुर्बुद्धेः) परम दु-
ष्टबुद्धि (धार्त्तराष्ट्रस्य) धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनके (युद्धे) युद्धमें
(प्रियचिकीर्षवः) उसके हितके साधन करनेवाले (य एते) जो

ये भीष्म द्रोणादि तथा देश-देशके नरेश, कर्ण, जयद्रथ इत्यादि (अत्र) यहां इस रणभूमिमें (समागताः) आये हुए हैं (तान् योत्स्यमानान) तिन युद्ध करने वालोंको भी (अहम्) मैं (अवेक्षे) देखलूं ॥ २३ ॥

भावार्थः— अर्जुन कहता है, कि हे दयासागर ! आपतो सदा हम दोनों दलवालोंकी भलाई चाहते हैं, पर अब तो मुझे यह निश्चय हो गया, कि इन मूर्खोंने जब आपकी आज्ञा न मानी तो इनके प्रारब्ध अत्यन्त खोटे हैं। अब सन्धिकी तनक भी आशा नहीं है। इसलिये हे कृपासिन्धो ! मैं आपसे यही प्रार्थना करता हूं, कि [योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः] जितने युद्ध करने वाले इसरण-भूमिमें आन उपस्थित हुए हैं उनको मैं पूर्ण प्रकार देखलूं। अर्थात् भीष्म, द्रोण, कर्ण, जयद्रथ तथा अन्य वीरोंको देखकर मैं भी अपने बलका अनुमान करलूं, कि मैं इनके साथ युद्ध करनेकी शक्ति कहां तक रखता हूं। क्योंकि यहां शत्रुदलमें जितने वीर हैं वे (धार्त्त-राष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः) धृतराष्ट्रके पुत्र परम दुष्ट-बुद्धि दुर्योधन के हितके साधन करने वाले हैं। यह दुष्टबुद्धि स्वयम् अपनी रक्षा करनेमें अत्यन्त असमर्थ है। इसलिये देश-देशके नरेशों को इस रणभूमिमें अपनी रक्षाके निमित्त इकठा कर रखा है। ये इसके हितैषी वीर अपना सर्वस्व देकर तथा अपना बल लगाकर इस युद्धमें इसके हितकाही साधन करेंगे। इसलिये हे दयामय ! मैं इन को पहले देखलेने चाहता हूं, यहीमेरी अभिलाषा है ॥ २३ ॥

अर्जुनके इस प्रार्थना पर भगवान्‌ने क्या किया; सो संजय धृतराष्ट्रके प्रति अगले श्लोकोंमें वर्णन करता है—

संजयउवाच

मू०—एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ! ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ! पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२४,२५ ॥

पदच्छेदः—भारत! (हे भरतवंशावतंस तथा मर्य्यादानुरक्षक धृतराष्ट्र!) एवम् (अनेन् प्रकारेण) गुडाकेशेन (अर्जुनेन । गुडाकाया: निद्राया ईशेन । जितनिद्रतया सर्वत्र सावधानेनार्जुनेन) उक्तः (निवेदितः । अभ्यर्थितः) हृषीकेशः (इन्द्रियाणामिशः श्री कृष्णः) उभयोः (द्वयोः) सेनयोः (कटकयोः) मध्ये (मध्यस्थाने) भीष्मद्रोणप्रमुखतः (भीष्मद्रोणसम्मुखतः) च (तथा) सर्वेषाम्, महीक्षिताम् (महीपतीनाम् प्रमुखे) रथोत्तमम् (अग्निनादत्तम् दिव्यं रथम् । भगवता स्वयमेव सारथ्येनाधिष्ठिततया च सर्वोत्कृष्टम्)स्थापयित्वा (अवधारयित्वा । निरूपयित्वा । स्थिरीकृत्वा) इति (इदंवचनम्)उवाच (उक्तवान्) हे पार्थ! (हे पृथापुत्र!) एतान् (युयुत्सून्) समवेतान् (सम्मिलितान्) कुरून् (भीष्म दुर्योधनादीन्) पश्य (निःशंकतया अवलोकय) ॥ २४, २५, ॥

पदार्थः--(भारत) हे भरतवंशके आभूषण धृतराष्ट्र (एवम्) इसप्रकार

(गुडाकेशेन) निद्राको वशमें रखनेवाले अर्जुनसे (उक्तः) कहेजानेपर (हृषीकेशः) इन्द्रियोंके ईश श्रीकृष्ण भगवान्ने(उभयोः)दोनों (सेनयोः) सेनाओंके (मध्ये) वीचमें(भीष्मद्रोणप्रमुखतः)भीष्म और द्रोणके सामने (च)तथा (सर्वेषां महीक्षिताम्) अन्य सब नरेशोंके सन्मुख (रथोत्तमम्) अर्जुनके सर्वोत्तम रथको (स्थापयित्वा)स्थापनकरके (इति) यों(उवाच) कहा, कि (पार्थ!) हे पृथाका पुत्र अर्जुन! (एतान्) इनसब (समवेता-न्) युद्ध निमित्त परस्पर मिलेहुए (कुरून्)कौरवोंको (पश्य) तू देखले । ॥ २४, २५ ॥

भावार्थः—अहा! आज रणभूमिमें कैसी अद्भुत लीला देखनेमें - आरही है, जिसके देखनेसे ऐसा अनुभव होरहा है, कि वेदोंने वारंवार जो **दीनबन्धु और प्रणतपाल** दो विशेष विरद भगवान्के वर्णन किये, उन दोनों अपने विरदोंको आज भगवान् पूर्णरूपसे पूर्ण कर दिखलारहे हैं । अर्थात् अर्जुन ऐसे परम प्रेमी भक्तके समीप प्रकट कर रहे हैं । क्योंकि विचार करने योग्य है, कि जिस महाप्रभुकी भृकुटिविलास में सारा ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्मादि सकल देवता नृत्य कर रहे हैं । वायु, सूर्य्य, अग्नि इत्यादि अहर्निशि जिसकी आज्ञाका पालन कर रहे हैं श्रु० "**भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः** ।" (तैत्तिरी०उप०ब्रह्म-वल्ली अष्टमोऽनुवाकः)अर्थ- जिसके भयसे वायुदेव सर्वत्र प्रवाह कररहे हैं और सूर्य्यदेव उदय होकर आकाशमें भ्रमण कररहे हैं, तिस ऐसे देवोंके देवपर एक साधारण क्षत्रिय "अर्जुन" अपनी आज्ञा करे और सो भग-वान् तिस आज्ञाको झटिति प्रतिपालन करनेको तयार होजावें । क्यों न हो! दीनबन्धु और प्रणतपाल शब्दोंका तो यही अर्थ है, कि

जो एक अत्यन्त दुखियाकी प्रार्थनाकी पूर्त्ति करे और गाढ पडे पर उस अपने शरणागतका प्रतिपाल करे।

संजय धृतराष्ट्रको भगवत्की भक्तवत्सलता दिखताहुआ कहता है, कि- [एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत!] हे भारत! अर्थात् हे राजा धृतराष्ट्र! तुमजो भरतवंशकी मर्य्यादाके रखने वाले कुरुवंशमें शिरोमणि होनेके कारण अपने मनमें सन्धिका विचार कर रहे हो, सो तुम्हारे पुत्र दुर्योधनने भगवान्की बात न मानकर भगवान्के हृदयको इस प्रकार रुष्ट करदिया है, कि अब चाहे पृथ्वी इधर से उधर होजावे पर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र इस महाभारत युद्धको अर्जुन के द्वारा सम्पादन करावेंहींगे और सारथि बनकर उसकी आज्ञामें तनक भी विलम्ब न करेंगे। सो हे राजन्! मैं तुमसे क्या कहूं? सुनो! अर्जुनने जैसे कहा, कि मेरा रथ दोनो सेनाओंके मध्य स्थापन करो! वैसेही उसके मुखसे वचन सुनतेही भगवान्ने तनक भी विलम्ब न किया। झट रथको रणभूमिके मध्यस्थानमें करदिया।

यहां संजयने जो धनंजय, पार्थ, कुरुनन्दन, किरीटी इत्यादि अर्जुनके अन्य नामोंको न कहकर गुडाकेश* ऐसा विशेषण लगाया, तिसका मुख्य अभिप्राय यह है, कि अर्जुन निद्राको अपने वश मे रखताहै, इसकारण यदि कौरव दलके वीर एक-एक करके उसके साथ अहर्निशि युद्ध करते रहगें तौ भी वह बराबर युद्ध करताही रहेगा।

---

* गुडाकेश.— गुडाकायाः ईशः गुडाकेशः। गुडाका, जो निद्रा तिसका जो ईश अर्थात् जो निद्राको अपने वशमे रखे उसे कहिये गुडाकेश वा निद्राजित।

युद्ध रोकनेका कभी नामही न लेगा। अकेलाही सबको पराजय करता रहेगा। क्योंकि जिसे निद्रा नही सताती उसके परिश्रमका पारावार कहां है ? अर्थात् नहीं है। संजयका दूसरा अभिप्राय यह है, कि " **गुडो गोलेक्षुपाकयोः** " गुड शब्दके दो अर्थ हैं- "गोलाकार" और "इक्षुदण्डका रस"। तहां " गुडं अकति व्याप्नोति यः सो गुडाकः। अर्थात् गोलाकार जो ब्रह्मांड तिसके अन्तर और बाहर जो व्यापे सो 'गुडाक' अर्थात् वासुदेव, सो ईश है जिसका उसे " गुडाकेशके " नामसे प्रसिद्ध करते हैं। क्योंकि वासुदेव ऐसे रथवानकी कृपासे और रथ हांकनेकी चतुराईसे अर्जुन जिस समय जहां शत्रुको आक्रमण करना चाहेगा झट वहांही पहुंच जावेगा। अथवा " गुडवन्मधुररसन् भक्तान् अकति प्राप्नोति यः सः गुडाकः "। गुडके समान मधुररस होकर अर्थात् मित्र बनकर जो भक्तोंको प्राप्त होता है, ऐसा श्रीकृष्ण, ईश है जिसका उसे कहिये गुडाकेश (अर्जुन)। इसलिये हे राजा धृतराष्ट्र! अर्जुनहीकी जीत होगी। निश्चय जानो ! यहां इन अर्थोंसे संजयका अभिप्राय यह है, कि धृतराष्ट्रको पूर्णप्रकार दृढ़ विश्वास होजावे, कि अर्जुन अवश्य महाभारत युद्धमें जय लाभ करेगा।

तीसरा अभिप्राय भी थोडा-थोडा मानने योग्य है, कि अर्जुन गुडाकेश* है अर्थात् गुडामुद्राके समान घुघुरारे जिसके केश हैं और स्वरूप

*गुडाकेश - गुडावत्कशा· यस्य। 'अगुष्ठतर्जनीयोगे गुडानाम्नि तु मुद्रिका'। तर्जनी और अंगूठेको मिलाकर गोलाकार मुद्रा बनायी जाती है उसे गुडामुद्रा कहते है। इसीको ज्ञानमुद्रा केनाम से भी पुकारते है।

वान* भी है तिसपर श्यामसुन्दरके संग इसकी शोभा और भी अधिक हो रही है। इसकारण जबतक शत्रुदलके वीर इन दोनोंकी सुन्दरतापर मोहित हो वाण प्रक्षेपण करनेमें विलम्ब करेंगे तबतक न जाने वह कितनेशत्रुओंको वाणोंसे मार गिरावेगा।

एवम् प्रकार सञ्जय अर्जुनको गुडाकेश व ह अपने अन्तःकरणके अभिप्रायोंको प्रगट करता हुआ धृतराष्ट्रको यह उपदेश कररहाहै, कि अब भी मेरा कहना मानो! अपने पुत्रोंको सन्धि करनेकी आज्ञा भेजदो! आगे जैसी तुम्हारी इच्छा हो करो!

अर्जुनकी प्रार्थना स्वीकार कर श्री सच्चिदानन्द हृषीकेश भगवान्‌ने क्या किया सो सुनलो! (**सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्**) पाण्डव और कौरव दोनों दलोंके मध्यस्थानमें जहांसे अर्जुनको दोनों दलोंके वीर एक-एक करके स्पष्टरूपसे देखपडें उस रथको स्थापन करके तथा [**भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्**] भीष्म और द्रोणाचार्य्य जो कौरव दलमें मुखिया हैं उनके सम्मुख करके, अथवा यों कहो, कि जो सबसे पहले सामनेसे देखपडते हैं तिनके सम्मुख तथा अन्यान्य नरेशोंके सम्मुख स्थापन करके (**उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति**) अर्जुनसे कहा,

* श्री श्यामसुन्दर कृष्णचन्द्रका तो कहनाही क्या है? वे तो साक्षात् छवि और शृंगारके अधिष्ठातृदेव ही है, पर अर्जुनकी छवि भी अकथनीय थी, जिसे देख उर्वशी आदि अप्सरायें भी मोहित होजाती थीं, तो औरों की गिनती ही क्या है? (देखो महाभा० वना० अध्या० ४६ श्लो० १८५० से १८५५तक)

कि हे पार्थ ! ये जो तेरे सामने कुरुवंशी तथा उनकी सहायता करने वाले अन्यान्य वीर इकट्ठे हैं, तिनको भलीभांति देखले ! और अपने बलको इनके बलके साथ तौलले ! इसीके साथ-साथ यहभी विचार करले! कि ये सबके सब किसप्रकार युद्धके निमित्त एकसंग गठेहुए खडे हैं।

भगवान्‌का मुख्य अभिप्राय 'समवेतान्' केहनेसे यह है, कि कौरवदल के वीर नाना प्रकारके गरुडव्यूह, अर्धचन्द्रव्यूह इत्यादि व्यूहोंको बनायेहुए इसप्रकार एक दूसरेके साथ गठेहुए खडे है, कि इनको छिन्न भिन्न करनेके लिये , हे पार्थ ! तुझे अपनी युद्धविद्याकी कलाओंको बडी सावधानताके साथ व्यय करना पडेगा। इनको देखकर तू प्रथमहीसे विचारले ! कि किस वीरके व्यूहको किस ढंगसे तोडकर घुसना पडेगा और कौनसा अस्त्र वा शस्त्र किस वीरके लिये प्रहार करना उचित होगा । क्योंकि कर्ण , अश्वत्थामा , शल्य इत्यादि जो तेरे सम्मुख खडे हैं ये युद्धविद्यामें वडे कुशलहैं। इसलिये तू ऐसा यत्नकर! कि जिससे इनकी सेनाका जो परस्पर संगठन है वह छिन्न भिन्न होजावे ।

भगवान्‌ने नानाप्रकारसे रथ हांकनेकी कलाओंको क्षणमात्रमें ऐसी चतुराईके साथ काममें लाकर रथको दायें, वायें, ऊपर, नीचे फिरादिया, जिससे अर्जुनको व्यूहोंकी सारी रचना जो कौरवोंने बडी चतुराईके साथ संगठनकी थी एकाएक देखनेमें आगयी और अर्जुनने उन सबोंके तोडनेका विचार झट अपने मनमें करलिया ॥ २४, २५ ॥

मध्य रणभूमिमें रथ खडाकर और उक्त प्रकार कहकर भगवान् चुप हो रहे। तहां अर्जुन दोनों दलोंकी ओर दृष्टिपात करता-

हुआ क्या देखता है? सो सुनो!

मू०—तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्य्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।
श्वसुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥ २६ ॥

पदच्छेदः— तत्र (रणभूमौ।) पार्थः (अर्जुनः।) उभयोः (द्वयोः) अपि, सेनयोः (अनीकयोः) [मध्ये]स्थितान् (युद्धायावस्थितान् कृतनिश्चयान् वा) पितॄन्(पितृव्यादीन्।भूरिश्रवः प्रभृतीन्) अथ (तथा)पितामहान् (जनकस्यापिजनकान्।भीष्म, सोमदत्तप्रभृतीन्) आचार्य्यान् (कृपप्रभृतीन्) मातुलान् (पितृश्यालकान् शल्यशकुनिप्रभृतीन्) भ्रातॄन् (एकगर्भजातान्।सोदर्य्यान् भीमादीन्। पितृव्यपुत्रान् दुर्योधनान् वा।) पुत्रान् (आत्मजान्। सुतान्। अभिमन्यु लक्ष्मणादीन्) पौत्रान् (सुतस्यसुतान्। नप्तॄन् लक्ष्मणादिपुत्रान्) तथा, सखीन् (अश्वत्थामा जयद्रथादीन्) श्वसुरान् (भार्य्याणांजनयितॄन् द्रुपदादीन्) च (तथा) सुहृदः (सौहार्द्रयुक्तान् सात्यकी, कृतवर्म्म, भगदत्तप्रभृतीन्) एव (निश्चयेन) अपश्यत् (अवलोकितवान्) ॥ २६ ॥

पदार्थः— (तत्र) तिस रणभूमिमें (पार्थः) अर्जुनने (उभयोः) दोनों (सेनयोः) सेनाओंके मध्य अर्थात् कौरवोंकी और अपनी सेनाके मध्य (अपि) भी (स्थितान्) युद्धकेलिये उपस्थित (पितॄन) पिता, काका, चाचा इत्यादिकोंको (अथ) और (पितामहान्) दादाओंके (आचार्य्यान्) गुरुओंको (मातुलान्)

मामाओं को(भ्रातॄन्) भाइयोंको (पुत्रान्) पुत्रोंको (पौत्रान्) पुत्रोंके पुत्र नातियोंको (तथा)और (सखीन्) सखाओंको (श्वसुरान्) श्वसुरोंको (च) और (सुहृदः) मित्रोंको (एव) निश्चय करके (अपश्यत्) अवलोकन किया ॥ २६ ॥

भावार्थः-- जब भगवान्‌ने दोनों दलोंके बीच अर्जुनका रथ खडाकर यों आज्ञाकी, कि हे अर्जुन! मैंने तेरी इच्छनुसार तेरा रथ दोनों दलों के बीच वीरोंके सन्मुख खडा करदिया, अब तू अपनी इच्छानुसार जिन-जिन वीरोंको देखना चाहता है देखले ! तब (तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्) पृथाके पुत्र अर्जुनने तिस रणभूमिमें अपने पिताके तुल्य पुरुषोंको देखा और भीष्म सोमदत्त इत्यादिको युद्ध करनेके लिये उपस्थित देखा। तब अपने मनमें बिचारने लगा, कि अबतो इनके साथ अवश्य युद्ध करनाही पडेगा। क्योंकि ये सबके-सब युद्ध काही विचार कर स्थित होरहे हैं। सन्धिका गन्धतो किसी ओरसे नहीं निकलता।

शंका—यहां जो 'पितॄन' शब्दका प्रयोग संजयने कियाहै सो मिथ्या है। उस दलमें तो कौरव वा पाण्डवोंके पिता तो उपस्थित नहीं थे। पाण्डवों के पिता स्वर्ग धामको पधारगये थे और कौरवोंके पिता "धृतराष्ट्र" अन्धे होनेके कारण रणभूमीमें नही आयेथे। फिर संजयने ऐसी मिथ्या वार्ता क्यों उच्चारण की ?

समाधान— यहां पितॄन शब्द पितृव्यका उपलक्षणहै। यहां पाण्डु और धृतराष्ट्के निजकुलके अनेक वीर उपस्थित थे जो संबंधमें पा-

राडु और धृतराष्ट्रके छोटे वा बडे भ्राता होते थे। इस कारण संजयने पितृन शब्दसे पितृव्य चाचा वा काका इत्यादिका उपलक्षण कर दिया है शंका मतकरो!

अब संजय, धृतराष्ट्रसे और वैशम्पायनजी राजा जन्मेजय से कहते हैं, कि एवमप्रकार अर्जुनने अपने चाचा बाबा इत्यादिको देखनेके पश्चात [आचार्य्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा] आचार्य्योंको अर्थात द्रोणाचार्य्य, कृपाचार्य्य इत्यादिको; शल्य, शकुनि इत्यादि मामाओंको; भीम, नकुल इत्यादि अपने सहोदर भाइयोंको; दुर्योधन, दुःशासन इत्यादि चचेरे भाइयोंको, अभिमन्यु, श्रुतिकीर्त्ति, लक्ष्मण इत्यादि पुत्रों और पौत्रोंको तथा अश्वत्थामा इत्यादि सखाओंको देखा । तदन्तर [श्वसुरान्सुहृदश्चैवसेनयोरुभयोरपि] द्रुपद इत्यादि श्वसुरोंको तथा अपने हित करनेवाले सुहृद सात्यकि, कृतवर्म्मा आदिको दोनों दलोंमें देखा ।

अभिप्राय यह है, कि अर्जुनने कौरवोंके सेनामें तो भूरिश्रवा इत्यादि चाचाओंको; भीष्म, सोमदत्त इत्यादि पितामहोंको; द्रोण, कृपाचार्य्य इत्यादि आचार्य्योंको, शल्य, शकुनि आदि मामाओंको; दुर्योधनादि चचेरे भाइयोंको; अश्वत्थामा जयद्रथ आदि मित्रोंको देखा और अपने दलमें युधिष्ठिरादिक अपने सहोदर भाइयोंको; अभिमन्यु प्रतिविन्ध्यादि पुत्रोंको और सात्यकि इत्यादि अपने परम हितैषियोंको देखा। तात्पर्य्य यह है, कि पराये दलके युद्ध करनेवालोंको भी देखा और अपने दलके युद्ध करनेवालोंको भी देखा ॥॥ २६ ॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहता है, हे राजन्! एवम्प्रकार इनको देखते ही अर्जुनकी कैसी दशा होगयी ? सो सुनो !

मू०—तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्व्वान्बन्धूनवस्थितान् ।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

पदच्छेदः-- सः (प्रसिद्धः) कौन्तेय : (कुन्त्या अपत्यं पुमान् कौन्तेयः , अर्जुनः) तान् (यथोक्तान् अर्जुनेनावलोकितान् । पितृपितामहादीन) अवस्थितान् (युद्धं कर्त्तुं स्थितान्) सर्व्वान् (सम्पूर्णान्) वन्धून् (भ्रातृन् भीमनकुलदुर्योधनादीन्) समीक्ष्य (अवलोक्य । आलोच्य) परया (उत्कृष्टया) कृपया (दयया। स्वजनस्नेहेन स्नेहजन्यकरुणाया) आविष्ट : (व्याप्तः । युक्तः) विषीदन (खेदं प्राप्नुवन् । उपतापं प्राप्नुवन् । ग्लानि लभमानः) इदम् । (ईदृशम वचनम्) अब्रवीत (उक्तवान्) ॥२७॥

पदार्थः— (सः) सो प्रसिद्ध (कौन्तेय) कुन्तीकापुत्र अर्जुन (अवस्थितान्) घोर युद्धकरनेके लिये तयार (तान् वन्धून) तिन अपने वन्धुवर्गोंको (समीक्ष्य) देखकर (परया) परम उत्कृष्ट (कृपया) दयासे (आविष्ट :) युक्तहोकर (विषीदन्) अत्यन्त खेद करता हुआ श्री भगवान्‌के प्रति (इदम्) इसप्रकार वचन (अब्रवीत) वोला ॥ २७ ॥

भावार्थः— जब श्री श्यामसुन्दरकी आज्ञानुसार अर्जुनने अपने और अपने शत्रुके वीरोंकी ओर देख यह जानलिया, कि दोनों ओर तो मेरेही सम्बन्धी और इष्टमित्र खडे हुए हैं, जिनको इस संग्राम

में मुझे अपने हाथोंसे मारना पडेगा, तब उसकी दशा कुछ औरकी औरही होगयी। कैसी व्याकुलता हुई? सो हे राजा धृतराष्ट्र ! सुनो।

[तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्व्वान्बन्धूनवस्थितान्]

सो जो कुन्तीका प्राणप्रिय पुत्र अर्जुन है उसने जब अपने सब प्रिय बन्धुओंको और अन्य अपने सब छोटे बडे सम्बन्धियोंको युद्धमें प्राण देदेनेके लिये उपस्थित देखा और जान लिया, कि ये जितने वीर इस रणभूमिमें दोनों दलोंकी ओर अडे खडे हैं, सो ये मेरे सगे और अपने हैं एक रुधिरसे सबकी उत्पत्ति है। एकही शिरोमणि भरतवंशमें सबके सब पाले गये हैं। एकसंग बचपनमें सब बाल क्रीडा किये हुऐ हैं। एकपंक्ति में बैठकर नानाप्रकारके षटरस भोजन कियेहुए हैं। समय समय पर एक दूसरेके गले मिलकर स्वजनताका आनन्द लाभ कियेहुए हैं। आपत्तिकाल में एक दूसरेका उपकार किये हुए हैं। तिनको मुझे इस युद्धमें अपने हाथोंसे मारना पडेगा। मानों अपने वंशके पवित्र रुधिरको आप बहाना पडेगा। सारी स्वजनताके सुखको तिलांजली देनापडेगा। इस घोर हिंसाके प्रायश्चित्तसे नरक भोगना पडेगा। अपने कुलकी स्त्रियोंको अर्थात् चाची, दादी, मामी, नानी, सबोंको विधवा बना सदाके लिये वैधव्यके दुखको भुगवाना पडेगा। ऐसे मनमें विचार [कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्] बडी दयासे युक्त होकर अत्यन्त खेदको प्राप्त होगया। अपनेही सम्बन्धियोंको मैं अपने हाथसे मारूंगा इसप्रकारके विचारने अर्जुनके हृदयको कंपायमान करदिया। एकबारगी सन्नाटासा होगया। उसके नेत्रोंके सामने अं-

धियाली छागयी। आंखें वन्द होगयीं। कलेजा मुंहको आने लगा। मुख कुम्हलाकर ऐसा सूख गया जैसे विना जलके कमल सूख जाता है। अबतक उसका मुख जो वीररससे लाल-लाल होरहा था एकवारगी चिन्ताकी ज्वालासे काला पडगया। क्योंकि जब वीरताने यह देखी, कि मेरी सपत्नी [सौती]कृपा अर्जुनके गले लिपट गयी है, तब झट उसे अर्जुनसे मिलनेका अवकाशदे विलग होगयी और एकान्तमें जा बैठी। अर्जुनके अन्तःकरण रूप भवनमें महामोहका प्रवेश देख धैर्य्य भी अलग जाबैठा। तब वेचारा अर्जुन क्लेशके कारण महादीन होकर रोते कलपते वहुत गिडगिडाते श्री दयासागर कृष्णभगवान् के प्रति यों बोला ॥ २७ ॥

[अर्जुन उवाच]

मू०—दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्ण! युयुत्सून् समवस्थितान्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥२८॥

पदच्छेदः-कृष्ण!(हे वासुदेव!) युयुत्सून् (युद्धेच्छुकान्।)समवस्थितान्(सम्यग्युद्धभूमावुपस्थितान्) इमान् (प्रत्यक्षणोपलभ्यमानान्) स्वजनान्(आत्मीयान्। वन्धुवर्गान्।) दृष्ट्वा (अवलोक्य) मम, गात्राणि (करचरणादीनि) सीदन्ति(निश्चेष्टानिभवन्ति। विशीर्यन्ते। शिथिलानि भवन्ति) च (तथा) मुखम्(वदनम्। आननम्। आस्यम्।) परिशुष्यति (स्वजनवधचिन्तया शुष्कं भवति) ॥ २८ ॥

[अर्जुन उवाच]

पदार्थः— अर्जुन भगवान्के प्रति यों वोला कि, (कृष्ण !)

हे कृष्ण!(युयुत्सून्) युद्धकी इच्छा रखनेवाले(समवस्थितान्)सम्यक्प्रकार से युद्धभूमिमें उपस्थित (इमान्) इन (स्वजनान्)इष्टमित्रोंको (दृष्ट्वा) देखकर (मम) मेरे (गात्राणि) सब अंग कर चरण इत्यादि(सीदन्ति) गले जाते हैं और शिथिल होते चलेजाते हैं (च) और (मुखम्) मेरा मुख (परिशुष्यति) सूखता चलाजाता है ॥ २८ ॥

भावार्थः—दोनों दलोमें अपनेही वन्धु वर्गोंको प्राण देनेके लिये उपस्थित देख तथा अपनेको उनका मारनेवाला जान,घोरहत्याके दुःखसे व्याकुलहो, अर्जुन भगवान्के प्रति यों वोला, कि [**दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्ण! युयुत्सून् समुपस्थितान्**]हे कृष्ण! इन दोनों दलोंमें इन अपने वन्धुवर्गोंको युद्धकी इच्छासे उपस्थित, एक दूसरेके निमित्त प्राण देनेको तयार देखकर मेरी जो दशा होरही है सो मैं तुमसे क्या कहूं? मैं ही जानता हूं।अथवा तुम सर्वज्ञ सबके हृदयके जाननेवाले जानते हो। आजतक ऐसी घोर आपत्ति मेरे सिरपर कभी नहीं पहुंची थी। मैंने कभी स्वप्नमेंभी एसा विचार न किया था, कि एक दिन मुझे चाण्डालके समान अपने वंशको अपने हाथोंसे काटकूटकर रसातल पहुंचाना पडेगा। हे भक्तरंजन! हे दुःख भंजन! हे क्लेशहारी! हे विपत्ति सहायक! तुमको लोग कृष्ण इसी कारण कहते हैं, कि तुम दुःखियोंके सिरपर छायीहुई दुःखकी घोर घमण्ड घटाको अपनी कृपा रूप प्रचण्ड वायुके वेगसे खैंच खैंचकर इस प्रकार टुकडे टुकडे कर उडादेते हो जैसे धुनेरा रुईकी गड्डीको अपने शस्त्रसे धुन धुनकर टुकडे टुकडे उडा डालता है।

हे जगदाधार ! अब इससमय मैं अपने हृदयकी किससे सुनाऊं ?

कहां जाऊं? क्या करूं? मैं जानताहूं, कि मेरी बात सुन तुम मुझे बावला और कातर समझोगे। नीच दृष्टिसे देखोगे ।वरु मुझको यह भय होरहाहै कि जब मैं अपनी दशा और अपने मनका विचार तुमसे कहूंगा तो सम्भवहै कि तुम मुझे निकम्मा जान एकवारगी मेरी रथवानी छोड मुझे अकेला त्याग द्वारका चले जाओगे। इसकारण इस समय मैं अपने मनकी सारी गति तुमसे प्रगट करनेसे डररहा हूं । पर हे दयामय! मुझे यहभी पूर्ण आशा है, कि जैसे माता पिता किसी अपने अबोध बच्चेको उसका घोर क्लेश देखकर सन्तोष देते हैं, यथाशक्ति उस क्लेशको दूरकरनेके लिये भांति-भांतिके उपायोंको रचते हैं, ऐसे ही हे नाथ! मुझे पूर्ण विश्वास है, कि तुम मुझे छोड भाग नहीं जाओगे, वरु मेरी इस घोर विपत्तिके छुडानेका यत्न करोगे । इसकारण अब मुझसे रहा नहीं जाता। अबमैं तुमको किसी प्रकारका अन्तर न रखकर अपनी सारी विगडी हुई दशा सुनाही देताहूं । सो सुनो! पहले तो यह देखो! कि [सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति] इन अपने स्वजनोंको प्राण देनेके लिये तत्पर देख मेरे सारे अंग ऐसे गल गलकर निश्चेष्ट होरहे हैं जैसे किसी मरते हुएके अंग धीरे-धीरे निर्जीव होते चले जावें। मैं अपने इन स्वजनोंको और सम्वन्धियोंको अपने हाथोंसे मारूंगा।' इस चिन्तासे मेरा अन्तः करण अपनी चेतनाको त्याग जड लोहके पिण्डवत् स्थूल दशाको प्राप्तहो स्फुरण रहित होरहा है। आखोंके आगे अंधियाली छायी चली जाती है। कानोंसे किसीकी कुछ सुन नहीं सकता। जिह्वा सूखती चली जारहीहै। मेरा यह मस्तक जो वीरता

के कारण ऊंचा होरहा था अब मारे चिन्ताके पृथिवीकी ओर झुक रहा है। हे प्रभो! देखो ! मुझ दीन दुखियाके मुखकी ओर देखो ! वीर-रससे भरपूर होनेके कारण जिसपर लाली छायीहुई थी सो सूखकर पीला होरहा है । जिव्हा ऐसी शुष्क होगयी, कि बोलते समय तालु और होठोंसे बार-बार लिपटती हुई शुद्ध-शुद्ध उच्चारण करनेमें असमर्थ होरही है॥२८॥

लो ! और सुनो !

मू०—वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ॥ २९ ॥

पदच्छेदः-- च (तथा) मे (मम) शरीरे (देहे) वेपथुः (कम्पः) च (तथा) रोमहर्षः (रोम्णांगात्रेषु पुलकितत्वम् । रोमांचः) जायते (उत्पद्यते) हस्तात् (करात्। करमुष्टिकात् । हस्तावयवात् ।) गाण्डीवम् (वह्निदत्तधनुर्विशेषः) स्रंसते (निपतति ।) च (तथा) त्वक् (त्वचा) एव (निश्चयेन) परिदह्यते (संतप्यते) ॥ २९ ॥

पदार्थः—(च) और हे भगवन् । (मे) मेरे शरीरमें (वेपथुः) कम्प होरहा है, (रोमहर्षः) रोमांच (च) भी (जायते) उत्पन्न होरहा है और (हस्तात्) मेरे हाथसे (गाण्डीवम्) गाण्डीव नाम का मेरा निज धनुष (स्रंसते)ससरकर गिरता चलाजाता है। (त्वक्) मेरे शरीरका चमडा (च) भी (एव) निश्चय करके (परिदह्यते) मारेशोकके जल-रहा है ॥ २९ ॥

गाण्डीव शब्द उभयलिंगी है । पु० और न०दोनोंही है । (गाण्डिर्ग्रन्थि। छदिकारान्तादिति " डि वि छते गाण्डी" सा विद्यते अस्य 'गाण्ड्यजगात्संज्ञायाम्' ५। २। ११० इति वः गाण्डीवः । नपुंसके- गाण्डीवम् ।

भावार्थः—इससे पूर्व श्लोकमें अर्जुनने जो अपनी खिन्नदशा वर्णन कर भगवान्‌को सुनायी उसके साथ और भी इन बांधवोंके बध करनेके संताप जो उसके शरीरको तपारहेथे उनको वर्णन करताहुआ कहता है, कि [**वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जयाते**) हे भगवन्! मेरे शरीरमें कम्प उदय होरहा है; अर्थात् जब इन अपने सगे सम्बन्धियोंके नाशका कारण अपनेही शरीरको समझता हूं तब मेरा शरीर एकबार कांप उठता है और स्थिर होकर पांव रथपर नहीं जमता। जैसे कोई हठात् मेरे पैरोंको पीछे खैंचकर गिराना चाहे ऐसे ये आपसे आप पीछे मुंह हटे चले जारहे हैं। अंग-अंगमें थर्राहट उत्पन्न होती है। जो मेरा हृदय युद्ध करने में कुलिशसे भी अधिक कठोर था, आज वह मेरा हृदय सिरसके फूल से भी अधिक कोमल होकर मारे दयाके मोमके समान पिघल गया है। इतनाही नहीं वरु रोमहर्ष अर्थात् रोमांचभी अंग-अंगमें होरहा है। अर्थात् शरीर पर रोंगटे * खडे होरहे हैं।

उक्त लक्षणोंसे तो मेरा शरीर दुःखी हो ही रहा है, पर अब मैं देखता हूं, कि मेरी वीरता भी मुझसे रूठ मुख मोड बैठी है। क्योंकि [**गाण्डीवं स्रंस्ते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते।**] मेरा गाण्डीव मेरे हाथसे गिराजाता है। अहा! कैसा आश्चर्य्य है, कि ब्रह्मादि देवोंसे

---

* "हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमांचो रोमविक्रिया" अर्थात् जब प्राणीको किसीप्रकारका हर्ष प्राप्त होता है वा किसी अद्भुत रसभरे विचित्र वस्तुको देखता है अथवा मारेभयके भयभीत होता है तब शरीर पर रोंगटे खडे हो जाते है। सो यहां अर्जुनके शरीरपर बांधवोंकी हिंसा के भयसे रोंगटे खडे होरहे है।

इतर अन्य किसी वीरको जिस गाण्डीव धनुषके उठानेकी शक्ति नहीं है तिस धनुषको उठानेवाली ये मेरी भुजायें इस समय ऐसी शक्तिहीन हो रही हैं, कि इस गाण्डीवको नहीं सँभाल सकतीं। इसी चिन्ताकी ज्वालासे मेरे शरीरका चर्म भस्म होता चला जाता है। क्याही आश्चर्य्य है! कि जैसे जैसे मैं ठण्डा सांस लेता हूं वैसे वैसे और भी अधिक लहरता चलाजाता हूँ। मानो इस समय माहेश्वरी ज्वरने अपना पूर्ण अधिकार मेरे शरीरपर जमा रखा है। अब मुझे आशा नहीं है, कि इस गाण्डीवसे इस महाभारत युद्धको जय करसकूंगा। अब आज इस गाण्डीव+ का सारा महत्त्व नष्ट हुआ चाहता है। जो मेरे हाथोंमें वर्षोंसे काम दे-रहाथा आज निकम्मा होरहा है। इसी कारण मेरा दुःख और भी अधिक बढता चलाजाता है।

मैंने अपनी वीरताके घमण्डमें कभी भी ऐसा अनुमान नहीं कि-

+टिप्प० पाठकोंके बोधनिमत्त इस गांडीव धनुषका संक्षीप्त वृत्तान्त यहां वर्णन करदिया जाता है। यह प्रसिद्ध गाण्डीव धनुष महाभारत ऐसे युद्धका विजय करनेवाला है तथा कई देवताओं के हाथोंमें होताहुआ अग्निदेव द्वारा अर्जुनके करकमलोंमें सुशोभित हुआ है। प्रमाण एतद्वर्षसहस्रन्तु ब्रह्मा पूर्वमधारयत्। ततोऽनन्तरमेवाथ प्रजापतिरधारयत्॥ त्रीणि पंचशतंचैव शक्रोऽशीतिंच पंच वै। सोमः पंचशतं राजा तथैव वरुणः शतम्॥ पार्थः पञ्च च षष्टिंच वर्षाणि श्वेतवाहनः। महावीर्य्यम् महद्दिव्यमेतद्धनुरनुत्तमम्। (महाभा० विराटपर्व अध्या० ४२ ।)

अर्थ—इस गाण्डीवधनुषको पहले ब्रह्माने अपने हस्तकमलमें एकसहस्र वर्ष, प्रजापतिने इसे डेढ सहस्र वर्ष, इन्द्रने पचासीवर्ष, चन्द्रमाने पांचसौवर्ष और वरुणदेवने एकसौ वर्षतक धारण किया था उसे श्वेतवाहन अर्जुनने ६५ पैंसठ वर्षतक धारण किया। सो यह धनुष महान पराक्रम वाला है। अत्यन्त दिव्य है।

या था, कि युद्धके समय रणभूमिमें वीरोंके सम्मुख मेरी ऐसी दुर्दशा होगी ॥ २९ ॥

लो भगवन्! और सुनो !

मू०—न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव! ॥३०॥

पदच्छेदः—च (तथा) केशव ! (कः ब्रह्मा ईशः शिवः तौ आत्मनि स्वरूपे वयति, प्रलये-उपाधिरूपं सुप्तित्रयं मुक्त्वा एकमात्र परमात्मस्वरूपेणावतिष्ठते तत्सम्बोधने—हे केशव ! अथवा केशं केशिनं वाति हन्ति यः तस्य सम्बोधने—हे केशव! अथवा कश्च, अश्च, ईशश्च, ते केशाब्रह्माविष्णुरुद्रा नियम्यतया सन्त्यस्य तस्य सम्बोधने—हे केशव ! अथवा केशाः* प्रशस्ताः सन्त्यस्य तस्य सम्बो० हे के०) अवस्थातुम् (पद्भ्यां शरीर धारयितुम् ।) न (नैव) शक्नोमि (समर्थोऽस्मि ।) च (तथा) मे (मम) मनः (अन्तःकरणम् ।) भ्रमति (भ्रमणकर्तृसादृश्यं नाम मनसः कश्चिद्विकार विशेषो मूर्च्छायाः पूर्वावस्था तां प्राप्नोति । मोहं प्राप्नोति) इव (तत्सादृश्यम्) च (तथा) विपरीतानि (वामनेत्रस्फुरणादीन्यशुभानि । अनिष्टसूचकानि ।) निमित्तानि (शकुनानि । हेतून्) पश्यामि (अवलोकयामि) ॥ ३० ॥

पदार्थः—(च) और (केशव!) हे केशव ! (अवस्थातुम्) दोनों पैरों पर

---

* केशाद्वोऽन्यतरस्याम् ॥ ५। २। १०९ । अर्थ— केश शब्दके उत्तर विकल्प करके " व " प्रत्यय हो ।

खडा रहनेको भी अब मैं (नशक्नोमि) समर्थ नहीं हूं (च) और (मे) मेरा (मनः) मनभी (भ्रमति) घूमतेहुएके (इव) समान होरहा है अर्थात् भ्रमरहा है (च) और (विपरीतानि) अनिष्टकी सूचना करने वाले उलटे-पुलटे (निमित्तानि) शकुनोंको तथा हेतुओंको भी (पश्यामि) मैं देखरहा हूं ॥३०॥

भावार्थः-अब अर्जुन घोर दुःखी हो श्यामसुन्दरको ही अपना सहारा जान अपना सारा दुःख पूर्णरूपसे सुनाताहुआ कहता है, कि हे नाथ! [**न च शक्नोम्यवस्थातुम् भ्रमतीव च मे मनः**] अब मैं इस-रथ पर खड़ाभी नहीं होसकता। क्योंकि मोर चिन्ताके ऐसा दुर्बल होरहा हूं, कि मेरे पांव खडे रहने में मेरी सहायता नहीं करते। जी चाहता है, कि थरीकर इस रथपर बैठ रहूँ। सो हे प्रभो! इस युद्धरूप घोर दृश्यको देख मेरी तो सारी दुर्गति होरही है। हेभगवन्! अधिक क्या कहूं? मेरा मन यों चकरा रहा है जैसे किसी उन्मादग्रस्त रोगीका मन भ्रमता रहता है। मूर्च्छा आनेसे पूर्व प्राणीके अन्तःकरणकी जो दशा होती है तदाकार मेरे मनकी दशा होरही है। जैसे समुद्रमें भाटाज्वारके समय किसी नउकापर चढे हुए प्राणीकी दृष्टिमें पृथ्वी आकाशसे और आकाश पृथ्वीसे वारम्बार झुक-झुक कर मिलतेहुये देख पडते हैं, ऐसे मैं इस समय दशों दिशाओंको भ्रमता हुआ देखरहा हू।

इतनाही नहीं वरु [**निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव!**] हे केशव! नाना प्रकारके अशुभ सूचक अशकुन देखता हूं। वाम नेत्रका फडकना, खर और शृगालोंका प्रतिकूल बोलना। व-

ह देखिये ! सामनेवाली सरिताकी लहरोंका मन्द गतिसे लहराना। बनवृक्षोंके भौरोंका उडजाना। अनेक पुष्पोंका मुरझाजाना। चारों ओरके समाका भयावन देखपडना। इन प्रकारोंके अनेक अमंगल भरे लक्षण दायें-बायें देखरहा हूं। अथवा इस आधे श्लोकका यों अर्थ करलीजीये, कि भाई तथा इष्टमित्रोंके साथ राज्यसुखका भोगना इत्यादि जो युद्धके विशेष निमित्त हैं उन्हे भी प्रतिकूलही देख रहा हूं। क्योंकि यह युद्ध सुखके निमित्त नहीं है वरु नाशके निमित्त है। इसीको प्रतिकूल निमित्त कहते हैं। यहां भगवान्के प्रति दुःख निवेदन करनेसे अर्जुनका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जिनके साथ मिल कर राज्यसुख भोगना चाहिये उनहीको मारना पडेगा। इसकारण इस युद्धका निमित्त उलटा होनेके कारण मुझे, हे प्रभो ! इस युद्धसे विलग करदो !

यहां जो अर्जुनने भगवान्को केशव कहकर पुकारा है, तिसके अनेक अभिप्राय हैं। प्रथमतो यह, कि "कः" और "ईशः" इन दोनोंके मिला देनेसे "केशः" शब्द बनता है। अर्थात् "कः" जो ब्रह्मा और "ईशः" जो महादेव दोनोंको जो "वः" वयति एकसंग मिलाता है उसे कहिये केशव। अर्थात् प्रलय कालके समय ब्रह्मा और महेशको एकसंग लियेहुए जो अपने परमात्म स्वरूपमें प्रवेश करजाता है उसे कहिये "केशवः"। दूसरा अर्थ यह है, कि कश्च, अश्च, ईश्च अर्थात् क+अ+ई* इन-तीनोंको जो 'वयति' वशमें रखकर अपने-अपने नियममें

* क- ब्रह्मा। अ' विष्णु। ई- महादेव।

दृढ रखे उसे कहिये केशव। अर्थात् इन तीनों देवोंके द्वारा जो रचना पालन और संहार करवाता रहता है, उसे कहिये केशव। सो अर्जुन कहता है, कि हे कृष्ण! सो केशव, तुमही हो। अर्थात् तुम साक्षात् परब्रह्म हो। इस कारण सदा निर्भय, निर्विकार, निर्मल और परमानन्द स्वरूप हो। हे गोविन्द! तुमको तो किसी प्रकारका मोह सताही नहीं सकता। तुमतो अन्यान्य देव, देवी, गन्धर्व, किन्नर, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि के तीनों तापोंको मेटनेवाले हो। इस कारण हे भक्तवत्सल! मैं तुम्हारे आगे रो-रो करे अपना दुःख सुनारहा हूं। आशा करेताहूं, कि तुम मेरे इस दुःखको अवश्य मेटोगे।

प्रिय पाठको! इसी अभिप्रायसे अर्जुनने यहां श्यामसुन्दरको केशव कहकरे पुकारा है, कि जिस देवके वशमें रहकरे ब्रह्मादि दिवा-राति आज्ञापालनमें तत्पर हैं तिसको मुझ क्षुद्र जीव अर्जुनके ताप मिटानेमें क्या प्रयास होगा? कुछभी नहीं! इस कारण कहता है, कि हे दीनदयाल! ये जो मेरे अशुभ और अमंगलके सूचक बुरे-बुरे अशकुन होरहे हैं इनको मंगलसूचक बनादो

यदि कहो, कि तू इस समय अन्य कुछभी विचार न करके युद्ध-कर! तो हे सबके अन्तर बाहरके शासन करनेवाले मेरे रक्षक! मेरी बात भली भांति विचारकर देखो! कि हम लोगोंकेलिये युद्ध तनक भी मंगलकारक वा श्रेयस्कर है वा नहीं है। क्योंकि सगे सम्बन्धियोंको मारकर किसीने आजतक सुख न भोगाहोगा। ॥ ३० ॥

लो! और भी मेरी थोडीसी बात सुनलो!

मू०—न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
न कांक्षे विजयं कृष्ण! न च राज्यं सुखानि च॥३१॥

पदच्छेदः—च (और) हे कृष्ण! (कर्षत्यरीन् महाप्रभावशक्त्या। यद्वा कर्षति आत्मसात् करोत्यानन्दत्वेन परिणमयतीति मनो भक्तानाम्। यद्वा कर्षति सर्व्वान् स्वकुक्षौ प्रलयकाले ' यद्वाकर्षति भक्तानां सर्वाणि पापानि यः, तस्य सम्बोधने-'हे कृष्ण!') आहवे (रणे। संग्रामभूमौ।) स्वजनम् (स्वबन्धुवर्गम्।) हत्वा (मारयित्वा) श्रेयः (कल्याणरूपफलम्। दृष्टमदृष्टं पुरुषार्थम् वा।) न (नैव) अनुपश्यामि (बहुविचारणादनुपश्चादपि बुद्धिचक्षुषावलोकयामि) च (तथा) विजयम् (विशेषरूपेण संग्रामजयम्।) न (नैव) कांक्षे (वांछे। इच्छे। लिप्से) च (तथा) राज्यम् (राष्ट्रम्) सुखानि (बाह्याभ्यन्तरकरणानां प्रसन्न जनक भोगाः।) न (नैव) [कांक्षे] ॥ ३१ ॥

पदार्थः— (च) और (कृष्ण!) हे कृष्ण! इस (आहवे) युद्ध भूमिमें (स्वजनम्) अपने बन्धुवर्गोंको (हत्वा) मारकर (श्रेयः) किसी प्रकारका कल्याण ((न अनुश्पामि) नहीं देखताहूं (च) तथा (विजयम्) पृथ्वीका राज्यभी मैं नहीं चाहता।(च) और (सुखानि) उस राज्यके जितने सुख और भोग हैं उनको भी मैं नहीं चाहता ' ॥ ३१ ॥

भावार्थः—अर्जुन अपने उदासीन होनेका कारण दिखलाता हुआ कहता है [न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे] इन अपने इष्ट मित्रों

तथा बन्धुओंको इस संग्रामभूमिमें हनन करनेपर किसी प्रकारका कल्या-
ण भी मुझे देखनेमें नहीं आता। क्योंकि आजतक ऐसे अनुचित क-
र्म्मोंके करनेका उत्तम फल कहींभी सुना नहीं गया देखनातो कोसों
दूर रहे। ऐसे विचार रहित कर्मोंका फल तो सदा दुःखही दुःख देखागया है।
हे दीनदयाल! थोडा विचारो तो सही, कि इन स्वजनोंका तो नाश हो और
मैं राज्यसुख भोगूं । यदि राज्यसुखके लिये ही इन चचेरे भाइयोंको
मारना है तो फिर मैं युधिष्ठिर भीमादि अपने सगे भाईयोंको भी मारकर
अकेलाही सम्पूर्ण राज्यसुखको निष्कण्टक क्यों न भोगू ? एक भाईको
मारुं और एकको छोडूं ऐसा क्यों करूं ! मेरे जानते तो दोनो अपनेही
सगे हैं। दो चार दस पीढियोंका भी तो अन्तर नहीं है। इनको मारकर
राज्यसुख भोगनेमें मुझे तो किसी प्रकार श्रेय नहीं देखपडता। न किसी
प्रकारका लौकिक कल्याणही देखनेमें आता है। मैंने इस विषयमें बहुत
विचार कर देखा, तो यही दृढ निश्चय हुआ, कि युद्ध छोडकर भाग जाऊं।
क्योंकि [न कांक्षे विजयं कृष्ण! न च राज्यं सुखानिच]
हे मेरे प्राणप्रिय श्री कृष्ण ! मै तो इस अधर्म्म युद्धके विजय क-
रनेकी भी इच्छा नहीं रखता , क्योंकि विरोंको इस प्रकार अधर्म्म मिश्रि
त वध करना, जिससे नरकका मुंह देखना पडे, उचित नहीं है ।क्योंकि
ऐसे युद्धसे वीरोंकी कुछभी शोभा नहीं है। वीरोंकी वीरता अपने कुल
की तथा अपने इष्टमित्रोंकी रक्षा निमित्त है, न कि इनके नाशके
निमित्त । सिंह, व्याघ्र इत्यादि पशु होने पर भी अपनी जातिकी
हानी नहीं करते । मैं तो मनुष्य हूं । जिस भीष्मदेवने हम पांचों
भाईयोंको पिताहीन जानकर बचपनमें सर्व प्रकार रक्षा की । जिस

द्रोणाचार्य्यने न जाने कितने परिश्रमसे युद्ध विद्या सिखलायी। क्या इन महापुरुषोंके उपकारका यही उचित दक्षिणा है, कि मैं इनका मस्तक काटडालूं। क्या इनको युद्धमें जीतलेना विजयके नामसे पुकारा जा सकता है ? कदापि नहीं ! इसलिये हे कृष्ण ! मैं ऐसे अधर्म्मसे प्राप्त हुए राज्यकी और उन राज्यसुखोंकी अभिलाषा स्वप्न में भी नहीं करता।

यहां अर्जुनने भगवान्को "कृष्ण" कहकर पुकारा है। तिस कृष्ण ऐसे शब्दके प्रयोग करनेसे अर्जुनके अनेक आन्तरिक अभिप्राय हैं।

प्रथमतो यह, कि " कर्षत्यरीन् महा प्रभावशक्त्या " जो शत्रुओंको अपनी शक्तिके महान् प्रभावसे अपनी ओर खैंच अपने वश करले उसे कहिये "कृष्ण+" सो हे कृष्ण ! तुम हमारे बन्धुवर्गोंके हृदयसे शत्रुभावको खैंचकर अपने वश करलो ! जिससे वे हमारे अधीन होकर हमसे सन्धिकर हमारा राज्य हमको लौटा देवें।

दूसरा तात्पर्य्य यह है, कि "कर्षत्यात्मसात् करोत्यानन्दत्वेन परिणमयतीति मनो भक्तानाम् " —जो भक्तोंके मनको खैंचकर अपने स-

---

+ ॐ कृषिर्भूवाचक : शब्दो नश्च निर्वृतिवाचक : ।
तयोरैक्यं परंब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥ १ ॥

कृषिर्भूवाचकः शब्द इति । कृषिरिति कृड्भूमिः । नश्च निर्वृतिवाचक इति निवृतिरानन्द. सुखं शुद्धं ब्रह्मेति यावत् । अर्थ—कृष " भू " वाचक शब्द है और " नः " निर्वृति वाचक शब्द है। इन दोनोंको मिलादेनेसे " कृष्ण " शब्द बनता है, जिसका अर्थ है पूर्ण आनन्द और सुखका क्षेत्र शुद्धस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण (वाचस्पतिः)

मान आनन्दस्वरूप कर डालता है उसे कहिये "कृष्ण" । सो हे कृष्ण ! बन्धुवर्गोंके शोकसे व्याकुल मुझ दीन अर्जुनके मनको अपने स्वरूपकी ओर खैंच अपने समान आनन्दमय करदो ! और इस युद्धका बखेडा मिटादो !

तीसरा अभिप्राय यह है, कि "कर्षति सर्व्वान् स्वकुक्षौ प्रलयकाले"। जो प्रलयकालके समय सबको अपने उदरमें खैंचले उसे कहिये "कृष्ण"। सो हे कृष्ण ! यदि तुम्हारी इच्छा प्रलयकाल करडालनेकी है तो शीघ्रता करो ! हम पाण्डव और कौरवोंको खैंचकर अपने उदरमें करलो ! जिससे शीघ्र यह सारा बखेडा मिटजावे ॥

चौथा अभिप्राय यह है, कि "कर्षति भक्तानां सर्व्वाणि पापानि" जो भक्तोंके सब पापोंको खैंचलेवे उसे कहिये "कृष्ण" सो हे कृष्ण ! मैं जो घोर पापी हूं, जिसके पापोंके उदय होनेसे नेत्रोंके सामने यह भयंकर दुःखदायी घोर दृश्य आन उपस्थित हुआ है जो मुझे आततायी बनाकर न जाने कितने काल तक कुम्भीपाकादि नरकोंका दुःख भोगावेगा सो तुम कृपा कर मेरे उन सब पूर्वजन्मार्ज्जित पापोंको खैंच मुझे निर्म्मल करदो !

प्रिय पाठको ! ऐसा अनुमान होता है, कि उपर्य्युक्त सब अर्थोंको दृष्टिमें रखकर अर्जुनने इस समय भगवान्को विशेषकर "हे कृष्ण" ! कहकर पुकारा है ॥३१॥

अब अर्जुन पृथ्वीके विभवको एक तुच्छ पदार्थके समान दिखलाता हुआ श्यामसुन्दरके प्रति कहता है, कि

मू०—किं नो राज्येन गोविन्द ! किं भोगैर्जीवितेन वा।
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च॥
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।
आचार्य्याः पितरः पौत्रास्तथैव च पितामहाः॥
मातुलाः श्वसुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन !॥
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते।
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन !॥
॥३२॥३३॥३४॥३५॥

पदच्छेदः--हेगोविन्द+(गवां शास्त्रमयीनां वाणीनां विन्दः पतिः।यद्वा गवां गोसमूहानां विन्दः पालकः गवाध्यक्षः। यद्वा गांवेदलक्षणां वाणीम् गोभूम्यादिकं वा वेत्तीति। यद्वा गोभिर्वाणीभिर्वेदान्तवाक्यैर्विद्यते योऽसौ पुरुषः। तस्य सम्बोधने हे गोविन्द !) नः (अस्माकम्) राज्येन (राष्ट्रेण) किम् ? (कोलाभः) भोगैः (राजसुखैः) किम् (कोऽर्थः) वा (अथवा) जीवितेन (जीवितसाधनेन विजयेन। जीवनेन। जीवनयुक्तेन) [किम्] नः (अस्माकम्) येषाम् (बन्धुवर्गाणाम्। स्वीयानाम्।) अर्थे (कार्ये। निमित्ते।) राज्यम् (शासनाङ्कितं भूमण्डलम्) भोगाः (एश्वर्य्याणि)

+गोविन्दः—'अनुपसर्गाल्लिम्पेति'। ३। १। १३८। सूत्रमें देखो। इत्यस्य "गवादिषु विन्देः संज्ञायाम्"। इस वार्तिके से 'श' प्रत्यय करते है अर्थात् गवादि उपपद होनेपर संज्ञामें "विन्द" धातुवे उत्तर 'श' प्रत्यय हो- जैसे गां, भुवं, धेनु, स्वर्ग, वेद वा विन्दतीति गोविन्दः।

च (तथा) सुखानि (सुखसाधनविषयान्) काङ्क्षितम् (इच्छितम्। अभिलषितम् । अपेक्षितम्।) ते, इमे (पुरोवर्त्तिनः ।) आचार्य्याः (गुरवः। द्रोणाचार्य्यादयः)पितरः (जनकतुल्यो भूरिश्रवादयः)तथा, पुत्राः (आत्मजाः ।अभिमन्यु इत्यादि प्रभृतयः) एव, च (तथा) पितामहाः (पितुःपिता भीष्मादयः) मातुलाः (जननीभ्रातरः । पितृश्यालकाः । शल्य शकुनि प्रभृतयः) श्वसुराः (भार्य्यायाः जनयितारः। द्रुपदादयः) पौत्राः (पुत्रस्यपुत्राः । नप्तारः) श्यालाः+ (भार्य्यायाः भ्रातरो धृष्टद्युम्न प्रभृतयः) तथा [अन्यान्य] सम्बन्धिनः (ज्ञातयः । पितृपक्षाः पितृव्यादयः । मातृपक्षाः मातुलादयः) प्राणान् (जीवान् । हृन्मारुतान्। असून्) च (तथा) धनानि (द्रव्याणि । गोहिरण्य रजतरत्नसमूहान्) त्यक्त्वा (विहाय) युद्धे (संग्रामे। आस्कन्दने। साम्परायिके) अवस्थिताः (विशेषतः युद्धायस्थिताः) [किन्तु] हे मधुसूदन*! (मधुनामानं दैत्यं सूदयतीति यः तस्य-सम्बोधने) घ्नतः (अस्मान् मारयन्तः।) अपि । एतान् (सम्मुखे अवस्थान्) त्रैलोक्यराज्यस्य (सम्पूर्ण विश्वाधिपत्यस्य) हेतोः, अपि, हन्तुम् (हिंसितुम्) न (नैव) इच्छामि (कांक्षे । श्रद्धधामि) महीकृते (महीमात्रप्राप्त्यर्थं नु) किंतु! (कथन्नु) हे जनार्दन! (दुष्टजनान् अर्दयति पीडयतीतियः त-

+ श्याला इति स्याल शब्दो दन्त्यादिः । वि जामातुरुत वाथा स्यालात्। इति मंत्रवर्णात् । स्याल्लाजानावपनीति वा ला।जा ला।ज। • [illegible] सू[illegible] [illegible] |

* सूदन मधुरित्यस्य ।यस्मान्मधुसूदन ॥ " मधु कर्णाच मा[illegible]कि कृतकर्म शुभाशुभे भक्तानां कर्मणा चैव सूदनं मधुसूदन "

स्य सम्बोधने) धार्त्तराष्ट्रान् (धृतराष्ट्रस्य अपत्यान् दुर्योधनादीन्) निहत्य (मारयित्वा) नः (अस्माकम्) का(कीदृशी ?) प्रीतिः (सन्तोषः) स्यात् (भवितुमर्हति) ॥ ३२ ॥३३॥ ३४॥३५॥

पदार्थः—(गोविन्द!) हे कृष्ण ! (नः) हमलोगोंको (राज्येन) इस राज्यसे (किम ?) क्या लाभ ? (भोगैः) राज्य सुखसे अर्थात् राज्यके भोगोंसे (किम ?) क्या लाभ ? (वा) अथवा (जीवितेन) चिरकाल जीवित रहनेसे क्या लाभ ? क्योंकि (नः) हम लोगोंको (येषामर्थे) जिन अपने बांधव , स्वजन इष्टमित्रोंकी प्रसन्नताके लिये (राज्यम्) पृथ्वीमण्डलका राज्य (भोगाः) राज्य द्वारा प्राप्त विषयोंके भोग (च) और (सुखानि) नानाप्रकाके सुख (कांक्षितम्) अपेक्षित हैं (ते) वेही (इमे) ये सामनेवाले (आचार्य्याः) अपने गुरु (पितरः) पिताके तुल्य काका इत्यादि (तथा) और (पुत्राः) धृष्टद्युम्न इत्यादि पुत्रगण (एव च) भी और (पितामहाः) भीष्म इत्यादि दादा (मातुलाः) मामा (श्वसुराः) ससुर (पौत्राः) नाती तथा (सम्बन्धिनः) और भी अनेक सगे सम्बन्धवाले (प्राणान्) अपने-अपने प्राणोंको (च) और (धनानि) धनसम्पत्तिको (त्यक्त्वा) त्याग कर (युद्धे) इस युद्धमें (अवस्थिताः) संग्राम करनेकेलिये अडे खडे हैं। किन्तु (मधुसूदन !) हे मधुकैटब दैत्यके नाश करनेवाले मधुसूदन भगवान् ! (घ्नतः अपि) इनके हाथसे मरता हुआभी (एतान्)इन शत्रुओंको (त्रैलोक्यराज्यस्य) तीनोंलोकोके राज्यके (हेतोः)

लिये (अपि) भी (हन्तुम्) मैं मारडालना (न इच्छामि) न-हीं चाहत। (महिकृते) तो फिर केवल इस तुच्छ पृथ्वीके राज्यके लिये , (किन्नु) क्यों ऐसा करूं ? क्योंकि (जनार्दन !) हे प्रलय कालमें जनोंके नाश करने वाले जनार्दन भगवान् ! (धार्त्तराष्ट्रान्) धृत्तराष्ट्रके दुर्योधनादि पुत्रोंको (निहत्य) मार करके (नः) हम लोगोंको (का) कौनसी (प्रीतिः) प्रसन्नता (स्यात्) प्राप्त हो-गी ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन सब ओरसे उदासीन हो विश्वमात्र के विषयों से वैराग्य प्राप्त करता हुआ कहता है, कि [**किन्नो राज्येन गोविन्द! किं भोगैर्जीवितेन वा**] हे गोविन्द ! राज्यसे हमलोगों का क्या लाभ होगा ? उस राज्य के भोगों की प्राप्तिसे क्या सुधरेगा ? तथा इन राज्यभोगोंके लिये विशाल आयु प्राप्तकर चिरका-लपर्य्यन्त जीवित रहनेसे क्या लाभ होगा ? क्योंकि राज्य के भोगों की प्राप्ति किसी एक पुरुषको तो आनन्ददायक होही नहीं सकती है । भोग तो उन लोगोंके लिये हैं जिनके बाप, मा, काका, बाबा, बा-लबच्चे , साले, ससुर इत्यादि उस भोगसे प्रसन्नताको प्राप्तहों । जैसे किसीके घरमें विविध प्रकारके रत्नजटित आभूषण तथा नाना प्रकारके सुत्र दाम वस्त्र सजे धरे हों । दूधके फेनके समान उज्ज्वल सुनहरी शय्या सेजबन्दोंसे कसी पडीहो, पर इन विषयोंका सुख भोगनेवाला म-नुष्य एक भी उस घरमें न हो तो इनके धरे रहनेसे क्या लाभ? ये सब निरर्थक हैं ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि राज्यसुख अपने सम्बन्धियों सहित आ-

नन्द करनेके लिये है। जब एवम्-प्रकार भोग भोक्ता सब एक ठौर प्राप्तहों तब अधिक आयु कीभी आवश्कता है। क्योंकि यदि आयु विशाल नहुई तो भोग व्यर्थ हैं। सो हे गोविन्द! तुम भली भांति विचारकर देखो! कि इसमें क्या लाभ है ? क्योंकि [येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यँ भोगाः सुखानि च] जिन अपने बन्धुवर्गोंके लिये हमलोग राज्य, भोग और नाना प्रकारके सुखोंकी इच्छा कर रहे हैं, [तइमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानिच] वेही मेरे स्वजन वर्ग अपने प्राण और धन संपत्तिको त्यागकर युद्धमें तत्पर होनेके लिये नेत्रोंके सामने अडे खडे हैं। अर्थात् ये अपने प्राण तथा हीरे, लाल, मणि, माणिक इत्यादि समपत्तियों की आशा त्याग कर इस युद्धभूमि में होकर संग्राम करनेपर उद्यत हैं और एक दूसरेके अस्त्र शस्त्रकी ओर देखतेहुऐ युद्धके आरंभकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

हे प्रभो! यदि पूछो, कि वे कौन-कौन तुम्हारे बन्धुबर्ग हैं। जो इस युद्धमें प्राण देनेको तत्पर होरहे हैं ? तो सुनो— [आचार्य्याःपितरः पौत्रास्तथैव च पितामहाः] ये मेरे द्रोणाचार्य्य तथा कृपाचार्य्य, जो मेरी युद्धविद्याके गुरु तथा सर्व प्रकार मान्य और पूज्य हैं, मरने को तयार हैं, जिनको मुझे रणमें मारडालना पडेगा अथवा वे मुझे मारें गे। वह देखो! सामने हमारे पिताके तुल्य माननीय 'भूरिश्रवा' खडे हैं। हे दयामय! लीजिये वह देखिये आपका परम प्यारा भागिनेय अभिमन्यु, युधिष्ठिरका पुत्र प्रतिविन्ध्य, भीमका पुत्र सूतसोम, मेरा दूसरा पुत्र श्रुतिकीर्त्ति, नकुल का पुत्र शतानीक और सहदेवका पुत्र श्रुतसेन ये सब के

सब चार दिनके बच्चे अपने जीवनकी आशा छोड प्राण देनेको सामने खडे हैं। इनको देख किसके हृदयमें दया नहीं उपजेगी। क्या ये रणभूमिमें सदाकेलिये शयन करादेने योग्य हैं ? वह देखिये ! हमारे कुलश्रेष्ठ पितामह भीष्म भी युद्धका आरंभही करना चाहते हैं। भला इनके वाणों से व्याकुल होकर हमारे भाई भीम, दुर्योधन, नकुल और सहदेव कब इनको जीता छोडेंगे। हे दयासागर! इतनाही नहीं, वरु इनसे इतर और भी कौन-कौन हमारे सम्बन्धी प्राण देनेको उपस्थित हैं ? सो सुनो ! [**मातुलाः श्वसुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा**] वह जो दायें बाये शकुनि और शल्य खडे हैं वे दोनो हमारे मामा होते हैं। इनके साथ वह देखिये हमारे ससुर, राजा द्रुपद तथा हमारे पौत्र इत्यादि मरने के लिये कटिबद्ध होरहे हैं। वह देखिये ! इनके आगे पीछे हमारे श्याला धृष्टद्युम्न और शिखण्डी भी रणमें जूझने को तयार हैं। इनसे अतिरीक्त अन्यान्य जितने हमारे और कौरवोंके सम्बन्धी आये हैं सब मारे जावेंगे। युद्ध होते ही सहस्रों शव गिरपडेंगे। कागडे, श्याल, और कूकरोंक घरमें महा आनन्दमय गोट × होगा। हम लोंगोंके घर शोकसमुद्रमें वहायेजावेंगे ; हस्तिनापुर श्मशान सा भयंकर देख पडेगा। स्त्रीयोंके रुदनसे कान फटने लगजावेंगे। कोई किसीको पूछनेवाला नहीं होगा। हा! हे प्रभो ! अधिक कहां तक कहूं। मैं तो आपसे यही कहूंगा, कि (**एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतो मधुसूदन!**] हे मधुकैटभ

× "गोट"—संस्कृत गोष्ठ शब्दका अपभ्रंश है। बहुत लोगोंका एकसंग मिलकर भोजन करनेको कहते है- सभोजन, जियाफ़त, दावत।

दानव के वध करनेवाले मधुसूदन भगवान्! इनको भूलकर भी कभी मैं मारनेकी इच्छा नहीं करता, चाहे ये मुझको शस्त्रों द्वारा मारते रहें। मेरे मस्तकके खण्ड-खण्ड और मेरे शरीरके टुकडे-टुकडे कर डालें, पर मुझसे तो ऐसा तीन कालमें भी नहीं हो सकता है, कि इनके एक रोमको भी वांका करने की चेष्टा करूं।

हे प्रभो! यदि ऐसा कहो, कि तू इतना पश्चात्ताप क्योंकर रहा है? यदि तू रणको जीतेगा तो चक्रवर्त्ती होकर हस्तिनापुरकी गद्दी पर बैठेगा। सहस्रों नरेश तेरे आगे आकर मस्तक नवावेंगे। तेरी आज्ञाके प्रतिपालन करनेमें तत्पर रहेंगे। इससे बढकर क्षत्रियोंके लिये इस भूमण्डलमें दूसरा आनन्दही क्या है? तो हे नाथ सुनो! [अपि त्रैलोक्यराजस्य हेतोः किन्नु महीकृते] मेरा तो सत्य संकल्प यह है, कि इन अपने बन्धुवर्गोंको मारनेसे यदि स्वर्ग, मर्त्त्य और पाताल तीनों लोकोंका आधिपत्य प्राप्त होवे, तौभी मैं ऐसा नीच कार्य्य नहीं करना चाहता, तो भला केवल इस तुच्छ थोडी सी पृथ्वी के राज्यके लिये मैं कब इनको मार सकता हूं? निरर्थक व्यवहारमें बुद्धिमान् कदापि अपना समय नहीं लगाता। इसलिये हे प्रभो! मेरे विचारमें तो यह युद्ध निरर्थक है! क्योंकि [निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नः का प्रीति स्याज्जनार्द्दन!) इस दुर्योधन इत्यादि अपने चचेरे भाईयोंको मारकर हमलोगोंको क्या प्रसन्नता प्राप्त होगी तो हे दीनवन्धो! ऐसे भोगको रोग समझना चाहिये!

हे दीनदयाल! विचारो तो सही! जैसे कोई प्राणी अपने घरमें नानाप्रकारके पक्वान्न वनारखे, पर निमंत्रण देनेपर उसके घर एक पा-

हुना भी न आवे तो वे पक्वान्न मिट्टीके तुल्य समझे जावेंगे। जैसे कोई पतिव्रता अपने पतिके पधारनेके लिये अपने घरमें रत्नका सिंहासन तयार कर रखे, उसके मुखपर पवन करनेके लिये स्वर्णका पंखा बनवा रखे और आरती उतारनेके लिये चौमुखी बत्ती बालरखे, पर उसका पति उसके घर न आवे तो उस पतिव्रताके सब पदार्थ धूलके समान समझेजावेंगे। इसी प्रकार हे भगवन्! इन स्वजनोंके बिना राज्यके सम्पूर्ण भोगोंको धूल समझना चाहिये। हे देव! इस बेचारे तुच्छ बुद्धि दुर्योधनको मारकर क्या लाभ होगा। इन बुद्धिकी चक्षुसे विहीन दुर्योधनादिको कुछसी हानि लाभकी बातें सूझती ही नहीं हैं। ये विशाल तृष्णावाले परम दरिद्री प्राण देनेको तत्पर होरहे हैं। सो हे भगवन्! ये मूर्खता वश जो चाहे करें, पर मैं तो हे जनार्दन! इनसे युद्ध कदापि नहीं करूंगा।

अर्जुनने भगवान्को श्लो० ३२में 'गोविन्द' श्लो० ३४में 'मधुसूदन' और श्लो०३५में 'जनार्दन' तीनों विशेषणोंसे विभूषित कर पुकारा है। इन तीनोंके अर्थ और उन अर्थोंसे अर्जुनके अन्तःकरणके कितने प्रकारके भाव प्रकट होते हैं- पाठकोंके बोधार्थ यहां संक्षिप्तरूपसे वर्णन करादिये जाते हैं। "गोविन्द" शब्दके अर्थ ये हैं—

१. "गोभिर्वाणीभिर्वेदान्तवाक्यैर्विद्यते योऽसौ पुरुषः। विदन्ति यं पुरुषं तत्त्वज्ञा इति वा" अर्थात् 'गो' कहिये वाणीको, तिन वाणियोंसे अर्थात् वेदान्तके वाक्योंसे जो पुरुष जाना जावे उसे कहिये "गोविन्द" फिर इसी अर्थमें "गोपालपूर्वतापिनीयोपनिषत्की" प्रथम श्रुति है, कि—

ॐ"गोभूमिवेदविदितो वेदिता गोपीजनाविद्याकलाप्रेरकः" अर्थात् गो, भूमी और वेदवाणी द्वारा जो जानाजावे तथा गोपीजनोंके प्रति जो अपनी माया कलाकी प्रेरणा करे उसे कहिये 'गोविन्द' ।

२. गवां शास्त्रमयीनां वाणीनां विन्दः पतिः' (बृहस्पतिः) 'गो' जो शास्त्रमयीवाणी हैं तिनका जो पतिहो उसे कहिये "गोविन्द"।

३. " युगे-युगे प्रणष्टां गां विष्णो! विन्दसि तत्त्वतः। गोविन्देति ततो नाम्ना प्रोच्यते ऋषिभिस्तथा "। युग-युगमें जब-जब यह पृथ्वी नष्ट होती है तब-तब तुम तत्त्वतः इसकी रक्षा करते हो। इसलिये तुम ऋषियोंके द्वारा गोविन्द नामसे ख्यात हो।

४. " गवां गोसमूहानां विन्दः पालकः" गउओंके समूहको जो पालनकरे उसे कहिये 'गोविन्द'।

अब इन अर्थोंसे जो अर्जुनके मनके भाव प्रकट होते हैं
वर्णन किये जाते हैं।

प्रथम अर्जुन अपने मनका भाव यों प्रकट करता है- कि "हे भगवन् ! वेद-वेदान्तकी वाणियों द्वारा तुम जाने जाते हो। विवेकी इनहीं वचनों द्वारा तुमको जानते हैं। इसी कारण तुम स्वयं भी अवतारादि ग्रहणकर वेदादि वाणियोंकी रक्षाकर मर्य्यादा रखतेचले आये हो! तिन वाणियोंको यदि मैं उल्लंघन करदूं अथवा उपेक्षा करदूं, न मानूं, उनके प्रतिकूल चलूं, तो तुम जो इस समय न जाने किस मेरे पूर्व पुण्यके उदय होनेसे मेरे सारथी बनेहुए मेरे समीप उपस्थित हो, शीघ्र मुझे त्याग मुझसे विलग होजाओगे। फिर मैं तुम

को कहां पाऊंगा। इसकारण हे गोविन्द! मैं तो कदापि तुम्हारे वेद वाणियोंका उल्लंघन नहीं करूंगा। यदि कहो, कि तू मेरी कौन कौनसी वाणियोंका उल्लंघन करता है? तो सुनो! तैत्तिरीयोपनिषद्में तुम्हारे वचन हैं कि "मातृदेवोभव! पितृदेवोभव! आचार्य्यदेवोभव"! अर्थात माता पिता और गुरुओंको ही अपना इष्टदेव जानकर उनकी पूजा, सेवा और शुश्रूषा कियाकर! इन आज्ञाओंको न मानकर, हे गोपाल! यदि मैं इन अपने माता, पिता और आचार्य्यको अथवा इनके सम्बन्धियोंको मारकर घोर पापी बनजाऊं, तो तुम मुझे क्या सदाके लिये परित्याग नहीं करदोगे? क्योंकि हे देव! जिन वेदवाणियों द्वारा तत्त्वज्ञ तुमको जानते हैं, यदि मैं उन वचनोंका निरादर करदूं, तो तुम मुझसे नहीं जाने जाओगे; अर्थात् मैं तुम्हारे यथार्थ रूपके जाननेका अधिकारी न रहूंगा। शुभाशुभ कर्मरूप वायुके झकोडोंसे भवसागरकी लहरोंमें नजाने कितने काल पर्य्यन्त धुघडता फिरूंगा। इसकारण हे गोविन्द! मैं इस युद्धके घोर पाप में लिप्त होना नहीं चाहता"।

दूसरा भाव अर्जुनके मनका यह है- कि "हे नाथ! आप जैसे शास्त्रमयी वाणियोंके पति हो इसीप्रकार हम पांचो भाई तुम जगतपति को अपना पति जानते हैं। इसलिये हमलोगों की रक्षा करो";

तीसरा भाव अर्जुन अपने मनका यों प्रकट कररहा है--कि "हे प्रभो! आप युग-युगमें प्रलयकालके समय मत्स्य तथा वाराह इत्यादि अवतार धारणकर वेदोंकी तथा इस पृथ्वीकी रक्षा करते चलेआये हो, सो आज कृपा कर उसी अपनी दया शक्तिसे इन मेरे कुटुम्बियोंको तथा मुझको इस

प्रलयके समान युद्धसे बचादो !

चौथा भाव अर्जुनका यह है-कि 'हे प्रभो! आप गउओंको पालन करनेसे 'गोविन्द' कहलातेहो! इस समय हम पांचों भाई तथा हमारी धर्म्मपत्नी द्रौपदी हमारी माता कुन्ती रक्षित गउओंके समान तुम्हारे शरण हैं, तिनको तुम दुर्योधन रूप कुलनाशक कसाईके हाथसे बचाओ ! इस आपत्तिकालमें 'गोपाल' ऐसा अपना विरद संभालो "!

प्रिय पाठको ! अर्जुनने भगवान्के प्रति इतने भाव प्रकट करनेके तात्पर्य्यसे श्लो० ३२में 'गोविन्द' कहकर पुकारा है !

अब श्लोक ३४में वहेहुए ' मधुसूदन ' शब्दके अर्थ दिखलाये जाते हैं।

१. " मधु तन्नामानं असुरं सूदयति नाशयतीति मधुसूदनः" जो मधू नामक दैत्यको नाशकरे उसे कहिये " मधुसूदन " ।

२.'मधुपुष्परसं सूदयति भक्षयतीति मधुसूदनः' (जटाधरः) मधु जो पुष्पका रस तिसे जो भक्षण करे उसे कहिये" मधुसूदन" अर्थात् 'भ्रमर' ।

३."मधु क्लीवं च माध्वीके कृतकर्म शुभाशुभे। भक्तानां कर्मणां चैव सूदनं मधुसूदनः×॥ परिणामाशुभं कर्म्म भ्रान्तानां मधुरंमधुः। करोति सूदनं यो हि स एव मधुसूदनः।" ("ब्रह्मवैवर्त" श्री कृष्ण जन्मखण्ड अध्याय १११ श्लोक ३०,३१) संक्षिप्त अर्थ यह है, कि मधु शब्द क्लीव होकर माध्वीक अर्थात् मधुके अर्थमें आता है। इस

×(सूद् + णिच् + ल्युः)

कारण मायाके मदसे मत्त होकर जो शुभाशुभ कर्म किये जाते हैं उसेभी मधु कहते हैं। अतएव भक्तोंके तिन शुभाशुभ कर्मफलोंके जो नाश करके अपनी भक्ति प्रदान करे तिसे कहिये 'मधूसूदन'। तथा भ्रान्तबुद्धि वालोंको जो अशुभ कर्म्म मधुके समान मीठे जान पड़ते हैं तिनके दुःखदायी परिणामोंको जो नाश करे उसे कहिये "मधुसूदन"

अब इन अर्थोंसे अर्जुनके मनके जितने भाव प्रकट होते हैं दिखलाये जाते हैं।

प्रथम भाव यह है कि—"हे मधुसूदन! तुम जो साक्षात् मधुकैटभ दानवको नाश कर भक्तोंकी रक्षा करनेवाले हो, इस समय इस युद्धरूप मधुकैटभ दानवको शीघ्र शान्तकर हम भक्तोंकी जान बचाओ!"

दूसरा भाव 'मधुसूदन' कहनेका यह है— कि "जैसे मधुसूदन जो भ्रमर वह कमलकी चारों ओर गुंजार करता हुआ उसके भीतर प्रवेशकर परम आनन्दमें शयन करजाता है, ऐसे तुम, जो भक्तोंके हृदय कमलके भ्रमर हो, कृपा कर सारे विघ्नोंको नाशकर इस घोर युद्धरूप हिमसे मुरझायेहुए मेरे हृदयकमलको प्रफुल्लितकर सदा इसकी चारों ओर गुंजार करते हुए इसके भीतर प्रवेशकर निवास करते रहो। ऐसे करनेहीसे इस युद्धका सारा उपद्रव शान्त होजावेगा"।

तीसरा भाव अर्जुनके मनका यह है—कि "हम भक्तोंके जिन कर्मोंके उदय होनेसे इस युद्धका संयोग आन पडा है तिन कर्मोंको शीघ्र नाश कर इस घोर पापसे बचाओ! तथा इन भ्रान्तबुद्धि कौरवोंको जो अशुभ फलका उत्पादक यह युद्ध मधुर जानपड़ता है तिस

के दुःखदायी परिणामोंसे इनको बचाओ !

अब श्लो० ३५ में कहेहुए ' जनार्दन ' शब्दके अर्थ सुनो !

१. " समुद्रान्तवासिनो जननाम्नोऽसुरान् अर्दितवान् जनार्द-नः * "। अर्थ--समुद्रके अन्तमें रहनेवाले जन नामक असुरोंको जो वध करे उसे कहिये 'जनार्दन' ।

२. " जनैर्लोकैरर्द्यते+ याच्यते पुरुषार्थमऽसौ जनार्दनः " अर्थ -- लोकोंसे जिसके द्वारा पुरुषार्थ की याचना की जावे अर्थात् सृष्टिमात्रके प्राणी जिससे अपने पुरुषार्थकी याचना करें उसे कहिये 'जनार्दन' ।

३. " * जनंजन्म अर्दयति हन्ति भक्तेभ्यो मुक्तिदत्वादितिजना-र्दनः " अर्थ- भक्तोंको मुक्तिदेकर उनके जन्मोंको जो नाश करे उसे कहिये " जनार्दन "

४. "+ जनयति उत्पादयतिलोकान् ब्रह्मरूपेण सृष्टि कर्तृत्वात्। अर्दति हन्ति लोकान् हररूपेण संहार कारित्वादिति जनार्दनः । ज-नाश्चासौ अर्दश्चेति " जनार्दनः " अर्थ जो ब्रह्मरूपसे सृष्टिकर लोकों को उत्पन्न करता है और शिवरूप होकर सबोंको नाशक रता है ऐसे उत्पन्न और नाशकरनेवालेको कहिये 'जनार्दन' ।

५. " जनान् लोकान् अर्दति गच्छति प्राप्नोति रक्षणार्थं पाल-कत्वादिति जनार्दनः " (अमर टीकायां भरत :) जो अपने पालन

---

*अर्दन- वधे-अर्द-कच नन्दादित्वादन ।+ अर्द- यातनागति याचनेषु- कर्मणिअनट्

*जनन जनः । भावे घञ । + जनः जनेर्ण्यन्तात् पचाद्यच् ।

करनेवाले गुणसे लोकोंकी रक्षाकेलिये दौडता है उसे कहिये 'ज-नार्दन' ।

अब इन अर्थोंसे अर्जुनके मनके जितने भाव प्रगट होते हैं दिखलाये जाते हैं—

प्रथम भाव अर्जुनका यह है—कि " हे जनार्दन ! जैसे तुमने समुद्रके निवासी राक्षसों कानाश करडाला था ऐसे मेरे शोक, मोह, अज्ञान, कृपणता, कातरता , स्वार्थ इत्यादिको जो राक्षसोंके समान मुझे दुःखदायी होरहे हैं नाश करडालो ! "

दूसरा भाव अर्जुनका यह है—कि "हे जनार्दन! जो प्राणीमात्र अपने-अपने पुरुषार्थकी वृद्धि की याचना तुमसे करते हैं उनमें एक इस अपने दास अर्जुनको भी जानकर कृपादृष्टिकर ऐसा पुरुषार्थ प्र-दान करो जिससे झट इस घोर युद्धसे छुटकारा पा तुम्हारे चरणोंमें जा मिले "।

तीसरा भाव यह अनुभव होता है—कि " हे जनार्दन तुम जो अपने जनोंके बारबार जन्म लेनेका बखेडा अर्दन कर अर्थात् नाश करे मुक्ति प्रदान करते हो सो तुम मेरेभी आगामी सब जन्मोंको नाशकर मुक्ति प्रदान करो !"

चौथा भाव अर्जुनके मनका ऐसा प्रकट होता है—कि "हे जनार्दन !यदि इस समय सबोंके नाश करनेकी और अपने जनार्दन नामको सत्य करनेकी इच्छा हो तो तुम केवल एक प्रलयकाल वाली दृष्टिसे इन उपस्थित वीरोंकी ओर देखदो ! फिरतो क्षणमात्रमें इन सबों

की रेखमात्र भी कहीं नहीं रहेगी। यदि इसी तात्पर्य्यसे तुमने इस युद्धको निमित्तमात्र कर रखा हो तो फिर विलम्ब क्या है? झट इनका संहारकर पृथ्वीका बोझ उतारदो! पर हे प्रभो! मैं तो अब इस युद्धमें एक छोटीसी पिपीलिका पर भी हाथ न छोडूंगा! तुम मुझे तो छुटकारा दो और तुम जैसे चाहो वैसे सबोंको संहार करडालो! यही मेरी प्रार्थना है। यदि कहो, कि तू अपना राज्य लौटानेके लिये स्वार्थवश यहां लडने आया है, मैं इनको संहार कर तेरा पाप अपने सिरपर क्यों लूं? तो हे भगवन्! तुम तो उत्पन्न और संहार करनेके कारण ही 'जनार्दन' कहलाते हो। तुमको मारडालनेका पाप लगही नहीं सकता। क्योंकि उन मरेहुओंको फिर जिला देनेकी शक्ति भी तो तुमही में है। जिलानेकी शक्तिवालेको मारनेका पाप कैसा?

पांचवां भाव अर्जुनका यह है, कि—'हे भगवन्! तुम जो जनोंके दुःखको नाश करनेके लिये उनके निकट अर्दन करते हो; अर्थात् झट पहुंच जाते हो, जैसे द्रौपदीके चीरहरणके समय झट उसके समीप पहुंच उसकी रक्षाकी, उसी प्रकार इस समय मेरी भी रक्षा करो'!

एवम्-प्रकार जनार्दन कहकर अर्जुनने अपने मनके सारे भाव प्रकट करदिये और कहा, कि—"हे जनार्दन! इन धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मार कर हमलोगोंको क्या प्रसन्नता होगी? कुछभी नहीं! इसकारण मैं इनको वधकरना नहीं चाहता! ॥ ३२॥ ३३॥ ३४॥ ३५ ॥

अब अर्जुन भगवान्‌को यह दिखलाता है, कि इनके मारनेसे मुझे घोर पापही लगेगा। अन्य कुछ लाभ न होगा।

मू०—पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्त्तराष्ट्रान् * स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव! ॥३६॥

पदच्छेदः—माधव ! (मा लक्ष्मीस्तस्या धवः पतिः । मायाविद्याया धव इति वा, तस्य सम्बोधने) एतान् (पुरोवर्त्तिनः) आततायिनः (गरलगर शस्त्रेभ्यो प्राणिवधोद्यतपापिनः) हत्वा (हननं कृत्वा । मारयित्वा) अस्मान् (मया सह पञ्चभ्रातृन युधिष्ठिरादीन) पापम् (अधर्म्मः) एव (निश्चयेन) आश्रयेत् (अवलम्बयेत् । संश्रयेत !) तस्मात् (अतः। अनेनहेतुना) वयम्, स्वबान्धवान (स्वबन्धुवर्गान) धार्त्तराष्ट्रान् । (दुर्योधनादीन) हन्तुम् (वधकर्त्तुम्। हिंसितुम्) न, अर्हाः (योग्याः) हि (यस्मात) स्वजनम् (आत्मीयलोकम् । ज्ञातिम्) हत्वा (हिंसित्वा) कथम् (केन प्रकारेण ?) सुखिनः (सुखयुक्ताः) स्याम ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(माधव!) हे मायापति वासुदेव! (एतान्) इन सामनेवाले (आततायिनः) घोरपापियोंको (हत्वा) मारकर (अस्मान) हमलोगोंको (पापम्) पापही (एव) निश्चयकरके (आश्रयेत्) आश्रयकरेगा; अर्थात हमलोगोंमें पापही लिपट जावेगा (तस्मात्) इसकारण (वयम्) हमलोग(स्वबान्धवान्) अपने चचेरे भाई (धार्त्तराष्ट्रान्) धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनादिको (हन्तुम्) मारडालनेके (न, अर्हाः) योग्य नहीं हैं (हि) क्योंकि (स्वजनम्) अपने ज्ञातिको (हत्वा) मारकर

* बहुतेरी पुस्तकोंमें "स्वबान्धवान्" पाठ है, पर महाभारत ग्रन्थमें "स्वबान्धवान्" पाठ है ।

हमलोग (कथम् ?) कैसे (सुखिनः) सुखी (स्याम) होवेंगे ॥ ३६ ॥

भावार्थः-- अब अर्जुन अपने मनके भिन्न-भिन्न भावोंको प्रकट करता हुआ अन्तमें भगवान्के प्रति स्पष्टरूपसे कहता है, कि तुम चाहो जिसे मारो जिसे जिलाओ ! पर यदि हमलोग ऐसा करें तो हमारी क्या दशा होगी? सो सुनो ! [पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः] इन दुर्योधनादि घोर पापियोंको, जिनकी गणना आततायियोंमें है, मारनेसे हमलोगोंको तो पापही आश्रयण करेगा; अर्थात् लिपट जावेगा। जैसे चारोंओरसे वेलियां लिपटकर वृक्षको ढकलेती हैं, इसीप्रकार हमलोगोंके शरीरमें पापही लिपटकर हम लोगोंको चारों ओरसे ढकलेवेगा। हमलोग पापकी मूर्त्ति-ही होजावेंगे। यदि यह कहो, कि जब तू इनको आततायी कहता है तो इनके मारनेमें क्या दोष है ? क्योंकि--" अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदाराहरश्चैव षडेते आततायिनः* ॥ आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारन् । नाततायीवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन"॥ अर्थ-"आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें खड्गादि शस्त्रोंको लिये हुए मारनेके लिये आनेवाला, धन हरनेवाला, पृथ्वी हरनेवाला और दारा हरनेवाला ये छवों आततायी कहे जाते हैं। आततायीको अपने सम्मुख आते देख विना किसी प्रकारके विचार किये मारही डालना चाहिये। क्योंकि आततायीको मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं लगता है। सो हे भगवन् ! यह आपका वचन सत्य है, पर यह वचन अर्थशास्त्र

* (आतत + अय + णिन्) । वधोद्यत इत्यमरः।

अर्थात् राजनीतिका है। पर धर्म्मशास्त्र तो यों कहता है, कि—'नहिंस्यात्सर्वभूतानि' सर्व जीवोंकी हिंसा न करे; अर्थात् क्षुद्रजीवोंको भी न मारे। इस कारण मै केवल धर्म्मशास्त्रका अवलम्बन कर इन आततायियोंकी भी हिंसा नहीं करना चाहता। हां! तुम जैसे चाहो इनको दण्ड करो! तुमको तो किसी प्रकारके शुभाशुभ धर्म्म लिपटते ही नहीं, पर हम साधारण जीवोंको इतनी शक्ति कहां है? कि किसीके पापों का दण्ड दिया करें। हम जीवों को तो अपनेही पापों से छुटकारा नहीं है। इसकारण इनको मार और भी मैं अपने पापके बोझको भारी करना नहीं चाहता। इसलिये [तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्त्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् +] हमलोग अपने चाचाके प्रिय पुत्र अपने बन्धुवर्गोंको तथा उनकी सहायता करनेवाले अन्य सम्बन्धियोंको उनके पापके दण्ड निमित्त युद्ध द्वारा मारनेके अधिकारी नहीं हैं। धर्म्मशास्त्र कहता है, कि—"स एव पापिष्ठतमो यः कुर्य्यात् कुलनाशनम्" वह प्राणी परम घोरपापी है जो अपने कुलका नाश करे। इसलिये हम लोगोंको ऐसा करके पापिष्ठतम होना उचित नहीं। सोचो तो सही! कि [स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव!) हे माधव! अपनेही बन्धुवर्गोंको हनन करके हमलोग भला कैसे सुखी होवेंगे? अर्थात् कभी भी सुखी नहीं होवेंगे। क्योंकि जिनको लेकर सुखी

+ इस अर्द्धश्लोकका योंभी अर्थ होसकता है, कि "अस्मान् हत्वा एतान् आततायिनः पापम् एव अश्रयेत् ।" हमलोगोंको मारकर इन आततायियोंमें पाप ही लिपटजावेगा।

होना है, जब देही न रहे तो उस सुखको दुःख कहना चाहिये।

यहां अर्जुनने जो भगवानको "माधव" कहकर पुकारा है। तहां अर्जुनके मनका भाव प्रकट करदेनेके लिये 'माधव' शब्द की व्युत्पत्ति अर्थ सहित की जाती है— "मा" लक्ष्मीः तस्याः "धवः" अर्थ—'मा' कहिये लक्ष्मीको तिसका जो 'धव' अर्थात् पति होवे उसे कहिये "माधव" अथवा 'मायाविद्याया धवः' अर्थ—माया जो अविद्या तिसका जो 'धव' अर्थात् पति हो उसे कहिये 'माधव'। सा च ब्रह्मरूपा या मूलप्रकृतिरीश्वरी। नारायणीति विख्याता विष्णुमाया सनातनी॥ महालक्ष्मीस्वरूपा च वेदमाता सरस्वती। राधा वसुन्धरा गंगा तासां स्वामी च माधवः॥ (ब्रह्मवैवर्त्त श्रीकृष्णजन्मखण्ड १११ अध्यायमें देखो) अर्थ 'मा' जो साक्षात् ब्रह्मरूपा मूलप्रकृति है, जो ईश्वरी है, जो नारायणी करके प्रसिद्ध है, जो विष्णुभगवान्की सनातनी माया है, जो महा लक्ष्मीकी मूर्त्ति है, जो वेदोंकी माता गायत्री और सरस्वती स्वरूपा है और जो राधा, वसुन्धरा और गंगाके नामसे पुकारी जाती है, तिसका जो स्वामी तिसे कहिये "माधव"।

तहां इस माधव ऐसे सम्बोधनसे अर्जुनका यह अभिप्राय है, कि हे भगवन्! आपतो साक्षात मायापति हैं। ऐसी माया करो! जिसमें इन दुष्ट आततायियोंकी बुद्धि निर्म्मल हो जावे। ये युद्ध छोड सन्धि करलेवें।

दूसरा आन्तरिक अभिप्राय यह-भी है, कि 'आपजो लक्ष्मीके पति साक्षात मेरे हाथ लगगये हो! तो अब मेरे पास कमी किस बातकी रही? फिर मैं हस्तिनापुरकी तुच्छ गद्दीके लिये कुलनाशक कहलाकर अपने

को सदाके लिये कलंकित क्यों करूं? हे प्रभो! आपतो सहस्रों हस्तिना पुरके तुल्य एक राजधानी अपनी सृष्टिमें जहां चाहो बनाकर दान कर सकते हो। फिर मुझे और क्या चाहिये? जिसके लिये घोर पापी बनूं? हे माधव! मैं नहीं जानता, कि इन बान्धवोंको मारकर कैसे सुखी होसकूंगा? ॥ ३६ ॥

हे भगवन्! यदि यह कहो, कि तू उनको नहीं मारेगा तो वे तो तुझे अवश्य मारेंगे। सो वे ऐसा करें तो करनेदो! सुनो!

मू०— यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन!
॥ ३७॥ ॥३८॥

पदच्छेदः—जनार्दन! (हे दुष्टप्रपीडनसमर्थवासुदेव! यद्वा प्रलयकाले जनानां नाशने समर्थ!) लोभोपहतचेतसः (राज्यलोभेन उपहतं भ्रष्टंचेतो अन्तःकरणं येषाम् ते) एते (सम्मुखेऽवस्थिताः) यद्यपि। कुलक्षयकृतम् (वंशनाशेनोत्पादितम्) दोषम् (पापम्) च (तथा) मित्रद्रोहे (सुहृदनिष्टचिन्तने। सखाऽपक्रियायाम) पातकम् (अधर्मम्) न (नहि) पश्यन्ति (अवलोकयन्ति) [तथापि] कुलक्षयकृतम् (आत्मीयवंशहननोत्पादितम् दोषम्। कलुषम्। कल्मषम्। पातकम्।) प्रपश्यद्भिः (उत्कर्षेण अवलोकयद्भिः।) अस्माभिः (परमोत्कृष्टपाण्डुकुलमर्य्यादारक्षकैः) अस्मात् (कुल-

क्षयात्) पापात् (कलुषात् ।) निवर्त्तितुम् (निवृतोभवितुम्) कथम् (किम्) न (नहि) ज्ञेयम् (ज्ञातव्यम् । अवगन्तव्यम् । मन्तव्यम्) ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

पदार्थः— (जनार्दन !) हे भक्तजनोंके जन्मोंको नाश कर मुक्ति प्रदान करनेवाले भगवान् वासुदेव ! (लोभोपहतचेतसः) लोभसे मारी गयी है बुद्धि जिनकी (ऐसे) ऐसे जो ये दुर्योधनादि हैं वे (यद्यपि) यद्यपि (कुलक्षयकृतम्) अपने कुल नाश करनेका (दोषम्) पाप (च) और (मित्रद्रोहे) मित्रोंसे द्रोहकरनेमें (पातकम्) जो पातक तिस पातकको (न पश्यन्ति) नहीं देखते हैं तो न देखें , पर तिस (कुलक्षयकृतम्)वंशके नाश कियेजानेके (दोषम्) पातकको (प्रपश्यद्भिः) । हमदेखतेहुओंके द्वारा (अस्मात् पापात्)इस पापसे (निवर्त्तितुम) निवृत होनेका उपाय (कथम्) क्यों (न ज्ञेयम्) नहीं जानने योग्य है ? अर्थात् ये अन्धे तो इस पापको नहीं समझते हैं ,पर हमलोग, जो आंखवाले होकर इस वंशनाशका पाप देख रहे हैं, इससे क्यों न निवृत हो जावें? ॥३७॥३८॥

भावार्थः—अब अर्जुन भगवान्के प्रति इस युद्धमें घोर पातक दिखलाता हुआ कहता है, कि हे प्रभो ! [यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः] यद्यपि ये धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनादि जो मेरे सामने अपने सहायकोंके सहित युद्ध करनेको उपस्थित हैं, लोभके कारण अंधे होरहे हैं। लोभने इनकी आंखों पर अज्ञानताकी पट्टी बांधदी है । इस कारण इनको यह नहीं सूझता है. कि वंशके

लोगोंको नाश करडालने वा नाश करवा डालनेमें कैसा घोर पातक लगता है ? ।

सच है ! लोभ एक ऐसा प्रबल पिशाच है, कि जिसके सिर पर चढता है उसे बावला बनादेता है । आंखोंसे अंधा और कानोंसे बहरा करडालता है । कुविचारी, अन्यायी तथा घोर पातकी बना डालताहै " लोभात्क्रोधः प्रभवति क्रोधाद्द्रोहः प्रवर्त्तते । द्रोहेण नरकं याति शास्त्रज्ञोऽपि विचक्षणः ॥ मातरं पितरं पुत्रं भ्रातरं वा सुहृत्तमम् । लोभाविष्टो नरोहन्ति स्वामिनं वा सहोदरम् । लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम् । तृष्णार्त्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः " ॥ अर्थ—लोभसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे द्रोह, द्रोहसे बहुत बडा विद्वान चतुर प्राणी भी सीधे नरकको चला जाता है। लोभ वश होकर मनुष्य अपने माता, पिता, पुत्र, बन्धुवर्ग अथवा अपने परम प्रेमी पुरुष, वा अपने स्वामी वा सहोदर भाईको भी विना विचारे मारडालते है । लोभसे बुद्धि चंचल होकर भ्रष्ट होजाती है । सो लोभ तृष्णाको उत्पन्न करता है। तिस तृष्णासे ग्रस्त मनुष्य लोक और परलोक दोनोंमें दुःख पाता है ।

अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! ये दुर्योधनादि लोभसे अन्धे होनेके कारण क्या नही देखते ? सो सुनो [कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्]कुलके नाश होनेसे क्या पातक लगता है? कुलकी मर्य्यादा किस प्रकार नष्ट होजाती है ? कुलमें क्या क्या विशेष विकार उत्पन्न हो जाते हैं? और कुलमें किस प्रकारका कलंक लगता है ?

सो ये अन्धे नहीं देखते। भला कुलके नष्ट होनेसे तो अगणित पाप उत्पन्न होते हैं, पर हे नाथ! अधिक क्या कहूं? इन दुर्बुद्धियोंकी आंखें ऐसी मूंद रही हैं, कि ये संसारमें प्रसिद्ध मित्रद्रोहके पातकको भी नहीं देखते। क्या कहूं? सब जानते हैं, कि मित्र ऐसे अपूर्व रत्नका न तो निरादर करना चाहिये, न उसे त्यागना चाहिये। क्योंकि संसारमें मित्ररूप रत्नसे अधिक कोई दूसरा रत्न नहीं है। अन्य जितने रत्न हैं सब जड़ हैं, पर ये चैतन्य मित्र तो समय पड़ने पर अपने मित्रके पसीनेके स्थानमें अपना रुधिर गिरानेको तयार रहते हैं। इस मित्ररूप रत्नके विषय यों कहा है--"शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम्। केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम्॥ पापान्निवारयति योजयते हिताय गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटीकरोति। आपद्गतं च न जहाति ददाति काले सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥" अर्थ—शोक और शत्रुओंके भयसे रक्षा करनेवाला, प्रीति और विश्वास का पात्र, जो मित्र है, ऐसे दो अक्षरवाले रत्नको न जाने किसने रचा? जो मित्र अपने मित्रको पाप करनेसे रोके, हितकी बात उपदेश करे, उसकी गुप्त बातोंको छिपावे, गुणोंको प्रकट करे, आपत्तिकालमें साथ न छोड़े और समय पड़नेपर यथाशक्ति द्रव्य इत्यादि द्वारा सहायता करे; उसे सन्तोंने उत्तम मित्रोंके लक्षण युक्त कहा है।

प्रिय पाठको! महाराज भर्तृहरिने उत्तम मित्रताके विषय यों दृष्टान्त दिया है—"क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः, क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा ह्यात्मा कृशानौ हुतः। गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद् दृष्ट्वा तु मित्रापदम्, युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री

पुनस्त्वीदृशी। अर्थ—दूधमें जब जल मिलगया अर्थात् जलने जब दूधसे मित्रताकी तब उस दूधने अपने सब गुण और रूप अपने मित्र जलको देदिये तब जलने भी अपने मित्र दूधको अग्निका ताप सहते देख अपनेको अग्निमें हवन करदिया। तब दूधने भी अपने मित्र जलको आगमें पड़ते देख अग्निमें पड़ना चाहा, किन्तु जलके छींटे पाकर अर्थात् अपने मित्र को अपने पास आयाहुआ जान शान्त होगया। भर्तृहरि कहते हैं,कि सत्पुरुषोंकी मैत्री इसी प्रकार होती है। "यस्य मित्रेण संलापस्ततो नास्तीह पुण्यवान्।" अर्थ—उस पुरुषसे अधिक कोई दूसरा पुण्यवान् इस संसार में नहीं है, जिसको सदा मित्रके साथ परस्पर प्रेम भरे वचनोंसे बातचीत करनेका सौभाग्य लाभ होता है।

प्रिय पाठको! इसी लौकिक मित्रताके अभ्याससे उस मुरलीवाले मित्रसे अलौकिक मित्रता लगती है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि मित्रसे जो द्रोह करे उसे मित्रद्रोह का घोर पातक प्रथम इसी लोकमें दरिद्र बनाकर कुष्ठ रोगसे पीड़ित करता है, पश्चात् परलोकमें नरककी आगमें खोर-खोर कर डाहता है। अर्जुन कहता है, कि हे भगवन्! ऐसे मित्रद्रोहमें क्या पाप है? सो भी इन अन्धोंको नहीं सूझता। ये तो राज्य के लोभसे अपने मित्रोंको हनन करना चाहते हैं। पर हे सर्वज्ञ सर्वसाक्षिन्! [कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्] ऐसे कुलके नाश करडालनेका पाप तथा मित्रोंसे द्रोह करनेके पातक हम लोगोंके द्वारा क्यों नहीं विचार करने योग्य हैं? अर्थात् इन घोर पातकोंको हमलोग आंखवाले होकर नहीं देखेंगे, तो कौन

देखेगा? अभिप्राय यह है, कि इस युद्धमें इस प्रकारके पातकोंका डर है, इस कारण युद्ध छोड़कर चला जाना उचित जान पड़ता है। क्योंकि [**कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन !**] हे जनार्दन! हम लोगोंको तो कुलके नाश करनेका पाप प्रत्यक्ष दीख रहा है। इसलिये हम देखनेवालोंसे इसकी निवृत्ति क्यों न कीजावे? अर्थात् वे नहीं देखते, पर हमतो देखरहे हैं, कि कुलके क्षय करनेका पाप हमारी दृष्टिके सामने बड़े भयंकर रूपसे हमको ग्रसने के लिये खड़ा है। जैसे बकरियोंको निगल जानेके लिये व्याघ्र मुँह फैलाकर दौड़ता है ऐसे यह पातक हमको निगल जानेके लिये हमारी ओर दौड़ा चला आता है। हे शरणागतवत्सल! इस पातकको देखतेहुए इसकी निवृत्तिका तो अवश्य उपाय करना चाहिये। बुद्धिमान् सदा इस प्रकारके पातकको अपने सम्मुख उपस्थित होते देख तिसके दूर करनेका उपाय करता चलाआता है। हे भगवन्! उदाहरण के लिये मैं अधिक कहां ढूंढूं? तुम जगतपिताके पिता श्री वसुदेवजी ने तुम्हारे मामा कंसके द्वारा माता देवकीकी हत्याको उपस्थित देख उसके दूर करनेका कैसा उत्तम यत्न किया? सो जगतमें प्रसिद्ध है। तहां शुकदेवजी ने कहा है! मृत्युर्बुद्धिमताऽपोह्यो यावद् बुद्धिबलोदयम्। यद्यसौ न निवर्त्तेत नापराधोऽस्ति देहिनः॥ (श्रीमद्भा० स्कंध १० अध्या० १ श्लो० ४८) अर्थ—बुद्धिमान्को चाहिये, कि जब मृत्युको अपने सम्मुख उपस्थित देखे तब उससमय उसकी बुद्धी का बल जहां तक उदय हो उस मृत्युके दूर करनेका यत्नकरे, यदि उसकी निवृत्ति न होसके तो उस बुद्धिमान्का कुछ अपराध नहीं समझा जाता है।३७॥३८॥

अब अर्जुन कुलके नष्ट होनेका दोष स्पष्टरूपसे अगले श्लोकमें वर्णन करता है।

मू०—कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्म्माः सनातनाः।
धर्म्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्म्मोऽभिभवत्युत ॥३९॥

पदच्छेदः—कुलक्षये (वंशस्य नाशे) सनातनाः (चिरन्तनाः। परम्पराप्राप्ताः) कुलधर्म्माः (कुलसम्बन्धिनो धर्म्माः। कुलोचिता धर्म्माः) प्रणश्यन्ति (अनुष्ठातॄणां वृद्धानामभावात् नष्टा भवन्ति) धर्म्मे (कुलकर्तृकेऽग्निहोत्रादिधर्म्मे) नष्टे (प्रध्वंसे) कृत्स्नम् (अखिलम्) उत* (अपि) कुलम् (अवशिष्टं बालादिरूपं वंशम्)अधर्म्मः (अपकर्म्म। घोरपातकम्। दुष्कृतम्। असदाचारः) अभिभवति (स्वाधीनतया पराजयते) ॥ ३९ ॥

पदार्थः--(कुलक्षये)कुलके नाश होने पर (सनातनाः) सदासे निवास करनेवाले पुरातन (कुलधर्म्माः) कुलके धर्म्म (प्रणश्यन्ति) एक बारगी नष्ट होजाते हैं (उत) और (धर्म्मे नष्टे) तिस सनातन चिरकालस्थायी धर्म्मके नाश होनेपर (कृत्स्नम्) सम्पूर्ण (कुलम्) वंशको (अधर्म्मः) अधर्म्म (अभिभवति) घेरलेता है। अर्थात् अधर्म्म ही सम्पूर्ण कुलको जीतकर अपने वश करलेता है ॥ ३९ ॥

भावार्थः--पहले जो कथन किया, कि इस युद्धसे कुलका नाश और कुलके नाशसे पातकोंकी वृद्धि होती है, उसे अब स्पष्ट रूपसे

* " उत " शब्दः कृत्स्नपदेन सम्बध्यते ।

दिखलाता हुआ अर्जुन श्रीसच्चिदानन्द आनन्दकन्द कृष्णचन्द्रके प्रति कहता है, कि [**कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्म्माः सनातनाः**] कुलके नाश होनेसे उस कुलमें जितने प्रकारके धर्म्म चिरकालसे चले आते हैं सब-के-सब एक बारगी नष्ट हो जाते हैं।

तहां उत्तम कुलके कौन-कौन विशेष धर्म्म हैं? पाठकोंके बोधार्थ यहां वर्णन करदिये जाते हैं।

"आचारो विनयो विद्या प्रतिष्ठा तीर्थदर्शनम्। निष्ठा वृत्तिस्तपो दानं नवधा कुललक्षणम्।" (शिष्टोक्तौ) अर्थ-- १. आचार। २. विनय। ३. विद्या। ४. प्रतिष्ठा। ५. तीर्थदर्शन। ६. निष्ठा। ७. वृत्ति। ८. तप। ९. दान। ये ही उत्तम कुलके ९ लक्षण हैं। अब इन नवोंका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

१. "आचार"—इस आचारसे सदाचारका तात्पर्य्य है। तहां **"धर्म्मोऽस्य मूलं धनमस्यशाखा पुष्पं च कामः फलमस्य मोक्षः। असौ सदाचारतरुस्सुकेशिन् संसेवितो येन स पुण्यभोक्ता।"** (वामनपुराणे १४ अध्यायः) अर्थ—भृगुवंशी और्व ऋषि सुकेशी नाम राक्षस से कहते हैं, कि हे सुकेशिन्! यह जो सदाचार रूप वृक्ष है, तिसका 'मूल' धर्म्म है, धन सम्पत्ति 'शाखा' कामनाओंकी पूर्त्ति 'पुष्प' और मोक्ष इसका 'फल' है। हे सुकेशिन्! जो इसको सेवता है, वही पुण्यात्मा है। अब उस आचारका रूप वर्णन कियाजाता है। **"ऋषीन् यजेद्वेदपाठैर्देवान् होमैस्तु पूजयेत्। श्राद्धैः पितॄन् यजेदन्नैर्भूतानि बलिभिस्तथा ॥ १ ॥ असंपूज्य तथा विष्णुं शिवमग्निं पुरन्दरम्। अदत्वा च तथा दानं न भुंजीयान्नृपः क्वचित् ॥ २ ॥ मदहेतुं**

न भुंजीयात् कदाचिदपि भोजने। कदापि नोपसेवेत ह्यष्टम्यां मांस-मैथुने॥ ३॥ वृथाऽटनं वृथा दानं वृथा च पशुमारणम्। न कर्त्तव्यं गृहस्थेन वृथा दारपरिग्रहम् ॥ ४ ॥ न भार्य्यां वीक्ष्यते नग्नां पुरुषेण कदाचन। न च स्नायीत वै नग्नो न शयीत कदाचन ॥५॥ येषां कुले न वेदोऽस्ति न शास्त्रं नैव च व्रतं। ते नग्नाः कीर्त्तिताः सद्भिस्तेषामन्नं विगर्हितम् ॥६॥ तस्मात् स्वधर्म्मं न हि संत्यजेत न हापयेच्चापि तथात्मवंशम् ॥ यः संत्यजेच्चापि निजं हि धर्म्मं तस्मै प्रकुप्येत दिवाकरश्च ॥ ७ ॥" (वामनपुराणे १४ अध्यायः)

अर्थ—ऋषियोंको वेदपाठसे, देवताओंको हवनसे, पितरोंको श्राद्धसे और सब जीवमात्रको अन्नसे याजन कर प्रसन्न करे ॥ १ ॥ कोई नरेश विष्णु, शिव, अग्नि और इन्द्रके पूजन किये विना तथा दान दिये विना भोजन न करे ॥ २ ॥ मदके लिये किसी मादक वस्तुका भोजन न करे तथा अष्टमीको मांस भोजन तथा मैथुन न करे ॥ ३ ॥ कोई गृहस्थ विना किसी कार्य्यके इधर उधर न फिरा करे । वृथा दान न देवे । वृथा अर्थात् निष्प्रयोजन किसी भी जीवको न मारे। वृथा स्त्रीका ग्रहण न करे ॥४॥ स्त्रीको नंगी न देखे। नंगा होकर स्नान न करे तथा नंगा न सोवे ॥ ५ ॥ जिनके कुलमें न वेद है, न शास्त्र है, न व्रत इत्यादि हैं, उनको भी साधुओं ने नंगा ही कहा है। उनका अन्न निन्दित है उसे भोजन नहीं करना चाहिये ॥६॥ इसलिये कुलीन पुरुष अपनेकुलके धर्म्मको न त्यागे तथा अपने कुलको भी न त्यागे। जो अपना धर्म्म छोड़ देता है, उसपर भास्कर भगवान्का कोप होता है ॥ ७ ॥

। "मनु"की स्मृतिसे सदाचारोंका वर्णन किया जाता है ।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् । प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्म्मः सनातनः ॥ १ ॥ सावित्राञ्छान्तिहोमांश्च कुर्यात्पर्वसु नित्यशः । पितॄंश्चैवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासु च ॥२॥ दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्म्मिकांश्च द्विजोत्तमान् । ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु ॥ ३ ॥ अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् । कृतांजलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ ४ ॥ यत्कर्म कुर्वतो ह्यस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः । तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥ ५ ॥ आचार्य्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् । न हिंस्याद्ब्राह्मणान् गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः ॥ ६ ॥ नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् । द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यञ्च वर्जयेत् ॥ ७ ॥ परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैव निपातयेत् । अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थं ताडयेत्तु तौ॥८॥ अधार्म्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् । हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ ९ ॥ ऋत्विक्पुरोहिताचार्य्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः । बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबांधवैः ॥ १० ॥ पितृपितृव्यभामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्य्यया । दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ ११ ॥ (मनु० अध्या० ४ में देखो)

अर्थ— सच बोले । उस सचको प्रिय करके बोले । सच को अप्रिय और कठोरकरके न बोले । पर यह भी ध्यान रहे, कि प्रियवचन प्रायः मिथ्या और ठकुरसुहाती होता है, सो प्रिय बोलते बोलते मिथ्याका अभ्यास न होजावे ॥ १ ॥ नित्य संध्या करते समय सावित्री

का जपकरे। अष्टका* और अन्वष्टकामें+ पितरोंका श्राद्ध अवश्य करे॥२॥ पर्व अर्थात् प्रत्येक अमावस और पौर्णमासीमें विशेषकर शांतिपाठ और हवन करे। प्रत्येक पर्वके दिनोंमें देवताओंके, धार्म्मिक ब्राह्मणोंके, ईश्वरके तथा गुरुओंके समीप अपनी रक्षाके निमित्त जायाकरे॥ ३ ॥ अपने कुलके वृद्धोंको नित्य प्रातःकाल दण्डवत् प्रणाम करे, उनको आतेहुए देख झट उठकर अपना आसन देवे, हाथ जोड़कर स्तुति करे और उनकी पीठकी ओर अर्थात् पीछे पीछे चले ॥४॥ जिस कर्मके करनेसे अपना अन्तःकरण सन्तुष्ट और प्रसन्न होवे तथा ऐसा विचारमें आवे, कि आज मैंने यह कर्म उत्तम किया, उस कर्मको उत्तम जाने और अवश्य करे। पर जो इसमें प्रतिकूलहो, उसे त्याग देवे ॥ ५ ॥ आचार्य्यको, उपदेष्टाको पिताको, माताको, गुरुको, ब्राह्मणको, गऊको तथा तपस्वियोंको न वधे ॥६॥ नास्तिकता, वेदनिन्दा, देवताओंको दूषणदेना, द्वेष, दम्भ, (पाखण्ड) मान, क्रोध, और कडुआपनको एकबारगी त्याग देवे ॥७॥ पुत्र और शिष्यको छोड किसी अन्य पर दण्ड प्रहार न करे और न मारने दौडे। पर पुत्र और शिष्यको भी केवल शिक्षा निमित्त ताडना करे ॥८॥ जो पुरुष अधार्म्मिक है, जो झूठ बोलकर धन उपार्ज्जन करता है और जो सदा हिंसामें रत रहता है, उसको शारीरिक वा आत्मिक किसी प्रकारका सुख प्राप्त नहीं होसकता ॥९॥ ऋत्विज्, पुरोहित, आचार्य्य, मामा, अतिथि, वैद्य, अपनी जाति, सम्बन्धी, बन्धुवर्ग, पिता, काका

---

* "अष्टका" —पौष, माघ, फाल्गुनकी कृष्णाष्टमीको "अष्टका" कहते हैं॥

+ "अन्वष्टका"—इन्हीं मासोंकी नवमीको 'अन्वष्टका' कहते हैं॥

भगिनी, भ्राता, पुत्र, स्त्री, कन्या और अपने दासोंसे विवाद कभी न करे ॥ १०, ११ ॥

। उत्तम कुलका दूसरा लक्षण ।

२. विनय (प्रशान्ति) —सब छोटे बडोंके साथ यथायोग्य नम्रतापूर्वक व्यवहार करना 'विनय' कहलाता है।"उद्भट" कहता है,—"जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते । गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥ अर्थ—विनयका मुख्य कारण जितेन्द्रियत्व है । अर्थात् अपनी इन्द्रियोंको वशीभृत रखनेसे आपसे आप प्राणियोंमें विनय प्राप्त होता है । तिस विनयसे उत्तम गुणोंकी वृद्धि प्राप्त होती है। उत्तम गुणोंकी वृद्धिसे जन समूहके हृदयमें प्यार होजाता है। अर्थात् जनानुराग उत्पन्न होता है। तिस जनानुरागसे नानाप्रकारकी सम्पत्तियां प्राप्त होती हैं ॥

फिर 'मत्स्यपुराणके' १८६ अध्यायमें कहते हैं, कि—"वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान् वेदविदः शुचीन् । तेभ्यो हि शिक्षेत् विनयं विनीतात्मा हि नित्यशः ॥ समग्रां वशगां कुर्यात् पृथिवीं नात्र संशयः । बहवोऽविनयाद्भ्रष्टा राजानः सपरिच्छदः । वनस्थाश्चैव राज्यानि विनयात् प्रतिपेदिरे ॥ अर्थ— विनीतात्मा पुरुष वृद्धोंका तथा वेदके जाननेवाले पवित्र ब्राह्मणोंका सदा सेवन करे उनसे विनयकी शिक्षा लियाकरे। क्योंकि विनयकी पूर्ण प्राप्ति होजानेसे सम्पूर्ण पृथिवीको वश करसकता है । इसमें तनक भी सन्देह नहीं है ।

बहुतेरे राजा विनयसे रहित होनेके कारण अपने परिवार सहित नष्ट होचुके हैं। पर बहुतेरे वनवासियोंने भी विनयके कारण राज्य प्राप्त करलिया है।

। उत्तम कुलका तीसरा लक्षण ।

३. विद्या— इसपर अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। विद्वान्‌की स्तुति सर्व शास्त्रोंमें की गयी है। महाराज 'अश्वपति' 'जयवलि' 'जनक' इत्यादि नरेश होने पर भी इस विद्या द्वारा संसारमें महापुरुष होकर विख्यात हुए हैं, जिनके नाम उपनिषदोंमें आज तक चले आरहे हैं॥

इस विद्या के १४ अंग हैं। इनमें आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र के मिलादेने से १८ अंग होते हैं।

प्रमाण — "अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्याय विस्तरः। धर्म्मशास्त्रं पुराणंच विद्याह्येताश्चतुर्दश॥ आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः। अर्थशास्त्रं चतुर्थंच विद्याह्यष्टादशैव ताः"॥ (प्रायश्चित्ततत्त्वे)।

अर्थ— १ शिक्षा,। २ कल्प। ३ व्याकरण। ४ निरुक्त। ५ ज्योतिष। ६ छन्द। ७ ऋग्वेद। ८ यजुर्वेद। ९ सामवेद। १० अथर्ववेद। ११ आयुर्वेद। १२ धनुर्वेद। १३ गान्धर्ववेद। १४ अर्थशास्त्र। १५ मीमांसा। १६ न्याय। १७ धर्म्मशास्त्र। १८ पुराण। येही अठारह विद्यायें हैं।

जो उत्तम कुलके साधारण गृहस्थ तथा नरेश हैं वे अवश्य इन विद्याओंकी प्राप्ति बचपनमेंही करलेते हैं। परम्परासे विद्या उनके

कुलमें चली आती है। उत्तम कुल और नीच कुलकी यही पहचान है। फिर कहते हैं, कि—"विद्यानाम कुरूपरूपमधिकं प्रच्छन्नमन्तर्धनम्। विद्या साधुजनप्रिया शूचिकरी विद्या गुरूणां गुरुः। विद्या बन्धुजनार्त्तनाशनकरी विद्या परं देवता। विद्या भोग्ययशःकुलोन्नतिकरी विद्याविहीनः पशुः॥

अर्थ— विद्या कुरूपोंके लिये एक सुन्दर रूप है। विद्या छिपा हुआ धन है। विद्या साधुजनोंकी परम प्यारी है। विद्या भूतात्माको पवित्र करने वाली है। विद्या गुरुओंमें भी गुरु है। विद्या कुटुम्बीयोंके दुःखको नाश करनेवाली है। विद्या परम देवता है। तथा विद्याही भोगके पदार्थ, यश और कुलकी उन्नति करने वाली है। इस कारण जो विद्यासे हीन है उसे पशु जानना चाहीये।

। उत्तम कुलका चौथा लक्षण।

४. 'प्रतिष्ठा'— तेज, प्रताप, गौरव, यश, कीर्त्ति इत्यादिसे "प्रतिष्ठा" प्राप्त होती है। जिस कुलमें किसी प्रकारकी प्रतिष्ठा नहीं है उसकी गणना नीच कुलमें कीजाती है। क्योंकि प्रतिष्ठाहीनका आदर किसी सभामें नहीं होसकता। यदि कोई राजा प्रतिष्ठाहीन हो जावे तो किसी भी राजमण्डलीमें आदरपूर्वक आसन नहीं पा सकता। जो राजा वनियोंके समान प्रजाको कष्ट देकर कपट व्यवहारसे धनको खैंचता है वह अपनी प्रजासे भी प्रतिष्ठा पाने योग्य नहीं होता है।

इसी कारण प्रतिष्ठित पुरुषोंको अकीर्त्ति नहीं करनी चाहिये। क्योंकि 'प्रतिष्ठितानामकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते' (ब्रह्मवै० गणे० ख० अ० २४श्लो० ७६)

अर्थ—प्रतिष्ठितोंके लिये अकीर्त्तिसे मरजाना श्रेष्ठ है।

। उत्तम कुलका पांचवां लक्षण ।

५. तीर्थदर्शन—समय समय पर पुण्य स्थानोंका दर्शन करना उत्तम कुलके गृहस्थ तथा नरेशोंमें आजतक आरहा है। बहुतेरे उत्तम कुलवाले, जो नीचों की संगतिसे धर्म्मच्युत होगये हैं 'तीर्थदर्शन' की ओर एक वारगी रुचि नहीं रखते। वे तो ऐसे उत्तम धर्म्मको हम लोगकी मूर्खता समझते हैं और कहते हैं, कि वेदोंमें गंगा, यमुनाइत्यादि तीर्थोंके विषय कुछभी नहीं लिखा है। इसलिये मैं उनके भ्रमको दूर करनेके हेतु यहां 'ऋग्वेदके' उसमंत्रको दिखलाता हूं, जिसमें तीर्थोंकी स्तुति की गयी है।

ॐ इमंमेगंगेयमुनेसरस्वतिशुतुद्रिस्तोमंसचतापरुष्ण्या।
असिक्न्यामरुद्वृधेवितस्तयार्जीकीयेशृणुह्यासुषोमया ॥

अर्थ— हे गंगे! हे यमुने! हे सरस्वति! हे शुतुद्रि[1]! हे मरुद्वृधे[2]! हे आर्जीकीये[3]! तुम लोग अपने-अपने अवयव "परुष्णी[4]" "असिक्नी[5]" "वितस्ता[6]" और "सुषोमा[7]" नाम नदियोंके सहित मेरी स्तुति सुनो! और स्वीकार करो!

तीर्थदर्शनकी महिमा छिपी हुई नहीं है। श्रीकृष्णाग्रज श्री

१. शुतुद्री (सतलज)। २. मरुद्वृधा (चनाव)। ३. आर्जीकीया (व्यास)। ४. परुष्णी (रावी)। ५. असिक्नी (एक नदीका नाम है जो सरस्वतिके समान गुप्तरूपसे बहती है)। ६, वितस्ता (झेलम)। ७. सुषोमा (सोमभद्र वा चन्द्रमाकी पुत्री)।

वलदेवजीने बरसों तीर्थाटनमें समय विता तीर्थोंकी महिमा पुष्ट करदी है।

। काशीखण्ड ग्रन्थमें तीर्थोंकी महिमा यों लिखी है।

" अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्टा विपुलदक्षिणैः । न तत्फलमवाप्नोति तीर्थाऽभिगमनेन यत् ॥ १ ॥ तीर्थान्यनुस्मरण धीरः श्रद्दधानः समाहितः । कृतपापो विशुद्धयेत किं पुनः शुद्धकर्मकृत् ॥२॥ तिर्य्यग्योनिं न वै गच्छेत् कुदेशे न च जायते । न दुःखी स्यात् स्वर्गभाक् च मोक्षोपायं च विन्दति ॥३॥ अर्थ —अग्निष्टोम इत्यादि यज्ञोंसे तथा इष्टादि कर्मोंमें अधिक दान देनेसे प्राणी ऐसा फल नहीं पाता जैसा तीर्थगमनसे ॥ १ ॥ जो धीर श्रद्धावान् होकर अर्थात् तीर्थगमनके दुःख सहनेमें दृढ तथा एकाग्रचित्त होकर तीर्थोंका स्मरण करता है वह सब पापकर्मोंसे छूट जाता है । फिर जो कोई पुण्यात्मा तीर्थ करे तो उसका कहनाही क्या है ? ॥ २ ॥ जो तीर्थ करनेवाला है वह तिर्य्यग्योनि अर्थात पशु पक्षीकी योनियोंको नहीं प्राप्त होता, न " मगहर " इत्यादि कुदेशमें उत्पन्न होता है । दुःखी कभी नहीं होता । स्वर्गका भागी होता है तथा तीर्थाटन करते-करते मोक्षके उपायोंको जानजाता है ।

तीर्थोंमें महात्माओं और सिद्धपुरुषोंका दर्शनहोता है जिनसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है । हरिचरणोंकी भक्ति मिलती है । वहां के जल और वायुके स्पर्शसे शरीर शुद्ध होता है । यदि इन्द्रियोंको निग्रह किये हुए तीर्थोंका सेवन उचित रीतिसे करे तो कठिन रोगों

से भी मुक्त होजाता है।

। पद्मपुराणमें जिस तीर्थयात्राका विधान यों लिखा है।

यो यः किंचित्तीर्थयात्राऽनुगच्छेत् सुसंयतः स च पूर्वं गृहे स्वे। कृतोपवासः शुचिरप्रमत्तः सँपूजयेद्भक्तिनम्रो गणेशम्॥ देवान् पीतॄन् ब्राह्मणांश्चैव साधून् धीमान् प्रीणयन् वित्तशक्त्या प्रयत्नात्॥ प्रत्यागतश्चापि पुनस्तथैव देवान् पीतॄन ब्राह्मणान पूजयेच्च। एवँ कुर्वतस्तस्य तीर्थे यदुक्तं फलं तत्स्यान्नात्र सन्देह एव॥

अर्थ— जो प्राणी तीर्थयात्रा करे उसको चाहिये, कि एक दिन पहले अपने घरमें सँयमके साथ रहकर उपवास करके पवित्र होकर तथा काम क्रोधादि प्रमादोंसे रहित होकर नम्रता पूर्वक पूर्ण भक्तिसे श्रीगणेशजीका पूजन करले और देवता, पितर, ब्राह्मण तथा साधुओंको अपनी वित्तानुसार पूजन और दानसे प्रसन्न करताहुआ यात्रा करे। फिर तीर्थसे लौट आने पर इसी प्रकार देव-पूजन, श्राद्ध, तर्पण तथा ब्राह्मणोंका पूजन करे। ऐसा करने से तीर्थका सम्पूर्ण फल ज्योंका त्यों प्राप्त होता है। इसमें सन्देह नहीं है। गृहस्थोंको तथा नरेशोंको भी ऐसाही करना चाहिये।

यों तो तीनों लोकोंमें साढे तीन क्रोड तीर्थ हैं, पर कलियुग में किस तीर्थकी वीशेषता है? पाठकोंके वोधार्थ यहां वर्णन करदी जाती है। "कृते तु पुष्करं तीर्थं त्रेतायां नैमिषन्तथा। द्वापरे कुरुक्षेत्रं कलौ गंगां समाश्रयेत्"॥ अर्थ—सत्युगमें "पुष्कर-क्षेत्रकी" विशेषता थी, जो इनदिनों अजमेर शहरके समीप है।

क्षेतामें 'नैमिषारण्य' की प्रधानता थी, जो इनदिनो लखनउके समीप है । द्वापरमें 'कुरुक्षेत्र'की श्रेष्ठता थी जो इस समय देहलीके समीप "थानेश्वर"से मिलाहुआ है । अब कलियुगमें श्री परम पावनी 'श्रीगंगाजी'की उत्कृष्टता है, जो गंगोत्तरीसे गंगासागरतक लहरें लेतीहुई अपने दायें बायेंके नगरनिवासियोंको अपनी पवित्र धारासे पाप रहित कररही है । इसी कारण स्नान करते समय यह मंत्र पढाजाता है, कि 'तिस्रःकोट्यर्द्धकोटिश्च तीर्थानां वायुरब्रवीत् । दिवि भूव्यन्तरीक्षे च तानि ते सन्ति जान्हवि!' इस मंत्रकोपढकर गंगामें डूब देते हैं । अपने घरमेंभी कूप तडागादि जलको इसी मंत्रसे संशोधनकर स्नान करते हैं । इस मंत्रका अर्थ यह है,—वायुदेव कहते हैं, कि भूलोक, भूवर्लोक तथा अन्तरीक्षलोक में जो साढेतीन कोटि तीर्थ हैं वे सब, हे गंगे ! तुममें आकर निवास करते हैं । तात्पर्य्य यह है. कि हम कलिनिवासियों को केवल गंगासेवन करने से सब तीर्थोंके फल प्राप्त होते हैं । फिर जो तीर्थ गंगाके तटपर हैं उनका कहनाही क्या है ? मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो उत्तम कुल है उसमें यह तीर्थदर्शन अबतक प्रचलित है ।

। उत्तम कुलका छटवां लक्षण ।

६. " निष्ठा "— अपने कुलमें परम्परासे जो धर्म्म चला आता है उसीमें सदा पूर्ण श्रद्धा रखने को 'निष्ठा' कहते हैं । "निष्ठयाहि प्रतिष्ठा स्यादनिष्ठस्य कुतः कुलम् । शक्नोति नैष्ठिकः स्वीयँ धर्म्म त्रातुं न चेतरः ॥ १ ॥ एकस्य देवस्य विहाय मंत्रमेकं परञ्चेद्भजतेऽपि तस्य । तदाभवेन्मृत्युर..ष्ठिकत्वान्निष्ठाविहीनस्य न

कापि सिद्धिः ॥ २ ॥ (वैद्यकुलतत्वे भरतमल्लिकः) अर्थ—देवादि तथा धर्म्मादिमें निष्ठा होनेहीसे कुलकी प्रतिष्ठा समझी जाती है । जो प्राणी निष्ठासे रहित है उसका उत्तम कुल नहीं कहा जासकता । क्योंकि उसके कुलकी उत्तमता जाती रहती है । इसी कारण जो निष्ठा वाला है वही अपने धर्म्मकी रक्षा करसकता है; दूसरा नहीं ॥ १ ॥ जो एक देवका मंत्र छोड़ दूसरे देवका मंत्र ग्रहण करता है उस अनैष्ठिक प्राणी की मृत्युही समझो ! ऐसे निष्ठारहितको किसी प्रकारकी सिद्धि प्राप्त नहीं होसक्ती। इस कारण उत्तम कुलवाले अपने कुलकी निष्ठापर वहुत ध्यान रखते हैं ॥

। उत्तम कुलका सातवां लक्षण ।

७.'वृत्ति'—जीविकाको कहते है ! जिस कर्म्मसे जिस वर्णकी जिविका साधन होती है वहि उसकी 'वृत्ति' कही जाती है । साधारण गृहस्थोंमें ब्राह्मणोंकी वृत्ति शुद्ध प्रतिग्रह तथा भिक्षा द्वारा, क्षत्रियोंकी भूमिके शासन अथवा वाणादि शस्त्रोंके धारण द्वारा, वैश्योंकी गोरक्षा और वाणिज्य द्वारा और शूद्रोंकी सेवा द्वारा नियत है। बडे शोककी बात है, कि वर्त्तमान समयमें भारतदेशकी दरिद्रताने उत्तम कुलवाले द्विजमात्रको शूद्रों के समान सेवा वृत्तिमें लगादी है ।

अच्छे कुलके नरेश अपनी शुद्ध वृत्तिका पालन करतेहुए अन्यवर्णोंकी वृत्तिकी भीरक्षा करते हैं, पर पापी नरेश दूसरोंकी वृत्तिके हरणमें तत्पर रहते हैं। प्र० स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेत्तु यः। कालसूत्रे तिष्ठति स यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ तत्पुत्रपौत्रप्रभृतिर्भूमिहीनः श्रियाहतः। सुखहीनो दरिद्रः स्यादन्ते याति च रौरवम् ॥ (ब्रह्मवै० प्र० अध्य० ६ श्लो० ७।८।)

अर्थ— अपनी दीहुई अथवा परायेकी दीहुई वृत्तिको जो छीन लेताहै वह *कालसूत्र नामक महानरकमें तबतक निवास करता है जबतक सूर्य्य और चन्द्र वर्तमान हैं। वह बेटा, पोता, भूमि, लक्ष्मी और सुख इत्यादिसे हीन और दरिद्र होजाता हैं, तथा मृत्युके पश्चात् रौरव नरकमें जाताहै।

लो और सुनो! "काकमांसं सुरासिक्तं, मृतकपाले चिताग्निना। इन्द्रः पृच्छति चाण्डालीं किमशुद्धमतः परम् ॥ देवद्विजगवां वृत्तिं, हरन्ति हारयन्ति ये। तेषां पादरजोभीत्या, उपानच्छादिता मया॥"

एक बार "इन्द्र" मृत्युलोकमें होता हुआ अपने लोकको जारहाथा, मार्गमें देखा, कि एक चाण्डाली कागड़ेका मांस मदिरासे भिगोकर, मुर्देकी खोपड़ीमें रख चिताकी आगसे पकारहीहै और उसे जूतीके तल्लेसे छिपाये हुई है। उससे इन्द्रने पूछा, कि इन वस्तुओंसे अधिक अशुद्ध क्या है ? जिसके भयसे तूने जूतीके तल्लेसे मांस छिपारखा है। चाण्डालीने उत्तर दिया, कि देवता, ब्राह्मण और गौओंकी वृत्ति छीनलेने वालोंके पैरोंकी धूली पड़जाने के भयसे ऐसा किया है।

---

* तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ।
नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥ (मनु० अ० ४ श्लो० ८८)

अर्थ—१ तामिस्र, २ अन्धतामिस्र, ३ रौरव, ४ महारौरव, ५ कालसूत्र, ६ महानरक ये नरकोंके नाम हैं

अभिप्राय यह है, कि वृत्तिहरण करनेवाला परम अपवित्र होता है। नरक भी उससे नाक सिकोड़ लेताहै। इसलिये महात्माओंका यह सिद्धान्त है, कि वही उत्तम कुल समझाजाताहै जो पराये की वृत्तिकी रक्षा करते हुये अपनी वृत्तिकी रक्षा करे।

। उत्तमकुलका आठवां लक्षण ।

८. तप+— अपने२ वर्ण और आश्रमके धर्म्मका पालन करना ही "तप" कहलाता है। इसका वर्णन इस गीताके १७वें अध्यायमें किया गयाहै। जो उत्तम कुलवाले हैं वे अपना धर्म्म कैसा भी कठोर हो नहीं छोड़ते।

। उत्तमकुलका नवां लक्षण ।

९. दान— अधिकारियोंको तथा दरिद्रोंको यथाशक्ति गौ, हिरण्य, महिषी, भोजन, वस्त्र, धन, इत्यादि देकर प्रसन्न करना दान कहलाता है। इसका वर्णन १७ वें अध्यायमें किया गया है।

अब अर्जुन श्रीआनन्दकन्द व्रजचन्दसे कहता है, कि हे भगवन्! श्रेष्ठ कुलकी जो ये ९ प्रकारकी मर्य्यादा हैं, कुलके नष्ट हुए सबकी सब एक वारगी नष्ट होजाती हैं। सारा कुल धर्म्महीन,

+ बहुतेरे प्राणी ऐसा समझते है, कि वनमें जाकर उपवास करना, पत्थरपर सोना, कठिन सुर्य्यके ताप और हिमऋतुकी ठण्डकको नंगे वदन सहना अथवा अन्य प्रकारके कष्टोंको सहकर मौन चान्द्रादि करनाही " तप " है, पर ऐसा नहीं है। श्रुतिका वचन है, " मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्रय परमं तपः " अर्थात् मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रताको " तप " कहते है। सो जो उत्तमकुलवाले हैं वे सदा अपने मन और इन्द्रियोंको एकाग्र कर अपना धर्म और अपनी मर्यादाके विचारमें रहते है।

विद्याहीन, प्रतिष्ठाहीन और बलहीन होजाताहै। फिर तो उस कुल-वालेको दरिद्रताका दुःख भोगना पड़ताहै।

हे भगवन्! तुमतो सर्वज्ञ हो. तुमको कुछ कहना मानो सूर्य्यको दीपक दिखलाना है तथापि इस समय मैं आर्त्त होकर कहता हूँ, कि कुल नष्ट होजानेमे क्या दशा होती है? सो सुनो! [धर्म्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्म्मोऽभिभवत्युत] वंश परम्परागत धर्म्मके नष्ट होजानेसे अधर्म्म सम्पूर्ण कुलको जीत अपने वशमें कर कुलवालोंको अधर्म्मी बना देता है। अधर्म्मके फैलनेसे जितने विकार हैं सब उस कुलमें प्रवेश करजाते हैं। दरिद्रता--देवी द्वारपर गद्दी लगाकर बैठजाती है। इसकी दासियां हिंसा और क्रूरता इसकी दायीं और बायीं ओर खड़ी होकर चमर और मोरछल करती हैं। राग और द्वेष रूप द्वारपाल पहरा देने लगजाते हैं। विद्या, विनय, गौरव इत्यादि जितने उत्तम गुण हैं सब छोड़कर भागजाते हैं। क्योंकि कुलके वृद्धोंके मारेजानेसे छोटे-छोटे बालक और स्त्रियोंको कोई भी कुल परम्परागत सनातनधर्म्म की शिक्षा देनेवाला नहीं रहता। इसी कारण आगेवाली सन्तति अशिक्षित होनेके कारण धर्महीन होजाती है ॥ ३९ ॥

हे भगवन! इस प्रकार अधर्म बढनेसे फिर उस कुलकी कैसी दशा होती है और कुलभ्रष्ट होजानेसे उस कुलकी स्त्रियोंकी क्या व्य-वस्था रहतीहै तथा उन स्त्रियोंसे वर्णसंकर किसप्रकार उत्पन्न होताहै सो सुनो!

मू०—अधर्म्माभिभवात् कृष्ण ! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय! जायते वर्णसंकरः ॥ ४० ॥

पदच्छेदः— कृष्ण! (हे वासुदेव !) अधर्म्माभिभवात् (अवशिष्टवंशस्याधर्म्मप्रवणत्वात्—) कुलस्त्रियः (कुलवत्यःस्त्रियः) प्रदुष्यन्ति (प्रकर्षेण दुष्टा भवन्ति, व्यभिचारिण्यो भवन्ति) हे वार्ष्णेय ! (वृष्णिकुलोद्भव श्रीकृष्ण !) दुष्टासु (पुत्रार्थं वर्णान्तरमुपासीनासु) स्त्रीषु (भार्यासु) वर्णसंकरः (मिश्रितजातिः) जायते (उत्पन्नो भवति) ॥ ४० ॥

पदार्थः—(कृष्ण !) हे भक्तोंके पापोंको खैंचलेनेवाले श्रीवासुदेव ! (अधर्म्माभिभवात्) सम्पूर्ण आगेवाला कुलके अधर्मसे दबजानेके कारण (कुलस्त्रियः) उस कुलकी स्त्रियां भी (प्रदुष्यन्ति) दूषिता अर्थात् व्यभिचारिणी होजाती हैं । इसकारण (वार्ष्णेय !) हे वृष्णिवंशमें उत्पन्न श्रीकृष्ण ! (दुष्टासु) उन दुष्टा अर्थात् व्यभिचारिणी (स्त्रीषु) स्त्रियोंमें (वर्णसंकरः) दोगला (जायते) उत्पन्न होता है ॥ ४० ॥

भावार्थः—कुलधर्म्मके नष्ट होजानेपर बचेहुए अगले वंशमें आपत्तियां प्रवेश करजाती हैं। उनको अर्जुन श्यामसुन्दरके प्रति स्पष्ट रूपसे दिखलाता हुआ कहता है, कि [अधर्म्माभिभवात्-कृष्ण ! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः] हे भक्तजनोंके पापोंके आकर्षण

— प्रवणः= क्रमनिम्नभूमिः=जो भूमि क्रमशः ऊंचेसे नीचेकी ओर ढलती जाती है उसे प्रवण कहते हैं।

करनेवाले श्रीकृष्ण ! मैं सदासे ऐसा सुनता चला आता हूं, कि जब-जब किसी कुलके नष्ट होजानेसे उस कुलको अधर्म्म अपने वश कर-लेता है; अर्थात् सम्पूर्ण बचेहुए अगले वंशमें अधर्म्म फैलजाता है, तब-तब उस कुलकी स्त्रियां जो कुलवती कहलाती हैं एकदम दुष्टा अर्थात् व्यभिचारिणी होकरे परपुरुष द्वारा पुत्र उत्पन्न करने लगजाती हैं। क्योंकि जो स्त्रियां युवावस्थामें पतिहीन होजाती हैं उनमें इतना साहस कहां? कि ब्रह्मवादिनी होकर ब्रह्मविचारमें अपने शेष जीवनको व्यतीत करें। सहस्रोंमें कोई एक ऐसी पतिव्रता, कुलीना और विचारशीला होती हो तो हो, पर अधिकांशको व्यभिचारिणी होकर भ्रष्ट होनेका भय है।

प्रियपाठकोंके बोधनार्थ यहां 'कुलवती' और 'कुलटा' के लक्षण कहदिये जातेहैं। **"मृते जीवति वा पत्यौ या नान्यमुपगच्छति। सेह कीर्तिमवाप्नोति मोदते चोमया सह"** ॥

(याज्ञवल्क्याचाराध्याय श्लो० ७५)

अर्थ—पतिके जीतेहुए वा मरनेपर जो स्त्री अन्य पुरुषसे संग नहीं करतीहै वह इस लोकमें कीर्त्ति प्राप्त करतीहै और अन्तमें उमा (पार्वती)के संग क्रीड़ा करतीहै; अर्थात् कैलाशका सुख भोगतीहै। यह लक्षण कुलवती स्त्रियोंका है। ऐसी स्त्रियोंको भरण पोषण द्वारा सन्तुष्ट और प्रसन्न रखना उचितहै। यदि उसके रहते पुरुषने दूसरा विवाहभी करलिया हो तोभी उसे पूर्ववत् प्रसन्न रखना उचितहै। प्रमाण— **"अधिविन्नातु भर्तव्या महदेनोऽन्यथा भवेत्। यत्रानुकूल्यं दम्पत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्धते"** ॥ (याज्ञवल्क्याचाराध्याय श्लो० ७४) जो स्त्री अधि-विन्ना है अर्थात् जिसके रहते पुरुषने दूसरा विवाह करलियाहै,

दानमान और सत्कारसे उस स्त्रीका पालन करना चाहिये। ऐसा नहीं करनेसे पुरुषको घोर पाप लगता है। जिस घरमें स्त्री और पुरुषका एक चित्त होताहै वहां धर्म्म, अर्थ और काम तीनों बढ़ते हैं॥

। अब व्यभिचारिणी स्त्रीके विषयमें कहतेहैं।

जिस स्त्रीको व्यभिचार से यदि गर्भ रहजावे तो उसका त्याग करदेना चाहिये। इसीप्रकार जो स्त्री अपने गर्भ तथा पतिका नाश अथवा किसी अन्य महान् पापको करतीहै उसकाभी त्यागही उचितहै। क्योंकि वही यथार्थ व्यभिचारिणी है। किसी किसी आचार्य्यकी सम्मति उसे वध करदेनेकी है, पर बहुतोंकी यह सम्मतिहै, कि स्त्रीको वध नहीं करना चाहिये। "गर्भिणीमधोवर्णगां शिष्यसुतगामिनीं पापव्यसनासक्तां धनधान्यक्षयकरीं वर्ज्जयेत्" (हारीतः) हारीतका वचनहै, कि अज्ञातगर्भवाली, नीचे वर्ण तथा शिष्य और पुत्रके साथ संभोग करने वाली, सदा पाप और व्यसनोंमें आसक्त और धन धान्यकी नाश करने वाली को शीघ्र त्याग देना चाहिये। "स्वच्छन्दगा हि या नारी तस्यास्त्यागो विधीयते" (यम) यम का वचन है, कि जो स्त्री स्वेच्छाचारिणी अर्थात् अपने पतिका वचन न मानकर अपनी इच्छानुकूल चलने वालीहो, उसे अवश्य त्याग देना चाहिये। उक्त प्रकारकी स्त्रियाँ व्यभिचारिणी कहलाती हैं। अर्जुनके कहनेका यह अभिप्राय है, कि जब पतिके रहते भी स्त्रियोंमें व्यभिचार पाया जाताहै तो पतिके नाश होने पर उनके व्यभिचारका क्या ठिकाना है?

अर्जुन कहता है, कि हे भगवन! अधिक क्या कहूं?

[स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय! जायते वर्णसंकर:] हे पवित्र वृष्णि-वंशमें उत्पन्न वासुदेव ! ऐसी दुष्टा व्यभिचारिणी स्त्रीके गर्भसे वर्णसंकर उत्पन्न होता है।

पाठको ! इस वर्णसंकर (दोगला) शब्द के सुनतेही आपको एकाएक घृणा उत्पन्न होतीहै। आप स्वयं अनुभव करसकते हैं। कलिके प्रभावसे इससमय दोगलोंकी संख्या बहुत बढ़गयी है। अच्छे अच्छे कुलीन घरोंमें भी ये वर्णसंकर पायेजाते हैं। लोग कहते हैं, कि वर्णसंकर बड़े बुद्धिमान्, चतुर, चालाक, सर्वगुणसम्पन्न और बड़े भाग्यवान् होते हैं।

सच है ! पर आपका अन्त:करण क्या कहता है ? थोड़ी देर विचार देखिये, कि वर्णसंकरोंसे सृष्टिमें क्या हानि होती है ? "उच्चकुल" ऐसे शब्दकी सर्वत्र ध्वनि फैलरही है, सब छोटे बडे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और यहूदी इस श्रेष्ठ कुल और कुलीन सन्तानकी बडी ध्वनि लगारहे हैं और प्रशंसा कररहे हैं, पर इतना धूम मचने पर भी वर्णसं-करोंकी वृद्धि सर्वत्र पृथ्वीमण्डलमें होती ही चली जारही है। जि-सका फल भी प्रत्यक्ष होरहा है। बुद्धिमान् भलीभांति समझ सकते हैं। अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

अर्जुन भगवान्से कहता है, कि हे वार्ष्णेय ! दुष्टा स्त्रीसे वर्णसं-कर उत्पन्न होकर कुल परम्परागत धर्म्मको नष्ट करडालता है ॥ ४० ॥

अब अर्जुन भगवान्को यह दिखलाता है, कि वर्णसंकरोसे संसारमे कौन-कौनसी हानि होती है ?

मू०— संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्यच ।
पतन्ति पितरोह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४१॥

पदच्छेदः— च (तथा) कुलस्य (अधर्म्माभिभूतवंशस्य) संकरः (व्यभिचारादुत्पन्नसन्ततिः) कुलघ्नानाम् (कुलहननकर्तॄणाम्) नरकाय (नरकप्रदानाय) एव (निश्चयेन) एषाम् (वंशनाशकानाम्) पितरः (पूर्वजाः । पितृपितामहादयः) लुप्तपिण्डोदकक्रियाः (लुप्ता पिण्डोदकयोः क्रिया येषां, ते) हि (निश्चयेन) पतन्ति (निरयगामिनो भवन्ति । स्वर्गादधो गच्छन्ति । पितृलोकाद्युच्चस्थानेभ्योऽधोगतिं प्राप्नुवन्ति ।)

पदार्थः—(च) और हे कृष्ण! (संकरः) वर्णसंकर (दोगला) (कुलघ्नानाम्) अपने कुलके नाश करनेवालेको तथा (कुलस्य) अपने कुलको-भी (एव) निश्चय करके (नरकाय) नरकमें लेजाने का कारण होताहै (एषाम्) इन कुलघातकोंके (पितरः) बाप दादा इत्यादि (लुप्तपिण्डोदकक्रियाः) पिण्ड और जलकी क्रिया से विहीन होकर (हि) निश्चय करके (पतन्ति) उच्च लोकोंसे नीचे नरकादि लोकोंमें गिरपडते हैं ॥ ४१ ॥

भावार्थः—अर्जुनने पहले कहा है, कि कुलके नाश होनेसे उस कुलकी स्त्रियां व्यभिचारिणी होजाती हैं, जिससे कुलमें बडी भारी हानि पहुंचती है । अब इसी विषयको औरभी अधिक दृढ करतेहुए कमल—नयन सर्व सुख—अयन श्रीकृष्णसे कहता है, कि [संकरोनरकायैव कुलघ्नानां कुलस्यच] उन दुष्टा स्त्रियोंके गर्भसे

जो अपने कुलमें वर्णसंकर उत्पन्न होता है वह उन सबोंको, जिन्होंने अपने कुलका आप नाश किया है, नरक लेजाता है; अर्थात् सबोंको एक ट्रेनमें बैठालकर नरककी ओरका एञ्जन चलादेता है। यहां कोई-कोई ऐसाभी कहता है, कि वह वर्णसंकर उन कुलघातियोंको तथा (कुलस्य च) उन कुलघातियोंके कुलको भी नरक लेजाता है।

शंका—इस वेचारे वर्णसंकरको ऐसा अपराधी क्यों बनाते हो? क्या वर्णसंकर स्वयं जानकर वर्णसंकर हुआ है? जैसे सर्व मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट और पतंग इत्यादि चौरासी लाख योनियोंकी उत्पत्ति नियम पूर्वक स्त्री और पुरुषके संयोगसे होती चली आती है ऐसेही वर्ण-संकर भी उत्पन्न होताहै। वर्णसंकर यदि किसीका घात करता रहे, ब्राह्मण वा गौको मारता रहे, किसीको विषदेता रहे, किसीके घरमें आग लगाता रहे, राक्षसोंके समान वा चाण्डालोंके समान हिंसाही किया करे और ऐसा करना वर्णसंकरका स्वभाविक धर्म्म हो, तो वर्णसंकरको ऐसा अपराधी बनाना उचित है, पर ऐसा प्रत्यक्ष तो कुछभी नहीं देखा जाता। फिर वर्णसंकरको ऐसा दूषित क्यों समझते हो?

समाधान— इस भूमिपर अनेक प्रकारके देश देखे जाते हैं, जिनके खान, पान, जन्म मरण, विवाह, इत्यादिमें बहुतसे विचित्र प्रकारके भेद हैं। सर्व देश-निवासी अपने-अपने सामाजिक नियमोंके अनुसार अपनेको उच्च और नीच तथा धर्म्मात्मा वा पापी समझ रहे हैं। बहुतेरे नियम ऐसे हैं, जिनको एक देशवाले अधर्म्म और अपने सामाजिक नियमोंके विरुद्ध और दूसरे देशवाले उनहींको धर्म्म और अपने सामाजिक नियमोंके अनुकूल समझ रहे हैं। जैसे स्त्रियोंका

पुनर्विवाह करना आर्य्यावर्त्तके उत्तम कुलवालोंमें अधर्म्म और सामाजिक नियमोंसे विरुद्ध समझाजाता है, पर यही पुनर्विवाह अन्य देशियोंमें धर्म्म और उनके सामाजिक नियमोंके अनुकूल समझा जाता है। क्योंकि ऐसे देशोंमें मानुषी सृष्टिकी वृद्धिपर अधिकांश दृष्टि रखी गयी है। इसी कारण इन देशोंमें एक स्त्री दो चार पति कर सन्तानकी वृद्धि कर सकती है। इसकी सन्तति वर्णसंकर नहीं कही जासकती। पर जिन देशोंमें केवल प्रेमपर दृष्टि रखी गयी है, वहां स्वयम्वर करके विवाहका नियम रखागया है। तहां कुलीन स्त्रियोंका पुनर्विवाह नहीं रखा गया है, केवल नीच जातिकी स्त्रियोंका पुनर्विवाह विहित किया है, वह भी अपनी ही जातिके पुरुषके साथ अन्य जातिके पुरुष से नहीं।

उत्तम प्रेमका सच्चा और दृढ नियम है, कि एकहीसे होता है दश पांचसे प्रेम नहीं होसक्ता। इसी कारण देश-शिरोमणि आर्य्यावर्त्तका यह नियम है, कि जिस कुलीन स्त्रीको जिस पुरुषसे एकवार प्रेम सहित संलग्न होजावे उसीके साथ आयु व्यतीत करे। पतिके मरजाने पर यदि बन पडे तो उसके साथ भस्म होकर सती हो जावे, नहीं तो ब्रह्मवादिनी होकर पतिवियोगमें सर्वप्रकारके विषयोंसे रहित होकर तपस्विनीके समान अकेली आयु व्यतीत करे और अन्तमें भगवत्के चरणोंमें जामिले।

यह उत्तम स्नेहका आदर्श इस आर्य्यावर्त्तको छोड अन्य किसी देशमें पाया नहीं जाता। इस देशमें कुलीन स्त्रियोंके पुनर्विवाहको अधर्म्म और अपने सामाजिक नियमोंसे विरुद्ध समझते चले आरहे हैं।

इसी कारण इस देशको *आर्य्यावर्त्त (श्रेष्ठ देश) कहते हैं ।

फिर व्यभिचार क्या है ? सो सुनलो । चाहे कोई देश क्यों न हो सब देशोंमें जिस पुरुषसे जिस स्त्रीका विवाह वा पुनर्विवाह नहीं हुआ उस पुरुषसे उस स्त्रीका संभोग होना व्यभिचार और अधर्म्म समझा जाताहै ।

विज्ञानशास्त्रवेत्ता यह सिद्ध करचुकेहैं, कि स्त्री और पुरुषके संयोग समय दोनोंके मस्तिष्कमें जैसी वृत्ति उत्पन्न होगी तदाकार पुत्रका भी मस्तिष्क तयार होगा । अब विचारने योग्यहै, कि व्यभिचार करते समय दोनोंके मस्तिष्कमें वेदवाक्योंका तिरस्कार रहताहै जिससे अनुचित कामकी अधिकता, चोरी, धूर्त्तता, कपट, छल, दंभ, हिंसा इत्यादि मलीन संकल्प उनके मनमें भरजातेहैं । यहतो सभी जानतेहैं, कि जब परस्त्री और परपुरुष इकट्ठे होंगे तो वे बिना चोरी एकत्र नहीं होसकते । उस स्त्रीके पतिसे चोरी करनी पड़ेगी । उसके पतिके साथ धूर्त्तता कर उसे धोखेमें डाल रखना पडेगा तथा कपट और छलकी बातें करनी पड़ेंगी । दोनोंके चित्तमें ऐसा मलीन संकल्प अवश्य उत्पन्न होगा, कि किसी प्रकार

---

* आर्य्यावर्त्तः— (आर्य्या आवर्त्तन्तेऽत्र)आर्य्य+ आ + वृत + आधारे घञ । विन्ध्यहिमाचलयोर्मध्यदेशः । श्रेष्ठ लोगोंसे जो घिराहो । जहां श्रेष्ठ लोग बार बार उत्पन्न होते हों ।

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः (मनु अ० २ श्लो० २२)

अर्थ—पूर्वके समुद्रसे पश्चिमके समुद्र तक जो देश विन्ध्याचल और हिमाचल पर्वतोंके मध्य वर्त्तमान है उसे " आर्य्यावर्त्त " कहते है

उस स्त्रीका सच्चा पति मरजावे वा मारा जावे। इसी व्यभिचारकी अधिकताके कारण बहुतेरी स्त्रियोंने अपने सच्चे पतिका प्राणघात कर दियाहै। अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। व्यभिचार करते समय दोनोंके मस्तिष्कमें अधर्म्मके अनेक अंग भरजातेहैं। उनकी पाप वृत्तिके प्रकट करनेकेलिये एक अधर्म शब्दही बहुतहै। अधर्मियोंके हृदयमें वेद, शास्त्र और गुरुओंके वचनोंमें अविश्वास उत्पन्न होना सहज है।

पहले कह आयेहैं, कि स्त्री पुरुषके संपरिष्वक्त+ होते समय जैसी दोनोंके मस्तिष्ककी वासनायें होंगी तदाकार बच्चेका भी मस्तिष्क उत्पन्न होगा।

इससे सिद्ध होताहै, कि मा बापके सारे अवगुण उस वर्णसंकरमें प्रवेश करतेहैं। इसी कारण वर्णसंकर चालाकी, छल, कपट, धूर्त्तता प्रपञ्च और वेदवाक्योंमें अश्रद्धा इत्यादि सर्व प्रकारके अधर्म्मोंका भण्डार समझा गयाहै।

वर्णसंकरको दूषित कहनेका दूसरा कारण यहहै, कि "आत्मावै जायते पुत्रः" अर्थात् पुरुष अपनी स्त्रीसे आपही अपना पुत्र होकर उत्पन्न होता है। "तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः" अर्थात् वही जाया, जाया कहलातीहै, जिसमें यह पुरुष पुत्र रूपसे स्वयं उत्पन्न होताहै। इन श्रुतियोंसे सिद्धहै, कि व्यभिचारी स्वयं पुत्ररूप होकर उत्पन्न हुआहै। इसलिये वह वर्णसंकर दूषितहै। क्योंकि व्यभिचारी ही वर्णसंकर हुआहै। इस संसारका सामान्य नियम है, कि पुण्यात्माका

+ संपरिष्वक्त—दोनोंमें गाढ आलिंगन होना। अंगसे अंगका चिपटजाना।

पुत्र पुण्यात्मा और पापात्माका पापात्माही होताहै। यदि किसी स्थान में इसके प्रतिकूल देखा जावे तो जानना चाहिये, कि कोई विशेष कारण है। जैसे दुरात्मा राक्षस हिरण्यकश्यपका पुत्र **प्रह्लाद** भक्त शिरोमणि हुआ है। तहां विशेष कारण यह कहा जाताहै, कि जब वह गर्भमें था तब महर्षि नारदने उसकी माताको राममन्त्रका उपदेश देकर उसके गर्भको पवित्र कर कह दियाथा, कि पुत्रि! तू चिन्ता मत कर! इस राममन्त्रके प्रभावसे तेरा बालक भक्तशिरोमणि होगा।

इन्हीं कारणोंसे **वर्णसंकर** दूषित कहाजाताहै। यहां शंका मतकरो।

अब अर्जुन कहताहै, कि **[पतंति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डो-दकक्रिया:]** इन पितरोंके घात करनेवाले पुरुषोंके पितर **पिण्ड** और **उदक**की क्रियाओंके लुप्त होजानेसे उच्चगतिसे नीचगतिको प्राप्त होतेहैं। क्योंकि इन क्रियाओंके लुप्त होजानेसे पितरोंके स्वर्गादि आरोहणका बल घटजाताहै। जैसे वैलूनद्वारा आकाशपर चढने वालोंका बल वाष्प है, जिसके द्वारा वे ऊंचे चढते चले जातेहैं और उस वाष्पकी कमतीसे धीरे धीरे नीचेको गिरते चले आतेहैं। इसी प्रकार पितृकर्म-रूप वाष्प कम होजानेसे पितर लोग नीचेको गिरते चले आतेहैं। वर्ण-संकरके उत्पन्न होनेहीसे **पिण्ड** और **उदक**की क्रिया लुप्त होजातीहै। क्योंकि वर्णसंकरके पिताका तो पताही नहीं लगता, कि कौनहै? इसका कारण यह है, कि उसके यथार्थ पिताका पता बतानेमें माको लज्जा आती है और जो प्रसिद्ध पिता है वह उसका यथार्थ पिता है नहीं। इसलिये वर्णसंकर द्वारा पितृकर्म्म-सम्बन्धी फल उस प्रसिद्ध पिताको तो

पहुंच ही नहीं सकता । यदि पहुंचे तो उस व्यभिचारीको पहुंचे जिसके बीजसे वह उत्पन्न हुआ है, तहां भी सन्देहही है। क्योंकि जब तक पुत्रके ध्यानमें अपने यथार्थ पिताका स्वरूप नहीं होगा तब तक पिंडोदकक्रिया सिद्ध नहीं होगी । जिसकेउद्देश्यसे कर्म किया जाता है उसका नाम और गोत्र जब तक संकल्पमें उच्चारण नहीं किया जावे तब तक कर्मका फल उसको पहुंच नहीं सकता। प्रमाण— "नाऽनामगृहीतं गच्छति" अर्थ—बिना नामके पितरोंको प्राप्त नहीं होता (य० कात्या० श्रौतसू० कण्डिका ८ सूक्त ५) इसलिये वर्णसंकर के पिताका कुछ पता न होनेसे कर्म निरर्थक होगा। दूसरी बात यह है, कि वर्णसंकरको श्राद्धका अधिकारही नहीं है। इसकारण यदि उसने अपने व्यभिचारी पिताको देखा भी होतो निरर्थक है । तीसरीबात यह है, कि व्यभिचारीके पुत्रको वेद वचनोंमें विश्वास न होनेके कारण पिण्ड और उदक की क्रियामें विश्वास ही नहीं होगा। इस कारण यथार्थ पिताकेलिये दोनों प्रकारसे पिण्ड और उदककी हानि होती है । पिण्डोदक लोप होनेसे पितरोंका पतन होता है। क्योंकि स्वर्गारोहणका बल घट जाता है।

पाठकोंके कल्याणार्थ पिंड और उदक की क्रियाओंका वर्णन किया जाता हैं।

बहुतेरे साधारण प्राणी जानते हैं, कि दूध में चांवल पीसकर मिलादेनेसे पिण्डकी क्रिया और दो चार लोटे जल- पृथ्वीपर गिरादेनेसे उदककी क्रिया समाप्त होजाती है, पर ऐसा नहीं। बडे शोककी बात है, कि इन दिनों इस भारतवर्षमें सद्विद्याके अभाव और

चिरकालसे विज्ञान तथा दर्शनोंके यथार्थ मर्म्मके लुप्त होजानेसे बहुतेरे प्राणी सनातन वैदिक धर्म्मके गूढ सिद्धान्तोंको न समझकर केवल दो चार प्रमाणोंसे ऐसे गूढ वैज्ञानिक विषयको जानना चाहते हैं। इसी कारण वैदिक कर्म्मोंके यथार्थ मर्म को न जानकर उसे बुरी दशामें डाल निन्दनीय बना डालाहै; अस्तु।

अब यहां पहले पिण्डकी क्रियाका वर्णन किया जाता है, पश्चात् उदककी क्रियाका वर्णन किया जावेगा। "**श्राद्धशेषद्रव्यनिर्मितबिल्वफलाकारपित्रुद्देश्यकदेयान्नम्**" अर्थ— श्राद्ध क्रिया समाप्त होनेपर जो कुछ द्रव्य शेष रह जाते हैं उन्हें एक ठौर मिलाकर बेलके फलके समान गोलाकार बना पितरोंके लिये देना। फिर गोभिलसूत्रमें पिण्डका दान यों लिखा है, कि "**दर्भेषु मधुमधुमध्वित्यन्नमीमदन्त**" इति जपित्वा त्रींस्त्रीन् पिंडान् दद्यात् अर्थ— कुशाकी पिंजुलपर उक्त "**मधु ....**" मंत्रको जपता हुआ तीन तीन पिंड देवे। अर्थात् प्रत्येक मधु शब्दके साथ तीन तीन पिंड देवे। तहां मनुका भी वचन है "**त्रींस्तु तस्माद्धविःशेषात्पिडान्कृत्वा समाहितः। औदकेनैव विधिना निर्वपेद्दक्षिणामुखः॥**" [मनु० अ० ३ श्लो० २१५] अर्थ— श्राद्धकी आगमें हवन किये हुये द्रव्यका जो शेष भाग बचगया उस अन्नसे तीन पिंड बनाकर जल देनेके क्रमसे दक्षिणामुख होकर समाहित चित्तसे उन कुशाओंके ऊपर दाहिने हाथ से तीन पिंड देवे अर्थात् जहां जहां जल दिया था तहां-तहां-कुशा रखकर पिण्ड देवे।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि मधु, घृत, तिल, हविष्य तथा जो व्यंजनादि हैं उनका पिण्ड बनाकर पितरोंको अर्पण करे। "उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः। अवजिघ्रेच्च तान्पिण्डान् यथान्युप्तान् समाहितः"॥ (मनु० अ० ३ श्लो० २१८) श्राद्धके शेष जलको प्रत्येक पिण्डके समीप शनैः शनैः देवे और उन पिण्डोंको क्रमसे सावधान होकर सूंघे।

प्यारे पाठको! वर्त्तमान कालमें इस पिण्ड सूंघनेका मर्म न जाननेमे बहुतेरे आधुनिक विद्याशिक्षित नवयुवकोंकी दृष्टिमें यह क्रिया हंसी सी जान पडती हे। बहुतेरे बुद्धिमान् यों समझतेहैं कि पितर मरने के पश्चात् भूखे प्यासे रहजाते होंगे इसलिये उनके भोजन निमित्त मधु, घृत इत्यादि मिलाहुआ अन्न दियाजाता है। पर ऐसा नहीं समझना चाहिये। विज्ञानकी दृष्टिसे पिंड देने और उसके सूंघनेका यथार्थ मर्म क्या है? सो सुनो!

ईश्वरने इस सृष्टिके भिन्न-भिन्न द्रव्योंमें अद्भुत प्रकारकी भिन्न-भिन्न शक्तियां प्रदान की हैं। प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि उद्भिजोंके संयोगसे एक ऐसी नवीन आश्चर्यमय शक्ति उत्पन्न होजाती है जिसके ग्रहण करनेसे मनुष्योंका मस्तिष्क कैसाभी शोकातुर वा उदासीन हो थोडी देरके लिये प्रसन्न होजाता है। कैसा भी कातर हो वीर बनजाता है। जैसे मद्य (शराब)। इसी प्रकार **क्लोरोफ़ौर्म** जो केवल एक प्रकार के मादकजल, मद्यसार, मद्य इत्यादि मादक पदार्थोंके संयोगसे बनता है, जिसे मनुष्यको सुंघा देनेसे उनका मस्तिष्क एक बारगी अचेत होजाता है

और वाहरकी शारीरिक सुधि कुछभी नहीं रहती । इसीके प्रतिकूल मृगचर्म, मधु, घृत, तिल, यव, क्षीर, चावल, कुश, सोमरस और एक प्रकारके वृक्षकी लकडी जिसे "विंकंकत" (टेंटी वा टिंटक) कहते हैं एकसंग मिलाकर विल्वाकार पिंड बनाकर यजमानको सुंघा देनेसे जो "चित्तवहानाडी" है वह खुलजाती है जिसके खुलजानेसे श्राद्ध करनेवालेको ऐसा वोध होजाता है, कि मेरा मृतक (पुत्र वा पिता इत्यादि) मरकर द्युलोक, भूलोक और अन्तरिक्ष लोक इन तीनों लोकोंमें किस लोकको प्राप्त हुआ है ? इसी कारण वैदिक मंत्र द्वारा उस पिंडको × सूंघनेकी आज्ञा है । इतना तो पिंड-क्रियासे वोध होजाता है, कि मृतक किस लोकको प्राप्त हुआ है ? और उदक क्रियासे, जिसे आगे वर्णन करेंगे, यहभी वोध होता है, कि वह मृतक उदक रूपसे पर्जन्यमें कैसे निवास कर रहा है ? छांदोग्यो-पनिषद् तथा वृहदारण्यकोपनिषद् में पंचाग्नि-विद्याका वर्णन कियागया है । पाठकोंके कल्याण निमित्त इस विद्याका संक्षिप्त वर्णन इस गीता शास्त्रके अध्याय २ श्लोक २२ में भी किया गया है । उसी पँचाग्नि विद्याके द्वारा जानाजाता है, कि मरनेके पश्चात् जो प्राणी मोक्षपदको प्राप्त होजाते हैं उनको छोड शेष जितने जीव हैं उनकी तीनही गति होती हैं; अर्थात् मरनेके पश्चात्

× किसी आचार्य्यकी यह सम्मति है, कि तीन पिण्ड इसलिये सूंघतेहै, कि पिता, पितामह और प्रपितामह तीनोंके स्थानोंका वोध होजावे । जो हो । तात्पर्य्य सूँघनेका प्रसिद्ध है । मतान्तरसे क्रियाके फलमें हानि नहीं , क्योंकि यजमानको पिण्ड द्वारा तीन पीढी तक उद्धार करनेका अधिकार दिया हुआ है (देखो श्राद्धमीमांसा, श्राद्धविवेक, मदन पारिजात इत्यादि)

उक्त तीन लोकोंसे किसी एक लोकमें निवास करते हैं। इनही तीनोंके लिये पिंड और उदककी क्रियाओंकी आवश्यकता है। इसी कारण तीन स्थानोंमें पिंड और उदक देना सर्वशास्त्र सम्मत है।

१. जिनके कर्म अच्छे हैं वे स्वर्गलोक, पितरलोक इत्यादि दिव्य-लोकोंमें जाकर अपने शुभ कर्मोंके फल नाना प्रकारके दिव्य भोगोंको भोगते हैं। इनकेलिये पिण्ड और उदककी क्रिया केवल इसी तात्पर्य्यसे की जातीहै, कि ये उन दिव्य लोकोंसे नीचे पतित न होकर ऊपर बृहस्पति तथा प्रजापतिके लोकोंकी ओर चले जावें।

२. जिनके कर्म मन्द हैं वे अन्तरिक्षलोक अर्थात् सूर्य्यलोक चन्द्रलोक इत्यादि लोकोंमें निवास करते हैं। ये अन्तरिक्षसे नीचे पृथ्वीमें पतित न होने पावें किन्तु ऊपर स्वर्गादिको गमन करें इस कारण इनके लिये भी पिण्ड और उदककी क्रियाओंकी आवश्यकता है।

३. वे जो अतिमन्द अर्थात् अशुभकर्मवाले हैं पृथिवीमें गिरकर वनस्पतियोंमें, औषधियोंमें तथा अन्नादिमें निवास करते हैं और वहांसे किसी शरीरमें रेत होकर गर्भमें प्रवेशकर जन्म मरणका दुःख भोगते रहते हैं। इनको इस दुःखसे छुडाकर स्वर्गादि लोकोंकी ओर उलटा लेजानेके तात्पर्य्यसे पिण्ड और उदककी क्रियाओंकी विशेषतः आवश्यकता है। इनसे इतर जो घोर पापी और आततायी हैं, उनके लिये पिण्ड और उदककी क्रियाका प्रभाव बहुत दुर्लभ है। उदक और पिण्डकी सहस्रों वारकी क्रियाओंका फल एकत्र हो तो कदाचित् इनको नरकसे निकाले तो निकाले।

पहले कहा गया है, कि पिण्डोंके सूंघनेसे पिण्डदान कर-

नेवालेके ध्यानमें मृतकका स्थान सूक्ष्मरूपसे देख पडता है । पर अब इस समय मंत्रशास्त्रका अभ्यास छूट जानेसे पिण्डोदकके वैदिक मंत्रोंका प्रभाव कम रह गया । इसलिये इस समय मंत्रोंके सहित पिण्डोंके सूंघने से मृतकके स्थानका पता लगे वा न लगे, पर जिस समय बडे-बडे महापुरुष यथार्थ मंत्रोंके प्रयोग द्वार इस पिण्डको सुंघवाया करतेथे उस समय मृतकके स्थानका वोध अवश्य होता था । जब पिण्डोदक क्रिया करनेवालेको मृतकके स्थानका वोध होजाता था, तब मृतकको उस स्थानसे ऊपर लेजानेके लिये पितृलोकके प्रसिद्ध पितर अर्य्यमा, अग्निष्वात्ता इत्यादिकोंको प्रसन्न करनेके तात्पर्य्यसे नाना प्रकारके सुस्वादु फलोंका पिण्ड बनाकर अर्पण करतेथे । जैसे मन्दिरोंमें भगवत्की प्रसन्नताके लिये स्वादिष्ट पक्वान्न तथा फलादि अर्पण करते हैं । एवम् प्रकार प्रसन्न करे इनसे प्रार्थना किया करते थे, कि मृतक को नीचे पतन न होने देवें, वरु अपने संग अपने लोकको लेजावें, अथवा उच्च लोकको पहुंचा देवें । जैसे मृतक यदि सूर्य्यमें है तो वहांहीसे उसे स्वर्गको पहुंचा देवें । यदि चन्द्रमामें है तो वहांसेही अपने पितृलोकमें लेजावें । यदि अभ्रमें है तो वहांसे ही फिर उसको सूर्यलोक वा चन्द्रलोक द्वारा स्वर्गलोक वा पितृलोकमें पहुंचावें, जहां पूर्वके पितर आनन्दपूर्वक सुख भोगते हैं । इसी प्रकार जो जीव पृथिवी पर अन्नमें निवास कररहे हैं उनको वहांसे निकाल पर्जन्यमें फिर सुर्य्यलोक वा चन्द्रलोक होते हुए *देवयान

\+ "देवयान" और 'पितृयान" का वर्णन इस गीताके आठवें अध्यायमें देखो ।

वा पितृयान द्वारा देवलोक वा पितृलोकमें पहुंचा दिये जावें ।

इसीकारण जब श्राद्धकी समाप्ति होती है तब पिण्डक्रियाके पश्चात् एक वेदी बनाई जाती है उसपर एक दर्भ रखकर सूत द्वारा तीन भाग कर तीनोंपर पृथक्-पृथक् यह मंत्र पढ़ जल डालते हैं— " स्वधापितृभ्यो दिविषद्भ्यः, स्वधापितृभ्योऽन्तरीक्षसद्भ्यः, स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्यः " जिसका अर्थ यह है, कि जो हमारे पितर " दिविषद् " स्वर्गादि लोकोंमें निवास कररहे हैं उनको स्वधा होः अर्थात् इस मेरे श्राद्ध तथा पिण्डदानादि कर्मोंका फल पहुंचे । जो मेरे पितर "अन्तरिक्षसद्" हैं अर्थात् सूर्य्य, चन्द्र वा पर्जन्य इत्यादि लोकोंमें हैं, उनको इस मेरे श्राद्ध और पिण्ड क्रियाके शुभ कर्मका फल पहुंचे । इसी प्रकार तीसरे खण्ड पर पढ़ते हैं, कि जो हमारे पितर "पृथिवीसद् " अर्थात् पृथिवी पर औषधि इत्यादिमें, अथवा प्रेतादि अधम योनियोंमें हैं उनको भी इस मेरे पिण्डोदक कर्मका फल पहुँचे ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो जहां है वहांसे ही शुभ गतिको प्राप्त हो और स्वर्गारोहण करता चला जावे; अर्थात् पिण्डोदकादि शुभ कर्म्मोंका फलरूपवाष्प (स्टीम) इतना भरदियाजावे, कि उनके स्वर्गारोहण का व्योमयान (बैलून) शीघ्रगामी होकर आकाशकी ओर चढ़ता चलाजावे ॥

पहले जो कहआये हैं, कि सुस्वादु अन्न फलादि द्वारा पितरलोकके पितरोंको प्रसन्नकर मृतपितरोंको नीचस्थानसे उच्चस्थानमें पहुंचादेनेकी प्रार्थना कीजाती है । इसमें बहुतेरे आधुनिक नवयुवकोंको यह शँका उत्पन्न

होगी,कि देवता पितर यदि अन्न फलादि ग्रहण करते तो उस सम्पूर्ण भागमें अवश्य कुछ कमी होजाती सो ऐसा देखा नहीं जाता। इसलिये देव पितर इत्यादिको भोग लगाकर प्रसन्न करना निरर्थक कर्म है और गप्प माराहुआ है। इसका उत्तर यहहै, सुनो ! परमात्माने अपनी सृष्टिमें कीटसे लेकर ब्रह्मा पर्य्यन्त भिन्न-भिन्न योनियोंमें ऐसी ऐसी विचित्र सत्ता डालदीहै जिससे वे वस्तुओंके सारांशको खैंचलेवें, पर उस वस्तुमें प्रत्यक्ष कुछ अदल-बदल, रूपान्तर वा न्यूनाधिक्य न देखपड़े।

हस्ती कपित्थफल (कैंथा) को भक्षणकर उसके सारांशको अपने पेटमें खैंचलेता है और अपनी लीद द्वारा जब उस फलको निकाल देता है तब वह फल पूर्णरूपसे ज्योंका त्यों देख पड़ताहै। मधुमक्खियां पुष्पोंके सारांशको ग्रहणकरे मधु बना लेती हैं, पर पुष्पोंके किसी अंशका ह्रास देखनेमें नहीं आता। जलूका (जोंक) रक्तमें से विकृतरूप अंशको पीजातीहै। भ्रमर कमलके मकरन्दको ग्रहण करलेता है, पर कमलका कुछभी ह्रास प्रत्यक्ष देखा नहीं जाता। हंस नीर मिलेहुए क्षीर से क्षीरको खैंचलेताहै और नीर ज्योंका त्यों धरा रहजाता है।

जब परमात्माने इन साधारण जीवोंमें अलौकिक शक्ति प्रदानकी है तो देव और पितरोंमें भोगके पदार्थोंके सारांश खैंच लेनेकी शक्ति क्या नहीं प्रदान की होगी ? अवश्य की होगी। इसमें आश्चर्यकी कौनसी बातहै ? इसलिये तुम्हारी शंका निरर्थक है और स्कूलके नीच श्रेणियोंके बच्चोंकी सी है। शंका मतकरो।

दूसरी बात यहहै, कि देव और पितर केवल स्वादु अन्नोंके सारांश खैंचनेसे ही प्रसन्न नहीं होते हैं। जैसे वर्तमान कालमें बड़े बड़े राजा, महाराजा, हाकिम इत्यादिके सम्मुख भेट (नज़र) दिखलायीजाती है अथवा पत्र, पुष्प, फल इत्यादिकी डालियां सम्मुख धरीजाती हैं, तो इससे ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि इस अल्प भेटके द्रव्यसे उन राजा, महाराजा इत्यादि धनवानोंके कोषकी वृद्धि होगी अथवा इन अल्प डालियोंसे उनके एक दिनके भंडारका भी व्यय चलेगा। नही ! नहीं !! इन भेट और डालियोंसे केवल प्रेमका भाव प्रकट किया जाताहै, जिससे उन महान् पुरुषोंकी प्रसन्नताही अभिप्रेत है। पर यदि कोई राजाका आमात्य वा अन्य चाकर अपना उचित राजकाज न करके राज की हानि करे और राजाको प्रतिदिन भेट वा डाली दिखाया करे तो ऐसे आमात्य वा चाकरसे उसका स्वामी कभी प्रसन्न नहीं होगा। प्रत्युत उसकी भेट वा डालीका तिरस्कारकर उसका उचित दंड करेगा। इसी प्रकार देव और पितर केवल भोगसे ही प्रसन्न न होकर मनुष्योंके प्रेम भाव तथा शुभकर्मोंसे प्रसन्न होते हैं।

यहां इस विषयके कथन करनेका मुख्य अभिप्राय यहहै, कि पिंड क्रियामें मृतकोंके स्थान जाननेके लिये केवल पिंड सूँघना वा पितरों को मधुर मधुर स्वादु अन्नोंका पिंड बनाकर भोग निमित्त अर्पण करनाही मुख्य क्रिया नहीं है, किन्तु पिंडोदक तो श्राद्धकर्म्मका एक अंशमात्र है। श्राद्धमें जप, हवन, पिंड दान इत्यादि १८ मुख्य कर्महैं जो विज्ञान से सम्बन्ध रखतेहैं। श्राद्धकी सब क्रियायें वैज्ञानिक हैं, जिनसे मृतकका परम कल्याण होताहै। यदि इन १८ कर्मोंमें केवल एक दान क्रिया

की ही ओर दृष्टि कीजावे तो मृतका बहुत कुछ कल्याण है । इसलिये जब पिंड-क्रियावाला यजमान उस पिंडप्राण द्वारा जान लेताहै, कि उसका मृतप्राणी किस स्थानमें हैं तब पितृदेव अर्थात् अर्यमा इत्यादिको भोगों द्वारा तथा श्राद्धकर्मके सम्पादन द्वारा प्रसन्न करताहै तथा महात्माओंका और ब्राह्मणोंको भोजन दानादिसे प्रसन्नकर दरिद्रोंका भरण पोषण करता है । नंगोंको वस्त्र और रोगियोंको औषधि इत्यादि दान दे, मृतकके उद्देश्यसे विशाल पितृयज्ञ करता है, जिससे पितरलोक निवासी पितृदेव उससे प्रसन्नहो उस उग्रदानके फलको ग्रहणकर मृतकको उच्चस्थानकी ओर लेजातेहैं ।

यहांतक तो पिण्डक्रियाका सँक्षिप्त अभिप्राय समझाया गया अब उदकक्रियाके विषयमें सुनो !

। उदकक्रिया ।

उदक कहतेहैं जलको, उस जलका भंडार वा समूह जलधर अर्थात् मेघमाला है । अध्या०२के २२वें श्लोकमें पंचाग्निका वर्णन करते हुए यह दिखलाया गयाहै, कि मृतककी "श्रद्धा" अर्थात् चेतन जिसे पुर्य्यष्टका कहते हैं, जो मरणके समय इस शरीरसे छूटकर पहले सूर्य द्वारा आकर्षित हो वहां से सोमराजा वनता है; अर्थात चन्द्रमें आता है, फिर पर्जन्यमें आता है, पर्जन्यसे वर्षा द्वारा पृथ्वीमें आकर अन्नोंमें और औषधियोंमें अर्थात् भिन्न भिन्न वनस्पतियोंमें पड़ताहै । तिनके भोजनसे रेत बनकर चौरासी लक्ष योनियोंमें से किसी एक योनिमें जा जन्म लेता है । भगवानने भी इसी गीता में कहाहै, कि "अन्नाद्

भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः" ॥ (देखो अ० ३ श्लो० १४) इसी कारण श्राद्धमें पिंडके साथ उदककी क्रिया रखी गयीहै, कि मृतक यदि पर्जन्यमें आ उदकरूपमें वर्त्तमानहै तो उसे जो किसी नीची योनिमें आनेका भयहै वह न आने पावे, किन्तु पर्जन्यसे आकाशकी ओर पितरलोकादि लोकोंमें चलाजावे। इसी पर्जन्यसे अन्न होकर भूतोंमें पुनरागमनके रोकने को उदकक्रिया कहतेहैं। साधारण श्राद्ध करने वाले यजमान और उनके आचार्य्य तो केवल पिंडपर जल गिरा देनेको उदकक्रिया समझते हैं। यदि केवल जलही गिरादेना उदकक्रिया होती तो श्राद्ध करानेके लिये विद्वानोंकी खोजखाज न होती। कुलका मूर्ख पुरोधा भी करा लेता, पर हमारे देशमें यह वार्त्ता प्रसिद्ध है, कि साधारण पंडितसे श्राद्धकर्म न कराकर काशी इत्यादि स्थानोंसे विद्वान पंडितको बुलाते हैं, जो क्रियाओंका यथार्थ मर्म जानता हो। अस्तु।

उक्त उदकक्रियाके सम्पादनके लिये परम प्रभावशाली मंत्रोंद्वारा हवन कराया जाता है, जिससे उत्तम मन्त्र संशोधित आहुतियोंका धूम आकाशमें उस पर्जन्यसे जामिले जहां मृतक आपही है और वह धूम एवम् प्रकार पर्जन्यसे मिल मृतकको संग लिये नीचे न आकर ऊपरको चलाजावे। अर्थात् सूर्य्य, चन्द्र वा पितर इत्यादि लोकोंको पहुंच जावे, इन्ही मंत्रों द्वारा अर्य्यमा इत्यादि पितरोंसे प्रार्थना कीजाती है, कि वे मृतकको ऊपर लेजा उत्तम लोकोंके भोगोंसे तृप्त करें। देवान् वै पितृन् प्रीतान् मनुष्याः पितरोऽनुप्रीयन्ते। देवता रूप पितरोंके तृप्त होनेके अनन्तर मनुष्यरूप पितर तृप्त होजाते हैं।

पिंडोदक्की क्रिया परम वैज्ञानिक क्रिया है, जो मंत्रोंकी और पदार्थोंकी अलौकिक शक्तियोंके योगसे सिद्ध होती है। इसलिये यह क्रिया "पदार्थविद्या" और "आत्मविद्या" दोनोंसे सम्बन्ध रखती है। प्रिय पाठको ! सच्ची बात तो यह है, कि पिंडसे अभिप्राय इस शरीर रूप पिंडका है जो रोम, चर्म, रुधिर, मांस इत्यादिके मेलसे बना हुआ है और उदकका अभिप्राय जीवात्मा (चेतन) से है, सो पहले कहआये हैं। इसलिये इस शरीर और आत्मा दोनोंके कल्याण निमित्त जो वैज्ञानिक क्रिया कीजाती है उसे पिंडोदक-क्रिया× कहते हैं - आज कलके नवशिक्षित युवक इसके गंभीर रहस्यको नहीं जानसकते। इसलिये पिंडोदक-क्रिया अर्थात् श्राद्धसे विमुख रहते हैं।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि वेदोंने जिन कर्मोंकी आज्ञा दी है उन्हें निःशंक होकर सम्पादन करनाही चाहिये। नहीं करनेसे नरकगामी होना पडता है।

ग्रन्थके विस्तार होजानेके भयसे मंत्र इत्यादिका लेख न किया गया। जिन्हें देखनेकी आवश्यकता हो नीचे लिखे ग्रन्थोंको देखें।

टिप्प०—ऋग्वेद अ० ६। शुक्लयजुर्वेद अ० १६। अथर्व काण्ड १८। गोभिलगृह्यसूत्र ४। ३। २। से लेकर ४। ४। १। पर्य्यन्त। आश्वलायन-श्रौत-सू० अ० २। मारकण्डेयपुराण अ० ३०। ३१। ३२। ३३। अग्निपुराण अ० १६३। वृहन्नारदीय अ० २६। लिंगपुराण अ० ४५। मत्स्यपुराण अ० १६, १७। १८। १६। २०। २१। २२। वाराहपुराण अ० १३। १४। कूर्मपुराण अ० २०। २१। २२। शिवपुराण श्राद्धकल्प० अ० ६२।

× देखो "हंसनाद" तृतीय भाग श्राद्ध-व्याख्यान।

शंका—अन्यके कर्मोंका फल अन्यको कैसे मिल सकता है? अर्थात् पुत्रका कर्म पिताको क्यों प्राप्त होगा?

समाधान— मैं श्रुतियोंका प्रमाण देकर तुमको समझा आया हूं, कि पुत्र पिताही की छाया है। पिता स्वयम् अपनी जाया में पुत्र होकर उत्पन्न होता है। (देखो पृ० १६४) इसी कारण पुत्रोंके कर्मफल पिताको और पिताके कर्मफल पुत्रोंको प्राप्त होते हैं। इसी सिद्धान्त से वर्णसंकरके कर्मफल उसेक प्रसिद्ध पिताको नही पहुंचते। क्योंकि वह उसकी छाया नहीं। अतएव पिण्डोदककी क्रिया लुप्त होनेसे प्रसिद्ध पिताका पतन होना सिद्ध होताहै।

देखो! मैं तुमको सम्प्रत व्यवहार से भी दृष्टान्त देकर समझादेता हूं। गवर्नमेंट इंगलिशियाकी ओरसे जो प्रतिनिधि(एजेंट) राजपूतानाके अथवा अन्य किसी प्रान्तके कार्य्य सम्भालनेको नियत किया जाता है, यद्यपि वह एक बनाया हुआ और माना हुआ एजेंट है तोभी उसके किये हुए कार्य्योंका फल चाहे हानि हो वा लाभ गवर्न्मेंटको पहुंचता है। पुत्र तो पिताका स्वभाविक प्रतिनिधि (एजेन्ट) है, फिर उसके कर्मोंका फल पिताको क्यों नहीं पहुंचेगा?

दूसरी बात यह है, कि अंगी को अपने अंगके किये हुये कर्मका फल पहुंचता है, यह प्रत्यक्ष है। देखो! यदि कोई अपनी अंगुली किसीकी आंखमें घुसेडकर उसकी आंख फोड दे तो न्यायकर्त्ता (हाकिम) अंगुलीको दोषसमझ कारागार न देकर उस अंगुलीवाले पुरुष को कारागार देगा! मुख्य अभिप्राय यह है, कि अंगका कियाहुआ फल

...लोको प्राप्त होता है । इसलिये पुत्रके कर्मका फल पिताको अवश्य ...होता ! संस्कृतमें " अङ्ग " पुत्रकाही पर्य्याय शब्द है । यहां शंका मत करो ! ॥ ४१ ॥

पितरोंके भगनेसे यहांतक पिंडदानादिक के क्रियालोप वादका उल्लेख कियागया ।

अब अर्जुन वर्णसंकरोंके द्वारा सर्व प्रकारके धर्मोका नष्ट होना उल्लेखता हुआ कहता है ।

मू०—दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।

उत्साद्यन्ते जातिधर्म्माः कुलधर्म्माश्च शाश्वताः॥४२॥

पदच्छेदः—कुलघ्नानाम् (वंशघातकानाम्) वर्णसंकरकारकैः (वर्णसंकरं कुर्वन्ति ते वर्णसंकरकारकाः तैः) एतैः (उक्तैः । कथितैः) दोषैः (दुष्कर्मभिः) शाश्वताः (परम्परया प्राप्ताः) जातिधर्म्माः (क्षत्रियत्वादीनि कथनानि जाति प्रयुक्ता धर्म्माः । वर्णधर्म्माः) च (तथा) कुलधर्म्माः (वंशप्रयुक्ता धर्म्माः) उत्साद्यन्ते (लुप्यन्ते । विनश्यन्ति) ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(कुलघ्नानाम्) अपने वंश नाश करने वालोंके (वर्णसंकरकारकैः) वर्णसंकर करडालने वाले (दोषैः) दोषों से (शाश्वताः) वंशपरम्परासे प्रचलित (जातिधर्म्माः) अपनी जाति के धर्म्म (च) और (कुलधर्म्माः) अपने कुलके धर्म्म सबके सब (उत्साद्यन्ते) नष्ट होजाते है ॥ ४२ ॥

भावार्थः— इस श्लोकमें अर्जुन वर्णसंकरका दोष दिखला

चुका है। अब उसी अभिप्रायको दृढ करनेके लिये श्री आनन्दकन्द व्रजचन्द से कहता है, कि [दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकर-कारकैः] अपने कुलके जो नाश करने वालेहैं उनमेंही वर्णसंकरों के उत्पन्न करनेका दोष निवास करता है। इसलिये इन वर्णसंकरोंके कारण जितने दोष इस संसारमें फैलतेहैं उन सबका मूलकारण इन्हेंही जानना चाहिये। युद्ध अथवा किसी अन्य व्यवहार द्वारा जब उनमें ये दोष प्रवेश करजाते हैं तब इन दोषोंसे [उत्साद्यन्ते जातिधर्म्माः कुलधर्म्माश्च शाश्वताः] उस कुलघातकके वंशसम्बन्धी जितने जातिधर्म्म हैं सब नष्ट होजाते हैं। अर्थात् जिन धर्म्मोंके पालन से ब्राह्मणोंका ब्रह्मत्व, क्षत्रियोंका क्षात्रियत्व और वैश्योंका वैश्यत्व स्थिर रहना समझा जाता है वे सबके सब धूलमें मिलजाते हैं। जिन उत्तम क्रियाओंके सम्पादनसे उस कुलकी मर्य्यादा और प्रतिष्ठा बनी रहती हैं, जिन धर्मोंके कारण विद्वानोंके समाजमें उनको उच्चस्थान दिया जाता है, जिन धर्मोंके कारण उनकी गणना कुलीनोंमें होती है, जिन धर्मोंके कारण बडे लोग उनसे सम्बन्ध किया चाहते हैं, जिन धर्मोंके कारण अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठित कुल वाले उनको अपनी कन्या प्रदान करते हैं. जिन धर्मोंके कारण उनके यश और कीर्त्तिका डंका नगरोंमें बजता रहता है, जिन धर्मोंके कारण उनके पडोसी उनको प्यार करते हैं और अपने घरका झगडा उनके समीप लेजाकर उनसे न्याय करवाते हैं जिन धर्मोंके कारण उनका अगला सन्तान धार्मिक, वीर, विद्वान्, साहसी और पुरुषार्थी निकलता है और जिन धर्मोंके कारण उनका शरीर कँचनके समान तेजोमय देखपडता है; वे सब

धर्म्म केवल वर्णसंकरसे एक बारगी ऐसे नष्ट होजाते हैं जैसे घरमें आग लगनेसे सारी सम्पत्ति भस्म होजाती है । इससे भी अधिक दुःख तो यह है, कि जैसे एक घरमें आग लगनेसे उसके अडोस पडोसके घर भी भस्म होजाते हैं इसी प्रकार एक कुलके नष्ट हुए उस कुलके सम्बन्धी जितने कुल होते हैं उनके भी सब धर्म्म नष्ट होजाते हैं । सारी मर्य्यादा मिट्टीमें मिलजाती है । इस प्रकार इन सब कुलवालों की अधोगति होती है ।

शंका—श्लोक ३९में तो अर्जुन कहचुका है, कि "**कुलक्षये प्रणश्यन्ती कुलधर्म्माः सनातनाः**" फिर इस श्लोकमें भी ऐसा क्यों कहा, कि— **उत्साद्यन्ते जातिधर्म्माः कुलधर्म्माश्च शाश्वताः** " इन दोनों श्लोकोंका एक समान अर्थ है फिर अर्जुनने ऐसी पुनरुक्ति क्यों की ?

समाधान—श्लोक ३९में केवल कुलधर्म्मके क्षय होनेके विषय कहा है । अब इस ४२ वें श्लोकमें कुल धर्म्मके साथ जाति धर्म का नष्ट होना भी दिखाया है । अभिप्राय यह है, कि वृद्धोंके अभाव से कुलके आचरणोंकी शिक्षा अगले सन्तानको नहीं मिलनेसे कुल-धर्म्मका नाश और वर्णसँकरकी उत्पत्तिसे जाति धर्म्मका नाश होता है । पहले श्लोकसे यह दूसरा श्लोक विशेष अर्थ बतानेवाला है, इस कारण यहां पुनरुक्ति-दोष नहीं कह सकते ॥ ४२ ॥

इस प्रकार कुल धर्म्मके लुप्त होजाने से उन कुलवालोंकी क्या दुर्दशा होती है? सो अर्जुन भगवान्‌से कहता है—

मू०—उत्सन्नकुलधर्म्माणां, मनुष्याणां जनार्दन !

नरकेऽनियतंवासो, भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४३॥

पदच्छेदः—जनार्दन ! (हे प्रलयकाले जनानां संहर्त्ता!) उत्सन्नकुलधर्म्माणाम् (विनष्टाः कुलधर्मा येषां तेषाम्) मनुष्याणाम् (जनानाम् । नराणाम्) नरके (कुम्भीपाकादि निरये) अनियतम्+ (नितरामपरिमितकाले) वासः (वसतिः । स्थानम्) भवति । इति (अनेन प्रकारेण) अनुशुश्रुम (आचार्य्याणाम्मुखाद्वयम् श्रुतवन्तः ।) ॥ ४३ ॥

पदार्थः—(जनार्दन !) हे प्रलयकालके समय मनुष्योंके संहार करने वाले ! (उत्सन्नकुलधर्म्माणाम्) कुल धर्म्म खोये हुए (मनुष्याणाम्) मनुष्योंका (नरके) कुम्भीपाकादि नरकोंमें (अनियतम्)अपरिमित काल पर्य्यंत (वासः) निवास (भवति) होता है (इति) ऐसा (अनुशुश्रुम) हम लोग आचार्य्योंके मुख से सुनते हैं ॥ ४३ ॥

भावार्थः— जिन मनुष्योंके कुल और जातिके धर्म्म लोप हो-जाते हैं उनके कुलकी गतिके विषय अर्जुन भगवानसे कहता है, कि-

× किसी किसी टीकाकारने नियतम ऐसा पाठ करके "नियतेनवासो भवति" ऐसा अर्थ किया है। इससे कुछ हानि नहीं क्योंकि दोनो अर्थोंका भावार्थ समान है। महाभारतमें " नियतम् " पाठ है

[उत्सन्नकुलधर्म्माणां मनुष्याणां जनार्दन !] हे जनार्दन ! वेद शास्त्र इत्यादि तुमको इस कारण 'जनार्दन' कहकर पुकारते हैं, कि तुम प्रलयकालमें सर्व जीव-जंतुओं का नाश करनेवाले हो। इसलिये तुमको तो इतने वीरोंके नाश होजानेकी चिन्ता कुछ भी नहीं है। तुम तो सदा आनन्द-भवनमें निवास करनेवाले हो। पर हे दयासागर ! दया कर यहतो विचारो ! कि जिन मनुष्योंके कुल और जातिके धर्म्म नष्ट होजाते हैं उन बेचारोंकी क्या दुर्गति होती है? कैसी आपत्तियां उनके सिरपर आपहुंचती हैं? उनको कैसा घोर कष्ट सदाके लिये सहन करना पडता है? [×नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम] हमलोग तो आचार्य्योंके मुखसे तथा वेदादि ग्रन्थोंसे इसप्रकार सुनते चले आये हैं, कि वृद्धोंके अभावसे जिन मनुष्योंके कुल-धर्म्मका नाश

×पाठकोंके बोधार्थ नरकोंका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है:=

नरकः-- " नरस्य कं शिरो यत्र" मनुष्योंका सिर जहां जाके गिरे उसे कहिये "नरक"। उष्णोद्वर्त्तो नरका: शक्र ! कोटयः पंचाशगणिता:। चत्वारिंशन्मिता तेषां प्रधानतन्निबोधत ॥ इनमें प्रसिद्ध ४० नरक हैं जिनके नाम ये हैं -

१ उष्णोद्वर्त्त २ कालाग्नि ३ अवीचि ४ कृमिभक्ष ५ वैतरणी ६ कूटशाल्मलि ७ उच्छ्वास ८ क्षुरमपर्वत ९ रौरव १० निरुच्छ्वास ११ पूतिमांस १२ तप्तलाक्ष १३ क्रकच्छेद १४ पंक १५ करुठायसमुतापितम् १६ पूतिपूर्ण १७ मेदस्नभ १८ रुधिर १९ वसा २० तामिस्र २१ अपतुड २२ तीक्ष्णाग्नि २३ नागुन्द २४ लोहतम २५ अङ्गारराशि २६ कुम्भीपाक २७ क्षुरधेन्य २८ सजीवनसुतापनम् २९ कालसूत्र ३० महापंक ३१ शीतोष्णाक्षुर ३२ अम्बरीष ३३ घोर ३४ महारौरव ३५ क्षुरचक्र यंत्र ३६ तप्ततैल ३७ तप्तत्रपु ३८ असिपत्र ३९ शस्त्र ४० भूमिवर्णाग्निप्रहारिका।

तथा वंशमें वर्णसंकरोंकी उत्पत्तिके कारण धर्म्मका ह्रास होजाता है, उन मनुष्योंका नरकमें निवास होता है; अर्थात् वे कुम्भीपाकादि नरकोंमें घोर दुःख सहते हुए बहु काल पर्य्यन्त निवास करते है । अनियमित काल तक निवास करने का मुख्य अभिप्राय यहहै, कि एक नरकसे दूसरे नरकमें पडते चले जाते हैं । नरकोंका बहुत बडा विस्तार है । इस कारण नरकोंसे छूटना शीघ्र नहीं होसकता ।

योंतो नरकोंकी संख्या बहुत है, पर प्रसिद्ध नरकोंका दुःख भोगते भोगते भी चिरकाल बीत जाता है ।

हे भगवन् ! इनपर दयाकर आप घोर युद्धको शान्त करदें । जिससे इन पवित्र पाण्डव और कौरव कुलका धर्म्म नष्ट न होवे ।

शंका---शास्त्र और पुराणोंसे ऐसा सुना जाता है, किजो युद्धमें मारा जाता है वह स्वर्ग जाता है । भगवान् भी आगे अध्याय२के श्लो० ३७ में कहेंगे, कि "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्०" अर्थात् हे अर्जुन ! तू यदि मारा जावेगा तो स्वर्ग प्राप्त करेगा। इससे सिद्ध होता है, कि युद्धमें मारा जानेवाला स्वर्ग जाता है । फिर इसके प्रतिकूल अर्जुन कहरहा है, कि युद्धमें मरने वालेके कुल और सर्व धर्म्मोंका नाश, दुष्टा स्त्रियोंसे वर्णसंकर, तिससे पिंडोदककी क्रिया लुप्त होजानेपर नरकमें निवास होता है । ये दोनों बातें एक दूसरेके विरुद्ध है । ऐसा क्यों ? इसका समाधान करो !

समाधान— अर्जुनकी शंका ऐक-देशीय है । क्योंकि महाभारत युद्धमें दोनों ओरके वीर एकही वंशके मारेजावेंगे । छोटा बड़ा कोई नहीं बचेगा। अभिमन्यु तथा प्रतिविन्ध्यादि छोटे-छोटे बच्चे तक इस युद्धमें

आये हैं। इसलिये पांडव और कौरवके वंशमें पुरुष मात्रके नहीं रहने से स्त्रियोंकी रक्षा करनेवाला और उनको शासनमें रखनेवाला जब कोई नहीं बचेगा तो अवश्य स्त्रियोंके दुष्टा होनेका और पिंडोदक क्रियाके लुप्त होनेका भय है। इसलिये अर्जुन केवल अपने वंशके लिये विषादमें पडकर मोहवश एक अनुमान कीहुई सामान्य कल्पना कररहा है, पर युद्ध करनेवालोंका स्वर्ग जाना तो एक विशेष वार्ता है। इसलिये युद्धमें मरनेवाले तो अवश्य ही स्वर्ग जावेंगे। जो कुछ दुर्दशा हो वह उनकी अगली बची-खुची सन्तति की हो तो हो।

दूसरी बात यह है, कि सब युद्धोंमें ऐसी दशा नहीं होती। जब दो देशके नरेश परस्पर युद्ध करते हैं तो केवल उनके कटकमें जो भिन्न-भिन्न देशोंके वीरगण नियत किये हुए रहते हैं वे ही मारेजाते हैं। उनके सब वंशके वंशका नाश नहीं होता। इसलिये उनकी स्त्रियोंके दुष्टा होनेका भय नहीं रहता। क्योंकि यदि उनका पति मारागया तो उनके पुत्र, पौत्र और उनके अन्य सम्बन्धी वर्त्तमान रहते हैं, जिनके शासनमें स्त्रियां रहती हैं।

जितने वीर युद्धमें मारे जाते हैं उन सबोंकी स्त्रियां दुष्टा ही होजावें, ऐसा नहीं हो सकता। हां, संयोगवशात् कोई होजावे, तो होजावे। इसलिये वीरोंका स्वर्ग जाना, जो एक विशेष धर्म्म है उसपर धब्बा नहीं लग सकता ॥ ४३ ॥

अब अर्जुन भगवानसे यह कहता है, कि यदि यह युद्ध न रुका तो हमलोग घोर पापीके नामसे प्रसिद्ध होंगे क्योंकि—

मू०— अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४४ ॥

पदच्छेदः--अहो बत (आश्चर्य्यं तथा परितापातिशयसूचनायाम्) वयम् । महत्पापम् (स्वजनवधरूपमहाघोरपापम्) कर्त्तुम् (प्रतिपादितुम्) व्यवसिताः (निश्चयं कृतवन्तः) यत्, राज्यसुखलोभेन (राज्यप्राप्तिप्रयुक्तसुखोपभोगेच्छया) स्वजनम् (बन्धुवर्गम्) हन्तुम् (हननं कर्त्तुम्) उद्यताः (उत्कर्षेणोद्यक्ताः। तत्पराः । युद्धोद्योगेनात्रागताः) ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(अहो बत) यह अत्यन्त आश्चर्य्य और खेदका विषय है, कि (वयम्) हमलोग (महत्पापम्) महाघोर पाप (कर्त्तुम्) करनेके लिये (व्यवसिताः) निश्चय करचुके हैं (यत्) क्योंकि (राज्यसुखलोभेन) राज्यसुखपानेके लोभसे (स्वजनम्) अपने बन्धुवर्गोंको (हन्तुम्) मारनेके लिये(उद्यताः) उद्यत होरहे हैं॥४४॥

भावार्थः—अब अर्जुन श्रीआनन्दकन्द ब्रजचन्दसे कहता है, कि हे दयासागर! कृपाकर इस युद्धरूप विकराल कालके गालसे हमलोगोंको बचाओ ! नहीं तो इसके छिडजानेसे महाअनर्थ होगा । क्योंकि [अहो बत महत्पापम् कर्तुं व्यवसिता वयम्] हे भगवन् ! कैसे आश्चर्य्य की बात है, कि हमलोग महा घोर पाप करनेको उद्यत हैं। अर्थात् इस समय न जाने हमारे कौनसे पूर्वके पाप उदय होआये हैं! जिनके परिणाममें घोर दुःखका विषय सम्मुख उपस्थित हो रहा है । वह यह है, कि अभी कलियुग नहीं आया तो भी

भाई-भाईमें परस्पर इस प्रकार विरोध हो रहा है और जो वार्त्ता घोर कलियुगमें देखी जावेगी, वह आजही नेत्रोंके सामने उपस्थित है । भाई भाईके, पुत्र पिताके, शिष्य गुरुके और मित्र मित्रके रुधिरके प्यासे होरहे हैं । यदि कहो, कि युद्धमें पाप कैसा ? युद्ध तो क्षत्रियोंका परम धर्म्म है, तो हे भगवन् ! शत्रुओंके साथ युद्ध करना हम लोगोंका परम धर्म्म है न कि अपने बन्धुवर्गोंके साथ । यह तो घोर पातकही है [यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः] क्योंकि इस आगमापायी शरीर द्वारा केवल दो दिनकेलिये पृथ्वीके तुच्छ राज्यके सुखोपभोगके लालचसे हमलोग भाई, चाचा, बाबा, आचार्य्य और मित्रोंकी जान लेनेको उद्यत होरहे हैं । ऐसा कर्म्म करना महापातक नहीं है तो क्या है ? इस कारण हे भगवन् ! बन्धुवर्गोंके मारनेसे हमलोगोंको जो घोर पातक लगनेका भय उपस्थित है, तिससे तुम्हारे बिना दूसरा कौन बचा सकता है ? इसलिये हम सब तुम्हारे शरण हैं । इस पातकसे बचाओ ! बचाओ !! बचाओ !!! ॥ ४४ ॥

हे भगवन् ! यदि आप यह कहो, कि तू इनको नहीं मारेगा तो इससे क्या ? वे तो तुझको अवश्य मारेंगे, फिर तुझे अपनी जान बचानेके लिये शस्त्रसे प्रतीकार करनाही पडेगा । तो हे भगवन् ! उनके मारने पर भी नहीं बोलूंगा । सुनिये !

मू०--यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।

धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं+ भवेत् ॥४५॥

पदच्छेदः—यदि (चेत्) अप्रतीकारम् (तूष्णीमुपविष्टम्। युद्धे विमुखः सन् परप्रतीकाररहितम्। स्वप्राणत्राणाय व्यापारमकुर्वाणम्) अशस्त्रम् (शस्त्रविहीनम्) माम् (अर्जुनम्) शस्त्रपाणयः (विविधानि शस्त्राणि हस्तेषु येषां ते) धार्त्तराष्ट्राः (धृतराष्ट्रपुत्रदुर्योधनादयः) रणे (संग्रामे) हन्युः (मारयेयुः) [तर्हि] तत् (तैर्हननम्) मे (मम) क्षेमतरम् (अत्यन्तहितम्) भवेत् ॥४५॥

पदार्थः—(यदि) यदि (अप्रतीकारम्) उनके मारने पर अपने प्राण बचानेका उपाय नहीं करनेवाले अर्थात् मरते हुएभी चुप रहनेवाले (अशस्त्रम्) शस्त्रोंसे रहित (माम्) मुझ अर्जुनको (शस्त्रपाणयः) खड्ग, बाण इत्यादि लिये हुए (धार्त्तराष्ट्राः) मेरे काका धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनादि (रणे) संग्राममें (हन्युः) मारें तो (तत्) उनका मारना (मे) मेरे लिये (क्षेमतरम्) अत्यन्त कल्याणकारक (भवेत्) होवे। अर्थात् उनके हाथसे मर-जाना मुझे स्वीकार है, पर युद्धमें उनका वधकरना मुझे स्वीकार नहीं है ॥ ४५ ॥

भावार्थः – अब अर्जुन अपना सम्पूर्ण दुःख सुनाता हुआ और युद्धसे अरुचि प्रकट करता हुआ अपनी अन्तिम सम्मति श्रीगोलोक-विहारी जगत-हितकारीसे कहता है, कि [यदि मामप-

+ किसी किसी ग्रन्थमें "तन्मे प्रियतरम्" ऐसा पाठ है, पर अर्थमें कुछ भेद नहीं है। महाभारतमें 'क्षेमतरं' पाठ है "भीष्मपर्व श्लो० ८७६"

तीकारमशस्त्रम्] हे त्रिभुवनपति! यदि बदला नहीं लेनेवाले शस्त्र रहित मुझ अर्जुनको ये मारलेवें; अर्थात् यदि मैं युद्धसे मुख मोडलूं, इनके हाथोंसे मरता हुआ भी इनसे बदला न लूं और शस्त्रादिका परित्याग करदूं, तब [शस्त्रपाणयः, धार्तराष्ट्रा रणे हन्युः] ये मेरे काका धृतराष्ट्रके व्यभिचारी पुत्र दुर्योधनादि, जिनके हाथोंमें युद्धके शस्त्र चमकते हुए देखपडते हैं यदि मुझे मारडालेंगे, तो हे भगवन्! मैं सच कहता हूं, कि [तन्मे क्षेमतरं भवेत्] इनके हाथसे ऐसे मरजानाभी मेरेलिये परम कल्याणकारक होगा। अर्थात् चुप-चाप इनके हाथसे मरजानेसे मेरे परमहितका साधन होगा। यदि पूछो, कि तेरे मारेजानेसे तेरा क्या कल्याण होगा? तो सुनो! जब तक हम पांचों भाई जीवित रहेंगे, तभी तक इस युद्धका बखेडा बनाहुआ है। राज्यके लिये लडने आये हैं। और इस अपने स्वार्थके लिये १८ अक्षौहिणी सेनाकी हिंसाके भागी हुआ चाहते हैं। इसलिये यदि पांचही जान देकर करोड़ोंकी जान बचजावें, तो क्या हम पांचों स्वर्गगामी न होंगे? अवश्य होंगे। हे नाथ! मुझे पूर्ण आशा है, कि युधिष्ठिरादि चारों भाई भी इस मेरे विचारको श्रवण करतेही स्वीकार करेंगे और इस तुच्छ राज्यका लोभ त्याग, इतने जीवोंके प्राण दान देनेके कारण होंगे। इसलिये हमलोगोंको मोक्ष-सुख लाभ होनेमें क्या सन्देह है? इसी कारण मैं कहता हूं, कि इनके हाथसे मरजाना हमलोगोंके लिये हितकारी और कल्याण-कारक है।

दूसरी बात यह है, कि बडे-बडे योगी और तपस्वी जन्म-जन्म तुम्हारे

लिये यत्न करते हैं, पर तुम उनको बडी कठिनतासे प्राप्त होते हो। सो तुम आज मेरे सम्मुख खडे हो।

भला ऐसा संयोग क्या फिर कभी बनेगा? कि मैं तुमको देखते देखते अपना प्राण परित्याग करूं और तुममें जा मिलूं। इतनी प्रार्थना कर अर्जुन चुप होरहा ॥ ४५ ॥

अब संजय धृतराष्ट्रसे कहता है

संजय उवाच

मू०—एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४६॥

पदच्छेदः—शोकसंविग्नमानसः (शोकेन प्रकम्पितं पीडितं हृदयं यस्य सः। शोकमोहाभ्यां सम्यगुद्विग्नमनो यस्य सः) **अर्जुनः** (धनंजयः) **संख्ये** (रणाङ्गणे) **एवम्** (उक्तप्रकारेण) **उक्त्वा** (न योत्स्येऽहमिति कथयित्वा) **सशरम्** (बाणेन संश्लिष्टम्) **चापम्** (गाण्डीवम्) **विसृज्य** (त्यक्त्वा) **रथोपस्थे** (रथस्य क्रोडे) **उपाविशत्** (उपविष्टवान्) ॥ ४६ ॥

पदार्थः— (संजय उवाच) संजय बोला, कि हे राजा धृतराष्ट्र! (शोकसंविग्नमानसः) शोकसे परम क्लेशित चित्त (अर्जुनः) अर्जुन (संख्ये) रणभूमिके मध्यस्थानमें (एवम्) इसप्रकार (उक्त्वा) कहकर (सशरम्) बाण सहित (चापम्) गाण्डीव धनुषको (विसृज्य) त्यागकर (रथोपस्थे) रथके क्रोडमें अर्थात् पिछले बैठकमें जाकर (उपाविशत्) चुपचाप बैठगया ॥ ४६ ॥

भावार्थः—अर्जुनने उक्त प्रकार युद्ध करनेकी जो अरुचि श्यामसुन्दरके समीप प्रकटकी, उसे संजय धृतराष्ट्रसे यों कहता है, कि [**एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्**] रणभूमि के मध्यस्थानमें जहां अर्जुनने भगवान्से कहकर अपना रथ खडा करवाया था वहां ही अपने बन्धुवर्गोंको रणमें मारना दुःखका कारण जान शोकसे व्याकुल होकर रथके उपस्थमें अर्थात् पिछले बैठकमें जहां वीरोंका सहायक अर्थात् सेवक बैठता है जा बैठा।

रथमें आसनके लिये तीन भाग बनाये जाते हैं। जिनमें अग्रभाग सारथिके बैठनेके लिये। मध्य भाग योद्धाके बैठनेके लिये और पिछला भाग जिसे रथोपस्थ कहते हैं, रथीके सेवक तथा सहायकके बैठनेके लिये होता है। यह सहायक शस्त्रोंको एकत्र कर अपने पास रखता है। योद्धाको समय समय पर जब जब जिन शस्त्रों की आवश्यकता होती है, देता जाता है। फिर रथका शृंग होता है, जो ध्वजाका स्थान है। रथके दो पार्श्व होतेहैं जिनके नीचे रथके चक्र लगाये जाते हैं। जब योद्धाको युद्धकी आवश्यकता नहीं रहती है, तब वह सुखपूर्वक रथोपस्थमें अर्थात् रथके पिछले बैठकमें जा बैठता है, सो अर्जुन युद्धका विचार छोड रथोपस्थमें जा बैठा।

अर्जुन कैसे बैठा है ? इसको संजय धृतराष्ट्रसे कहता है, कि [**विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः**] इस अधर्म्म युक्त युद्धमें बन्धुवर्गोंके तथा इष्ट मित्रोंके वधका संयोग देखकर चित्तके उद्विग्न होजानेसे परम व्याकुलताको प्राप्त होकर बाण सहित अपने गाण्डीव धनुषको अपने हाथसे त्यागकर चुप बैठ रहाहै।

यहां पाठक गण विचार सकते हैं, कि संजयके मुखसे इतना वचन सुनतेही धृतराष्ट्र किस प्रकार आनन्द सागरमें मग्न होगये होंगे ! विचारने लगगये होंगे, कि अबतो मेरे पुत्र दुर्योधनादिही राज्यसुख भोगेंगे और पाण्डव भिक्षुक होकर देश देश मारे मारे फिरेंगे । क्योंकि जब अर्जुन ऐसा वीर युद्धसे भागता है, तो पाण्डवदलमें दूसरा कौन ऐसा वीर है जो हमारे पुत्रोंका सामना कर सकेगा ? ऐसा विचारतेहुए हंसते मुसकराते समाधिस्थके समान मग्न होगये, पर यह इनकी समाधि तभी तक रहेगी जब तक श्रीआनन्दकन्द, अर्जुन को गीता॰ शास्त्रका उपदेश करेंगे । १८वें अध्यायकी समाप्ति होते ही इनकी समाधि ऐसी टूटेगी, कि जन्म पर्य्यन्त फिर न लगेगी ॥४६॥

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीस्वामिना हंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीहंसनादिन्यां टीकायां अर्जुनविषादयोगोनाम प्रथमोऽध्यायः ॥

महाभारते भीष्मपर्वणि तु पंचविंशोऽध्यायः ॥

शुद्धाशुद्ध पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
यज्ञा।	जज्ञाते	६	१९
स्तरण	स्तरण	८	५
कोपे	कोपे	१२	२१
स्तुती	स्तुति	१३	९
कुरुक्षेत्र	कुरुक्षेत्र	१३	१०
रुद्र.	रुद्र	१३	१६
दृष्टी	दृष्टि	१६	१९
कि	की	१६	१९
अक्षौहिन्या	अक्षौहिण्या	१८	१६
पचषष्ठि	पंचषष्टि	१८	१९
२१८७०	२१८७०	१८	२२
स्वभाविक	स्वाभाविक	२२	१०
मलिनःक्लिन्नाः	मलिनक्लिन्ना	२९	२८
परित्यज्याः	परित्याज्याः	२९	२१
काशीराजः	काशिराजः	३१	३
कुन्तीभोज	कुन्तिभोज	३१	४
[illegible]	सेनायाम्	३१	७
इषु	इषु	३३	२०
वृष्णीवंशी	वृष्णिवंशी	३५	२
काशीराजश्च	काशिराजश्च	३५	१३
अतिरीक्त	अतिरिक्त	३६	११
सज्ञार्थं	संज्ञार्थं	३८	४
युद्धयस्व	युद्धस्व	३८	७
परीशिष्टान्	परिशिष्टान्	३८	१०
मम्	मम	३८	१४
द्विजोत्तम्	द्विजोत्तम	३९	१५
स्वभाविक	स्वाभाविक	४०	२
सेनेस्य	सैन्यस्य	४०	८
शंज्ञार्थं	संज्ञार्थं	४०	८
युद्धकुशलत्वं	युद्धाकुशलत्वं	४०	२१
महति	महती	४०	२२
क्षिनिः	क्षतिः	४०	२२
अस्वत्थामा	अश्वत्थामा	४१	२
भूरिश्रवाः	भूरिश्रवा	४१	८
पर्य्येन्तम	पर्य्यन्तम्	५३	८
भेर्य्येश्च	भेर्य्यश्च	६१	१
ऽभवत	ऽभवत्	६१	१५
ह्लादुनी	ह्लादिनी	६१	२०
इसक[illegible]	इसकारण	६४	२२
वृकोकदरः	वृकोदरः	६७	२
क्रिडायाम्	क्रीडायाम्	८८	११
कुरुन्	कुरून्	९०	७
मिशः	मीशः	९०	११
जयाते	जायते	१०५	४
अवलोक्यामि	अवलोकयामि	१११	६
अनुरपामि	अनुपश्यामि	१११	१५
श्वसूराः	श्वशुराः	११७	१५
कैटब	कैटभ	११७	१९
अर्जुका	अर्जुन	१२८	१८
विचारन्	विचारयन्	१३१	१४
ज्ञयमस्याभिः	ज्ञेयमस्माभिः	१३४	१०
यद्येप्यते	यद्यप्येते	१३५	१७

पुस्तक मिलनेका पता

मैनेजर—त्रिकुटीमहल चन्द्रवारा
मुजफ्फरपुर (बिहार)

Manager—Trikutimahal chandravara
Muzaffarpur (Bihar)

तथा

मैनेजर—श्रीहंसाश्रम यन्त्रालय
अलवर (राजपूताना)

Manager—ShriHans Ashram
Alwar (Rajputana)

ॐ

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य

श्री १०८ स्वामिहंसस्वरूपकृत

हंसनादिन्याख्यटीकया समेता

श्रीमद्भगवद्गीता
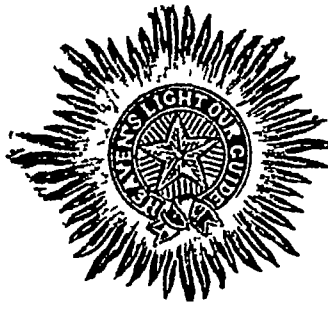
कर्मकाण्डाख्ये प्रथमषट्के

द्वितीयोऽध्यायः

अलवरराजधान्याम

श्रीहंसाश्रमयन्त्रालये

मुद्रितः
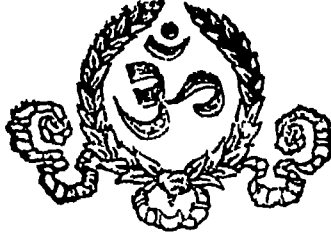
तत्सद्ब्रह्मणे नमः

श्रीबलभद्रप्रियानुजाय नमः

श्रीपार्थसारथये नमः

अथ

श्रीमद्भगवद्गीता

कर्मकाण्डाख्ये प्रथमषट्के

द्वितीयोऽध्यायः

वृष्णां तएमस्यातः पुरोभाश्वरिष्ठाव१र्च्चिर्वपुषामिदेकम् ।

यदप्रवीता दधतेह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!
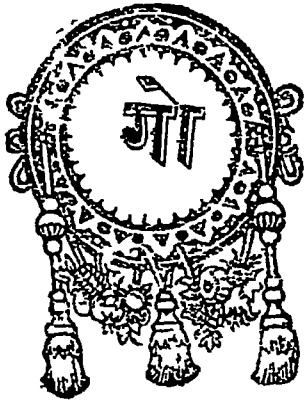
विन्देति सदा स्नानं गोविन्देति सदा जपः।
गोविन्देति सदा ध्यानं सदा गोविन्दकीर्तनम् ॥
अक्षरं हि परं ब्रह्म गोविन्देत्यक्षरत्रयम्।
तस्मादुच्चरितं येन ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
जयति जयति देवो देवकीनन्दनोऽयं,
जयति जयति कृष्णो वृष्णिवंशप्रदीपः।
जयति जयति मेघश्यामलः कोमलांगो,
जयति जयति पृथ्वीभारनाशो मुकुन्दः ॥
कृष्णे रताः कृष्णमनुस्मरन्ति रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये।
ते भिन्नदेहाः प्रविशन्ति कृष्णं हविर्यथा मंत्रहुतं हुताशे ॥

—:—()—:—

अहा! आज मैं चलता-चलता किधर चला आया। मैं तो घरसे महाभारत युद्ध देखने चला था, पर यहां देखता हूं, कि युद्धकी दशा शिथिल होरही है, कोई वीर धनुर्धर रणभूमिके मध्यस्थानमें एक विशाल रथके एक कोनेमें शिर झुकाये बैठा है। थोडा आगे बढकर देखो तो सही! यह कौन है? अहा! यह तो वीरशिरोमणि अर्जुन है, कैसा आश्चर्य्य है? कि जिमे निद्रा कभी नहीं सताती, इसीकारण जो गुडाकेश अर्थात् निद्राजित् कहाजाता है, वह न जाने क्यों आज मोहकी अंधकार रात्रिमें पडकर क्लीबता (कातरता) की गहरी नींदमें सोगया है? पर वह देखो! कोई एक बांका तिरछा पहरुआ भी, जो ऐसी महामोहकी

अंधियाली रात्रिमें सोतेहुओंको जगाता फिरता है, इसके समीप खडा हुआ इसे जगादेनेके लिये प्रातःकालकी प्रतीक्षा कररहा है। लो! वह देखो! पूर्वदिशाकी ओर थोडी दृष्टि करो! जिधर बोधरूप प्रातःकालकी सूचना देनेवाली शुभवासनारूप ऊषा अद्वेष्टृत्व अदंभित्व इत्यादि नानाप्रकारके सुनहरे और रुपहरे अलंकारोंसे अलंकृत आगे-आगे चली आरही है। इसके पीछे-पीछे ज्ञानका सूर्य्य भी प्रकाश फैलाता चला आता है। अब आशा होती है, कि इस ज्ञान-रविके उदय होते ही वह सामनेवाला, लटपटी पाग पहिने सांवला पहरुआ उच्च स्वरसे उपदेशरूप पहरा देता हुआ इस सोते हुए युद्ध-यात्राके पथिक अर्जुनको जगाकर युद्ध-पथ लेनेकी प्रेरणा करदेवे।

अब चलो! हमलोग भी प्रातःकालकी ठण्डी हवा खाते हुये उस पहरुएको सूचना दे देवें, "कि तुम्हारी चौकसीके भीतर विषयरूप चोर हमलोगोंके अन्तःकरणरूप अत्यन्त सूक्ष्म वस्त्रको चुरा लेगया है।" सम्भव है, कि पहरुआ हमारी गयी वस्तु प्रकटकर, कर्मकाण्डके जलसे धो, पवित्र तथा निर्मल बना, हमको लौटा देवे और यों आज्ञा दे-देवे, कि तुमलोग बडी शीघ्रताके साथ इस अपने वस्त्र पर उपासना और ज्ञानके रंग चढा, प्रेम-सरोवरमें स्नानकर, शीघ्र इसे पहन, मेरे पीछे-पीछे चले आओ!

प्यारे भगवच्चरणानुरागियो! चलो! अब हमलोग अर्जुनके साथ-साथ भगवान्‌के मुख-सरोजसे टपकते हुये मधुर गीता-रसका आस्वादन करें। सुनो! अब सञ्जय हर्षाम्बुधिमें डूबे हुए धृतराष्ट्रके प्रति क्या कहता है?

सञ्जय उवाच

मू०—तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

पदच्छेदः— तथा (तेन प्रकारेण) कृपया (स्वजनमरण-प्रसंगदर्शनेनकरुणाया स्नेहेन वा) आविष्टम् (युक्तम् । अधिष्ठितम् । व्याप्तम) अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् (कृपास्नेहवशादश्रुभिः पूर्णे आकुले दर्शनाक्षमे ईक्षणे नेत्रे यस्य तम्) विषीदन्तम् (वन्धुवियोगाऽऽशंका-निमित्तविषादं प्राप्नुवन्तम्) तम् (अर्जुनम्) मधुसूदनः (मधु-नाम्नो दैत्यस्य हन्ता श्रीकृष्णः) इदम् । वाक्यम् (वक्तुं योग्यं वचनम् ।) उवाच (उक्तवान्) ॥ १ ॥

पदार्थ —संजय धृतराष्ट्रसे कहता है, कि हे राजन् ! (मधु-सूदनः) मधु दैत्यके मारनेवाले भगवान् (तथा) पूर्वोक्त प्रकार (कृपयाविष्टम्) कृपासे लिपटे हुए (अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्) व्याकुलताके कारण आंखोंमें आंसू भरे हुए तथा बहुप्रकार(विषीदन्तम्) विषाद करते हुए (तम्) तिस अर्जुनके प्रति (इदम्) यह (वाक्यम्) वचन (उवाच) बोले ॥ १ ॥

भावार्थः— पूर्व अध्यायमें जो अर्जुनका विषाद वर्णन किया गया है उसे सुन मन-ही-मन आनन्दको प्राप्त होते हुए धृतराष्ट्र विचार करने लगे, कि अब तो मेरे पुत्र अवश्य राज्य प्राप्त करलेंगे । तब इनकी ऐसी दशा देख हर्षित न होने देनेके तात्पर्यसे संजय बोलउठा, कि [तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्, विषीदन्तम्]

जब मधु दानवके नाश करनेवाले मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रने अर्जुनको अपने सम्बन्धियोंके स्नेहसे कृपायुक्त होकर अत्यन्त व्याकुलताके साथ आंसू भरी आंखोंसे रोते हुए तथा बहुप्रकार अपने बन्धुवर्गोंके नाश होनेका विषाद करते हुए देखा, तो जानगये, कि जैसे निमककी डलियां पानीमें पिघल जाती हैं, वैसे ही अपने सम्बन्धियोंके स्नेहसे इसका चित्त पिघल गया है। वायुके झकोरोंसे जैसे गंभीर बादल उड जाते हैं, वैसे ही शोक, मोह इत्यादिके झकोरों से अर्जुनका धीरज जाता रहा है। जैसे हाथी दल-दलमें फँसकर दुःखी होता है, वैसे ही यह अर्जुन विषादमें फँसाहुआ दुःखी होरहा है। ऐसा वीर जिसने शंकरके साथ युद्ध किया वह आज इस रणभूमिमें बच्चोंके समान रोरहा है, अत्यन्त मलीन और कातर हो रहा है। इसको अब युद्धकी एक-बारगी इच्छा नहीं है। ऐसा अनुमान होता है, कि थोडी ही देरमें यह युद्ध छोड भाग जावेगा। तब मधुसूदन भगवान् ऐसे मुसकराये जैसे बच्चेकी अज्ञानतासे मिश्रित भोली-भाली बातें सुनकर पिता मुसकरा देता है। फिर विचारने लगे, कि इस समय किस प्रकारका वचन बोलना चाहिये जिससे इस मोहग्रस्त अर्जुनके मोह का एक-बारगी नाश होजावे और क्षत्रिय धर्म्मके अनुसार यह युद्ध करना अपना धर्म्म जान युद्धके लिये उद्यत होजावे। एवम् प्रकार कुछ काल विचारने के पश्चात् [**इदम् वाक्यमुवाच मधुसूदनः**] सो मधु दानवके नाश करनेवाले श्रीकृष्णचन्द्र मधुसूदन भगवान् यह वचन बोले।

यहां संजयने जो कृष्ण भगवान्के लिये "मधुसूदन" शब्दका प्रयोग धृतराष्ट्रके सम्मुख किया, उसका तात्पर्य्य यह है, कि हे राजा धृत-राष्ट्र तुम अर्जुनके विषादको सुन हर्षको मत प्राप्त हो। क्योंकि "मधु पुष्परसं सूदयति भक्षयतीति मधुसूदनः" अर्थ— जो पुष्पोंके रसको भक्षण करे उसे कहिये मधुसूदन अर्थात् भ्रमर। इस-लिये जैसे भ्रमर कमलको परित्याग नहीं करता ऐसे ही श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनको कदापि ऐसी विपत्तिमें परित्याग नहीं करेंगे। क्योंकि वह भक्तोंके हृदयरूप कमलके लिये भ्रमरके समान हैं। इसलिये मधुसूदन कहेजाते हैं। दूसरा भाव यह है, कि "सूदनं मधु दैत्यस्य यस्मात् स मधुसुदनः" मधुनामक दैत्यका नाश हुआ है जिससे, उसे कहिये मधुसूदन। इसलिये श्रीकृष्ण भगवान् मधुसूदन कहेजाते हैं। सो तुम अर्जुनकी दशा सुन हर्षित न हो। क्योंकि मधुसूदन भगवान् अवश्य अर्जुनके इस मोहरूपी मधु दानव का नाशकर युद्धके लिये प्रेरणा करेंगे और तुम्हारे पुत्रोंका नाश करवायेंगे। यदि अर्जुन ऐसा करना नहीं स्वीकार करेगा, तो आप अपने हाथोंसे ऐसा करेंगे। क्योंकि तुम्हारे पुत्र आततायी हैं। शास्त्रों की आज्ञानुसार भी आततायियोंके वध करने वा करानेमें कुछ दोष नहीं है। सुनो! "अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहारी च षडेते आततायिनः॥ आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्। नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।"

(श्रीधरः)

अर्थ—१. आग लगाकर जलादेनेवाला। २. विष देनेवाला

३. हाथमें खड्ग इत्यादि शस्त्रोंको लिये हुए किसी प्राणीको मारडालने के लिये उद्यत होनेवाला। ४. किसीका धन अपहरण करनेवाला। ५. किसीका क्षेत्र छीनलेनेवाला। ६. स्त्री-हरण करनेवाला। ये छवों आततायी कहेजाते हैं।

इन आततायियोंको सामनेसे आते देख विना विचारे एकदम मारडालनेसे मारनेवालेको तनक भी दोष नहीं।

सो हे राजन्! तुम्हारे पुत्रोंने लाहका घर बना, उसमें आग लगा, पाण्डवोंको मारडालना चाहा था और अपने मामा शकुनीकी सम्मति से कपटका पाशा फेंककर पांडवोंका राज-पाट अपहरण करलिया। यहां तक, कि उनकी स्त्री द्रौपदीको सभाके मध्य नग्नकर उसका सतीत्व नष्ट करना चाहा था। एवम् प्रकार तुम्हारे पुत्रोंने अन्यान्य अधम कर्म भी किये हैं, जो आततायियोंके लक्षण हैं। इस कारण ये घोर आततायी हैं।

यदि ऐसा कहो, कि पाण्डव तो जले नहीं फिर मेरे पुत्रोंको आततायी क्यों कहते हो? सो ऐसा मत कहो! यद्यपि पाण्डव ईश्वर कृपासे बचगये, पर एक धीवरी अपने पांचों छोटे बालकोंके साथ जो रात्रिको उस घरमें सोई हुई थी, जलकर भस्म होगयी। एवम् प्रकार स्त्री और बालकोंके जलानेवाले तुम्हारे पुत्र अवश्य आततायी हैं। वरु तुम तो स्वयं जानते हो, कि छवों प्रकारके दोष तुम्हारे पुत्रोंमें पाये जाते हैं। इस कारण ये घोर आततायी हैं। मधुसूदन भगवान् इनका अवश्य नाश करवावेंगे।

अर्जुनका विषाद सुनकर भगवान् क्या बोले? सो हे राजन् सुनो!

श्रीभगवानुवाच

मू०—कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्य्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ! ॥ २ ॥

पदच्छेदः— श्रीभगवान् (षडैश्वर्य्यवान् श्रीहरिः) उवाच (उक्तवान) अर्जुन ! (हे स्वच्छस्वभाववीरशिरोमणिधनंजय !) विषमे (असमये । भयस्थाने) इदम् (एतद् । ईदृशम् । एवं विधम्) अनार्य्यजुष्टम् (अविद्वद्भिः सेवितम् । मुमुक्षुभिर्न जुष्टम्) अस्वर्ग्यम् (प्रत्यवायकारणम् तस्मात् स्वर्गानर्हम्) अकीर्त्तिकरम् (अयशस्करम्) कश्मलम् (मलिनम् । शिष्टगर्हितम् । स्वधर्म्मभूतोद्घातात्पराङ्मुखत्वम्) त्वा (सर्वक्षत्रियप्रवरम्) कुतः (कस्माद् हेतोः) समुपस्थितम् (सम्यक् प्रकारेण प्राप्तम्) ॥ २ ॥

पदार्थः— (श्रीभगवान्) भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र (उवाच) बोले, कि (अर्जुन!) हे अर्जुन ! (विषमे) ऐसे घोर विपद् और कष्टके समय (इदम्) ऐसा (कश्मलम्) मोह जो (अनार्यजुष्टम्) आर्य्य पुरुषोंसे कभी सेवन नहीं किया गया (अस्वर्ग्यम्) जो स्वर्गको लेजानेवाला न होकर नरकमें गिराने वाला है और (अकीर्त्तिकरम्) कीर्त्तिको नाशकर अकीर्त्तिको फैलानेवाला है वह (त्वा) तेरे चित्तमें (कुतः) कहांसे (समुपस्थितम्) उदय होकर स्थिर होगया ॥ २ ॥

भावार्थः— पहले भगवान् अर्जुनको लोकव्यवहारसे समझाते हैं, फिर ज्ञान द्वारा समझाना आरंभ करेंगे। (श्रीभगवानुवाच)

अर्जुनको एवम् प्रकार परम मोहकी रात्रिमें पडे हुए देखकर श्रीकृष्ण-भगवान् यों बोले, कि [कुतस्त्वा कश्मलमिदम् विषमे समुप-स्थितम्] हे अर्जुन ! ऐसे घोर विपद्के समय जबकि गला तलवारके नीचे आपडा है और प्राण जानेका भय है, यह मलीन मोह तेरे हृदयमें कहांसे उपज गया ? भला तू थोडा अपने चित्तमें विचार तो सही ! कि जिस तेरे नामके श्रवण करनेहीसे अपकीर्त्ति दूर भाग जाती है और जिस अर्जुन नामकी सुध पातेही कातरता पलायमान होकर डरपोकोंके हृदयमें जाघुसती है, सो तू आज एकबारगी कातरोंसे भी बढकर महाकातरके सदृश अपना आचरण दिखला रहा है। ऐसा करना तेरे लिये महानिन्दित कार्य्य है। फिर विचारने योग्य है, कि [अनार्य्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन!] हे अर्जुन! इसप्रकार धनुष बाण छोड और रणसे मुख मोड, रथके पीछे जाबैठना आर्य्योंका काम नहीं है। आजतक भारतके किसी आर्य्य पुरुषने ऐसे निकम्मे कार्य्योंका सेवन नहीं किया। महानिन्दित कार्य्य जो रणसे भागजाना है, सो तू करने लगा है। तू क्षत्रिय कुलभूषण वीरशिरोमणि होकर 'अस्वर्ग्यम्' स्वर्गसे च्युत होकर नरकमें पतन होनेका कर्म करने बैठा है। क्या तू नहीं जानता है? कि रणभूमिमें आकर युद्धसे मुंह मोडना महती अपकीर्त्ति फैलानी है। मेरा प्राणप्रिय अर्जुन ! थोडा इधर मेरी ओर देख तो सही! क्या एक छोटीसी तलैया समुद्रको अपने उदरमें रख सकती है? क्या एक चुल्लू जलमें सम्पूर्ण पृथ्वी पिघल सकती है ? क्या एक मेष टक्कर मारकर पर्वतको गिरा सकता है ? क्या एक अत्यन्त छोटा मेढक

सर्पको निगल सकता है ? क्या एक साधारण हिरण सिंहको अपने सींगोंसे फाड सकता है ? कदापि नहीं । भला तू अपनी शक्तिको तो स्मरण कर ! देख ! तेरे पराक्रमका डंका सम्पूर्ण विश्वमें बज रहा है । तू बीररसका भण्डार है, जिसने रणभूमिमें शंकरको भी जय लाभ न करने दिया, निवातकवच राक्षसको धूलिमें मिलादिया और गन्धर्वोंको ऐसी वीरता दिखलायी, कि वे आजतक तेरे बलका बखान गन्धर्व-लोकमें कर रहे हैं। सो तू आज बच्चोंके समान रोने बैठा है । छी ! छी !! ऐसा करनेसे क्या तेरी कुछ शोभा है ? कुछ नहीं ! यह तेरा विचार अत्यन्त ही अनुचित है । तू जो यह कहता है, कि मुझे घोर हिंसाका पाप लगेगा सो तेरा कहना अयोग्य है। क्योंकि हिंसाका पाप तब लगता है, जब अनुचित स्थानमें की जावे । देख ! यज्ञोंमें, रणभूमिमें, नरेशोंके आखेट द्वारा क्रूर जीवोंके वधमें, डाकू लुटेरे इत्यादिके दण्ड देनेमें, आपत्ति कालमें और जो अपनेको मारने आवे उसको मारनेमें हिंसा नहीं है। इन स्थानोंमें हिंसा उचित हिंसा है। धर्म्मशास्त्रका वचन है, "कृते प्रतिकृतं कुर्य्यात् हिंसिते प्रतिहिंसितम्। न तत्र दोषं पश्यामि दुष्टे दोषं समाचरेत् ॥" फिर कहा है, कि "यज्ञे वधोऽवधः" यज्ञमें वध करना अवध है । और भी कहा है "श्येनेनाभिचारेण यजेत्" अर्थात् शत्रुके वध करनेके निमित्त श्येन यज्ञ करे। हां! विना अपराध किसी जीवके मारनेमें तथा अपनी जिह्वा-स्वादके निमित्त जीव मारनेमें अवश्य दोष है । हरि भक्तोंके, ब्राह्मणोंके, गऊओंके और देवताओंके वध करनेमें अवश्य हिंसा और अधर्म्म है ।

जो ऐसी-ऐसी हिंसाओंको करता है वह दुष्ट है और वह शीघ्र ऐसे भस्म होजाता है जैसे अग्निमें तृण । प्रमाण=ब्रह्मवैवर्त्त " दुष्टा यदा मे भक्तानां ब्राह्मणानां गवामपि । क्रतूनां देवतानां च हिंसां कुर्वन्ति निश्चितम् । तदाऽचिरं ते नश्यन्ति यथा वह्नौ तृणानि च" इसी प्रकार साध्वी स्त्री, बालक और अपनी शरणमें आये हुएका वध करना अनुचित है । सो हे अर्जुन ! तू तो इन अनुचित हिंसाओंमें एक भी नहीं करता, तू तो उनको मारेगा, जो तुझको मारने आये हैं, फिर स्थान भी कैसा? कि रणभूमि । फिर ऐसे उचित स्थानमें हिंसा का पाप कैसा ? तू क्षत्रिय होकर रणभूमिमें आकर वैरागियोंके समान बातें करने लगा है । ऐसा मत कर! यहां पर गोविन्द अपने पीताम्बर द्वारा अर्जुनकी आंखोंसे आंसू पोंछकर कहते हैं "सखे! धीरज धारण कर ! रुदन करना छोडदे" ।

सुन! मेरी बात सुन ! तू जो यह कहता है, कि रणमें भाई-बन्धुओंके साथ युद्ध कैसे करूं? सो तेरा यह कहना अनुचित है । देख! रणभूमिमे तो गणेशजीने अपने पिता शिवजीके साथ युद्ध किया है। लव और कुशने अपने पिता श्रीरामचन्द्रजीके साथ युद्ध किया है । शंकर जो हमारे परमप्रिय हैं, जिनको मैं और जो मुझको प्राणोंसे अधिक समझते हैं, सो मेरे संग संग्राममें युद्ध करचुके हैं । सो हे अर्जुन ! युद्धमें कोई भी क्यों न हो? तथा कैसा ही समीपी क्यों न हो ? आजावे, तो उससे युद्ध करना धर्म है । तू अनार्योंके समान स्वर्गसे च्युत करनेवाला तथा अपकीर्ति फैलानेवाला कर्म मत कर । दूसरी बात

यह है, कि प्रथमहीसे कैसे तू जानता है, कि तू उनको मारलेगा अथवा वे तुझको मारलेंगे ? संभव है, कि युद्ध चलते-चलते मध्यमें संधिका संयोग होजावे । धीरज धर ! सुन !

मू०--क्लैब्यम् मा स्म गमः पार्थ ! नैतत् त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रम् हृदयदौर्बल्यम् त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप! ॥३॥

पदच्छेदः--पार्थ ! (हे पृथातनय!) क्लैब्यम् (नपुंसकत्वम् । कातर्यम्) मा स्म गमः (न प्राप्नुहि) एतत (कातर्यम्) त्वयि (अर्जुने । महादेवप्रतिभटे) न उपपद्यते (योग्यं न भवति । उपपन्नं न भवति) हे परन्तप ! (शत्रुतापन !) क्षुद्रम (तुच्छम्) हृदयदौर्बल्यम् ("न च शक्नोम्यवस्थातुम्" इत्युक्तमोजस्तेजआदि-भंगरूपं निर्वीर्यत्वम् । मनसो भ्रमणादिरूपम) त्यक्त्वा (विहाय) उत्तिष्ठ! (युद्धाय सज्जो भव । युद्धायोपक्रमं कुरु) ॥ ३ ॥

पदार्थः— (पार्थ !) हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! तू (क्लैब्यम्) कातरता वा नपुंसकत्वको (मा स्म गमः) मत प्राप्त हो (एतत्) ऐसी बात(त्वयि) तेरे शरीरमें (न उपपद्यते) शोभा पाने योग्य नहीं है (परन्तप !) हे शत्रुओंको संताप देनेवाला अर्जुन ! तू अपने (क्षुद्रम् हृदयदौर्बल्यम्) हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको (त्यक्त्वा) त्यागकर (उत्तिष्ठ !) उठ खडा हो ! ॥ ३ ॥

भावार्थः-- अब श्रीसच्चिदानन्द श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे अर्जुन! तू मेरी फूफी पृथादेवीका पुत्र है। अतएव मेरा परम प्रिय है । इस कारण तेरी हानि तथा लाभकी चिन्ता मुझे

स्वाभाविक है। इसलिये [क्लैब्यम् मास्मगमः पार्थ! नैतत्त्वय्युपपद्यते] तू एवम प्रकार क्लैब्य दशाको अर्थात् हिजडेपनको मत प्राप्त हो ! मिथ्या विषादकर तू कातर मत बनजा ! तू वीर है, वीरको हिजडा बननेमें शोभा नहीं है। तेरी ऐसी कातरता देख, मुझे हँसी आती है और शोक भी होता है। हँसी तो यों आती है, कि तूने इससे पहले वनवासके समय कुछदिन क्लीब (हिजडा) बनकर महाराज विराटके घरमें गुप्त निवास किया था, सो ऐसा बोध होता है, कि वही छाया अब तक तेरी वीरतापर छायी हुई है, जैसे प्रचण्ड सूर्य्यकी किरणोंको साधारण कुहेलिका (कुहासा) आवरण करलेती है, ऐसे ही तेरी वीरवृत्तिपर, साहसपर, पराक्रमपर, धीरजपर और दृढतापर वही हिजडापन आवरण किये हुए है । देख ! राजा विराट तेरी सहायताको अपनी सेना लेकर इस संग्राममें आये हुए हैं। वह तेरी ऐसी दशा सुनकर तुझको देखने आवेंगे, तो बहुत हँसेंगे और यही कहकर ठहाका लगावेंगे, कि सचमुच आज अर्जुन हिजडाही होगया है। इसलिये तू ऐसे हिजडापनको धारण मतकर! ऐसा करना तेरे लिये शोभाजनक नहीं है। तू जो वीरोंमें श्रेष्ठ है, ऐसी कातरताको अंगीकार कर बैठजावेगा, तो अन्य तेरे भ्राता युधिष्ठिर, भीम इत्यादिकी क्या दशा होगी? तू मेरा कहना मान! [क्षुद्रम् हृदयदौर्बल्यम् त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप!] हे परंतप ! अपने हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्याग संग्रामके लिये उठ खडा हो ! तू सदासे अपने शत्रुओंका नाश करता आया है। इसलिये तुझको लोग "परन्तप" कहते हैं "परं शत्रु तापयतीति परन्तपः"

सो तू आज ऐसी वीरतासे युक्त अपने नामकी अख्याता पर कातरता की श्यामता फेरनेकी क्यों इच्छा कररहा है ? लोग क्या कहेंगे ? उठ ! उठ ! ! खडा होकर युद्धमें प्रवृत्त हो ! ले ! यह गाण्डीव धनुष बाणों सहित अपने हाथोंसे उठा ! इन सामनेवाले वीरोंको भी अपनी वीरताका परिचय दे ! ॥ ६ ॥

इतनी बात सुनकर अर्जुन दो अभिप्रायोंको प्रकट करता हुआ भगवान्से बोलता है । प्रथम तो यह, कि मैं मोहसे नहीं वरु धर्म्मसे युद्धका परित्याग करता हूं । दूसरा यह कि स्नेहकी अधिकता ने मुझे कातर बनाया है ।

अर्जुन उवाच

मू०—कथम् भीष्ममहम् संख्ये द्रोणं च मधुसूदन !
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ! ॥४॥

पदच्छेदः—हे मधुसूदन ! (भक्तजनहृदयाम्बुजभ्रमर !) [तथा] अरिसूदन ! (शत्रुमर्दन ! रिपुदमन !) संख्ये (संग्रामे) अहम् (अर्जुनः) पूजार्हौ (पूजायोग्यौ । कुसुमादिभिरर्चनयोग्यौ) भीष्मम् (भीष्मपितामहम्) द्रोणम् (द्रोणाचार्य्यगुरुन्) इषुभिः (बाणैः । सायकैः) कथम् (यत्र वाग्भिः योद्धमनुचितं तत्र बाणैः केन प्रकारेण ?) प्रतियोत्स्यामि× (योत्स्ये । प्राणत्यागफलकं प्रह- रिष्यामि । प्रतीपो भूत्वा युद्धं करिष्यामि) ॥ ४ ॥

पदार्थः- (मधुसूदन !)हे मधुदैत्यको विनाश करनेवाले ! तथा

× अनुदात्तलक्षणात्मनेपदस्यानित्यत्वात् परस्मैपदप्रयोगः । आर्षत्वाद्वा ।

(अरिसूदन !) हे शत्रुओंके संहार करनेवाले (पूजार्हौ) पूजने योग्य (भीष्मं) भीष्म पितामह (च) तथा (द्रोणम) द्रोणाचार्य्य ऐसे दोनों गुरुजनोंके साथ (संख्ये) इस संग्राममे मैं अपने (इषुभिः) बाणोंके द्वारा (कथम्) कैसे (प्रतियोत्स्यामि) युद्ध करूंगा? अर्थात् ये दोनों मेरे पूज्य होनेके कारण युद्ध करने योग्य नहीं हैं। इस लिये इन दोनोंसे युद्ध नहीं करूंगा ॥ ४ ॥

भावार्थः—अब अर्जुन भीष्म, द्रोणादिके महत्वको दिखलाता हुआ और इनको अवध्य सिद्ध करता हुआ कहता है, कि [**कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन! इषुभिः प्रतियोत्स्यामि**] हे मधु दैत्यके संहार करनेवाले मधुसूदन भगवान ! तुमने जो कुछ मुझे उपदेश किया और रण परित्याग करनेको " अनार्य्यजुष्ट अस्वर्ग्य " और 'अकीर्तिकर' बताया, ये सब बातें सत्य हैं, पर मै तो यह विचार कर रहा हूं, कि रणभूमिमें उपस्थित अन्य-अन्य वीरोंके साथ युद्ध करनेमें मुझे उतनी चिन्ता नहीं है, पर भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य्य के साथ मैं कैसे युद्ध करूंगा ? इनके पवित्र शरीरपर मैं अपने बाण का प्रहार कैसे करूंगा ? क्योंकि [**पूजार्हावरिसूदन !**] हे शत्रुओंके नाश करनेवाले अरिमर्दन भगवान ! ये दोनों कुसुमादि हाथमें लेकर पूजा करने योग्य हैं। क्योंकि भीष्म तो पितामह तथा नैष्ठिक ब्रह्मचारी होनेके कारण पूज्य हैं और द्रोणाचार्य्यजी तो साक्षात् गुरु ही हैं। इनको तो भक्तिपूर्वक पालना चाहिये, वचनसे भी ताडना नहीं करनी चाहिये, फिर बाणोंसे मैं कैसे इनके सम्मुख युद्ध

करूंगा ? शास्त्रका वचन है, कि "पितृमातृगुरूंश्चापि भक्तिहीनो न पालयेत्। वाचापि ताडयेत्तांश्च स कृतघ्न इति स्मृतः ॥ वाचा च ताडयेन्नित्यं स्वामिनं कुलटा च या । सा कृतघ्नीति विख्याता भारते पापिनीवरा। वह्निकुण्डं महाघोरं तौ प्रयातस्सुनिश्चितं ॥ तत्र वह्नौवसत्येव यावच्चन्द्रदिवाकरौ । ततो भवेज्जलौकाश्च सप्त जन्मस्वतः शुचिः ॥"

" ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखंडे ५२ अध्यायः"

अर्थ– माता, पिता और गुरुको भक्तिहीन होकर नहीं पालन करना चाहिये वरु भक्ति सहित इनकी सेवा शुश्रूषा करनी चाहिये। जो पुरुष भक्तिहीन होकर इनका पालन करता है अथवा वचनसे ताडना करता है वह कृतघ्न है तथा जो कुलटा स्त्री अपने स्वामीको कठोर बातोंसे दुःख देती है सो कृतघ्नी घोर पापिनी अग्निकुण्डमें पडकर कल्प पर्य्यन्त निवासकर फिर ये दोनों तृण जलौका (ठेंगी कीडा) होते हैं। सात जन्म ऐसे कीट होनेके पश्चात् पवित्र होते हैं। हे धर्म्मरक्षक ! भला विचारो तो सही ! जिन महानुभाव गुरुओंके लिये शास्त्र यों कहता है, कि "गुरुं हुं कृत्य त्वं कृत्य विप्रान्निर्जित्य वादतः। श्मशाने जायते वृक्षः कंकगृध्रोपसेवितः।

अर्थ-- जो अपने गुरुको 'हुं" कहकर तथा "त्वं" कहकर निरादर करता है तथा विवाद करके ब्राह्मणोंको परास्त करता है वह मरकर श्मशानमें वृक्षका जन्म पाता है, जिस वृक्षोंमें काग और गृध्र निवास करते हैं। फिर जो गुरुजन एवम प्रकार वचनसे भी निरादरके योग्य नही, उनसे मैं युद्ध कैसे करूंगा। सो मैं कैसा मूर्ख हूं? कि इन

वचनोंको जानकर भी अपने बडोंके सम्मुख बाण उठाऊं। और भी कहा है, कि "पुण्यक्षेत्रे भारते च देवं च ब्राह्मणं गुरुम्। विष्णुभक्तिविहीनश्च स भवेद्योऽवमन्यते ॥ गुरुं वा ब्राह्मणं वापि देवताप्रतिमामपि। दृष्ट्वा शीघ्रं न प्रणमेत्स भवेत्सूकरोभुवि ॥"
अर्थ—पुण्यक्षेत्र भारतमें देवता, ब्राह्मण और गुरुका जो अपमान करता है, वह विष्णु भगवान्‌की भक्तिसे विहीन रहता है। गुरु, ब्राह्मण और देवताकी मूर्त्तिको देखकर जो शीघ्र प्रणाम नहीं करता, वह पृथ्वी में सूकरका जन्म पाता है। तो हे भगवन्! एवम् प्रकारे पूजने योग्य द्रोणाचार्य और भीष्मादि गुरुओंके साथ रणभूमिमें कैसे युद्ध करूं? यहां अर्जुनने भगवान्‌को मधुसूदन और अरिसूदन*जो दोबार कहा, सो पुनरुक्ति दोष नहीं है, केवल व्याकुलताके कारण कहा है और यह भी निश्चय कराया, कि तुम भी तो मधुसूदन और अरिसूदन कहे जाते हो! बन्धुसूदन अथवा मित्रसूदन तो नहीं कहलाते हो! ॥ ४ ॥

ये कैसे महानुभाव हैं! इनका वध न करके क्या करना श्रेयस्कर

---

* प्रमाण—"मधुसूदनारिसूदनेति सम्बोधनद्वय शोकव्याकुलत्वेन पूर्वापरपरामर्शवैकल्यात। अतो न मधुसूदनारिसूदनयोरर्थस्य पुनरुक्ति दोष।" जैसे कोई बच्चा किसी दुःखसे रोता हुआ अपनी माके समीप जा, 'मा' मा!' कहकर बार बार पुकारता है यह पुनरुक्ति नहीं, व्याकुलताका कारण है. सभी स्त्री पुरुष व्याकुलताके समय बापरे-बाप वा मैयारे-मैया कहकर दो चार बार पुकारते हैं। इसी प्रकार यहां व्याकुलताके कारण अर्जुनका दोबार कहना पुनरुक्ति दोष नहीं है (मधुसूदनः)

होगा ? सो हे भगवन सुनो !

मू०— गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं+भैक्षमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

पदच्छेदः—इह लोके (अस्मिन् लोके) महानुभावान्× (येषां श्रेष्ठानि सामर्थ्यानि सन्ति तान् । माहात्म्यश्रुत्यध्ययनतपश्चाचारादि-सम्पन्नान्) गुरून् (आचार्य्यान्) अहत्वा (न हिंसित्वा) हि (इति निश्चयेन) भैक्षम् (भिक्षया लब्धमन्नम्) अपि, भोक्तुम् (भक्षितुम् । अशितुम्) श्रेयः (प्रशस्यतरम्) अर्थकामान् (द्रव्येषु इच्छा येषां तान् । धनार्थिनः । अर्थलुब्धान्) गुरून् (द्रोणादीन्) हत्वा (हिंसित्वा) तु, इह (अस्मिन् मर्त्यलोके) एव (निश्चयेन) रुधिरप्रदिग्धान् (रुधिरेण प्रकर्षेण लिप्तान् । लोहितातिलिप्तानिव । अत्यन्तजुगुप्सितान्) भोगान् (राज्यसुखानि) भुञ्जीय (अश्नीयाम्) ॥ ५ ॥

पदार्थः—(महानुभावान्) महानुभाव (गुरून्) गुरुओं

+भिक्षादिभ्योऽण् ४ । २ । ३८ इससे समूह अर्थमें अण् होनेसे भैक्ष बनता है, पर किसी-किसी गीतामें 'भैक्ष्य' पाठ भी है सो 'ष्यञ्' प्रत्यय होनेसे सिद्ध होता है ।

× हिमहानुभावानित्येकं वा पदम् हिमं जाड्यं हन्तीति हिमहा आदित्योऽग्निर्वा तन्देव अनुभावः सामर्थ्यं येषां तान् ।

को (अहत्वा) न मारकर (हि) ही (इहलोके) इस संसारमें (भैक्षम) भिक्षासे प्राप्त अन्नसमूह (अपि) भी (भोक्तुम्) खाना (श्रेयः) अतिही उत्तम है (तु) पर (अर्थकामान्) अर्थकामना-वाले (गुरून्) गुरुजनों को (हत्वा) मारकर उनके (रुधिरप्रदिग्धान्) रुधिरसे लिपटे हुए (भोगान्) राज्य सुखोंको (भुञ्जीय) भोगूं ? क्या ऐसा करना उचित है ? ॥ ५ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन अपने वचनको इसप्रकार दृढ़ करता हुआ कहता है, कि [**गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्षमपीह लोके**] महानुभाव गुरुओंको मारकर राज्य-भोगनेसे भीख मांगकर खाना उत्तम और श्रेष्ठ है। क्योंकि इस-में तो तनक भी सन्देह नहीं है, कि दुर्योधन युद्धमें अन्य वीरोंको आगे न करके भीष्म और द्रोणाचार्य्यको ही अवश्य आगे करेगा। क्योंकि वह जानता है, कि अर्जुन इनलोगोंपर बाण प्रहार करनेमें अधर्म्म समझकर रुकजावेगा और बहुत कुछ विचार करने लगजा-वेगा। इतनेमें हमारे वीर अर्जुनको मारलेंगे। इसी कारण मैं कहता हूं, कि इन महानुभावोंको मै कैसे मारूंगा ? यदि यह कहो, कि इनको तू महानुभाव क्यों कहता है? ये तो लोभवश होकर दुर्योधनकी सहायता निमित्त इस रणभूमिमें आये हैं। तथापि हे भगवन्! मैं इनको महानुभाव ही कहूंगा। क्योंकि जिस अर्थके लिये ये आये हैं उस अर्थमें ये लिप्त नहीं हैं। यदि लिप्त हों भी तथापि इनके महत्वमें दोष नहीं लगसकता। क्योंकि "तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा" अति तेजस्वियोंको किसी प्रकारका दोष नहीं लग सकता, जैसे सर्व

प्रकारके रसोंको ग्रहण करनेवाला अग्नि देव सदा शुद्ध और तेजोमयी ही रहता है, उसके तेजकी हानि नहीं होती। इसी प्रकार अर्थकामनासे रणमें उपस्थित होनेपर भी इन महानुभावोंके महत्वमें तनकभी दोष नहीं लगसकता, बरु रणमें उपस्थित होकर अपना पराक्रम दिखलाना तो महानुभावोंका स्वभाव ही है। उनका स्वभाव शास्त्रोंमें यों लिखा है-

प्रमाण—"विपदि धैर्य्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः। यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्" (हितोपदेश मित्रलाभ श्लो० ३२) अर्थ—आपत्तिकालमें धीरजसे रहना। अपनी उन्नति होनेपर क्षमावान् होना अर्थात् अपराधियोंका अपराध सदा क्षमा करते रहना। सभामें वाणीकी पटुता अर्थात् चतुराईसे बोलना। युद्धके समय निज पराक्रम दिखलाना। यशमें अभिरुचि अर्थात् विशेष रुचि रखना। शास्त्रमें व्यसन अर्थात् अहर्निश शास्त्रावलोकन, चिन्तन तथा शास्त्रोंकी रचना करनेमें लगे रहना। ये बातें महात्माओंमें स्वाभाविक हैं। यदि यह कहो, कि यह क्रोधवश युद्ध करने आये हैं सो ऐसा भी नहीं है। क्योंकि प्रथम तो इन महानुभावोंके शरीरमें क्रोध होताही नहीं। यदि हो भी तो क्षण मात्रके लिये। प्रमाण—"आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षण-भंगुराः। परित्यागाश्च निस्संगा भवन्ति हि महात्मनाम्॥"

अर्थ—महानुभावोंका स्नेह मरण पर्य्यन्त होता है, क्रोध क्षणमात्रके लिये होता है और परित्याग सदा संगरहित ही होता है।

इसलिये इन प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है, कि यदि ये कोपकर

भी आये हों तो इनका कोप सदाके लिये नहीं है। ये क्या करें? ये तो अपना धर्म्म जानकर युद्धमें आये हैं। इस समय राजा दुर्योधनका अन्न भोजन करते हैं। इसलिये यदि उसकी सहायता न करेंगे, तो हे भगवन्! ये नरकके भागी होंगे। सफलीकृत भर्तृपिण्ड (नमक हलाल) न कहलाकर नरककी यातना के अधिकारी होंगे। जिसका नमक खाना, उसके लिये समय पर गला देदेना परम धर्म्म है। इस कारण ये युद्धमें उपस्थित होकर प्राण देनेतक अपना पराक्रम अवश्य दिखलावेंगे। फिर इनके सम्मुख युद्ध करना, हे भगवन्! मेरा धर्म्म नहीं है। द्रोणाचार्य्य का हृदय समुद्रसे भी अधिक गंभीर है और जिनका महत्व आकाश से भी अपार है। अमृत बिगडकर कालके फेरसे विष होजावे तो होजावे, पर चाहे कितना भी अपराध कीजिये द्रोणाचार्य्यका हृदय कदापि अन्य प्रकारका नहीं होसकता। मैं तो बार-बार यही कहूंगा, कि ये तो दुर्योधनकी सहायता करना अपना धर्म्म समझकर रणमें आये हैं, इनके हृदयमें किसी प्रकारका वैर नहीं है। फिर भीष्म और द्रोण ये दोनों दयाकी तो मूर्त्ति ही हैं। सर्व गुणोंके भण्डार और अपार विद्याके सागर हैं। क्या राज्य भोगका सुख इन गुणोंसे अधिक है? कदापि नहीं। इसलिये भिक्षा मांगकर पेट भरना, देश त्यागकर अन्यत्र वनोंमें चलाजाना और पर्वतकी गुहामें जा बैठना उत्तम है, पर ऐसे महानुभावोंका वधकरना श्रेयस्कर नहीं है। मैं तो यही कहूंगा, कि [हत्त्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्] इनके शरीरके मर्मस्थानोंको बेधकर रुधिर निकाल उस रुधिरसे सने हुए जो राज्य—सुखको भोगूंगा,

तो संसारमें निन्दाही होगी और उधर परलोक भी नष्ट हो जावेगा। इसलिये मैं तो इनपर बाण प्रहार नहीं करूंगा। वरु देश त्यागकर किसी अन्यस्थानमें भिक्षासे उदरपोषण करूंगा। क्योंकि "**अकृत्वा परसन्तापमगत्वा खलमन्दिरम्। अक्लेशयित्वा चात्मानं यदल्पमपि तद्बहु॥**"

अर्थ— विना किसीको सन्ताप पहुंचाये, विना खलोंके घरमें गये अथवा वेद विरुद्ध नास्तिकके मन्दिरमें गये और विना आत्माको क्लेश दिये जो थोडा भी मिलजावे तो वही बहुत है। दूसरे प्रकार यों भी अर्थ है, कि [**हिमहानुभावान्**] हिमं जाड्यं हन्तीति हिमहा, आदित्योऽग्निर्वा तस्येव अनुभावः सामर्थ्यं येषां ते हिमहानुभावाः तान्। अर्थ यह है, कि अज्ञानता वा मूर्खता वा जडता रूप जो हिम है तिसे जो नाश करे उसे कहिये हिमहा। जैसे सूर्य और अग्नि हिमहा कहेजाते हैं। इन दोनोंके समान जिसका अनुभाव अर्थात् सामर्थ्य है वे **हिमहानुभाव** कहेजाते हैं, जो भले बुरे रसोंको ग्रहण करतेहुए भी दूषित नहीं होसकते× क्योंकि "**धर्म्मव्यतिकरो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥**" अर्थ—प्रायः ऐसा देखाजाता है, कि जो ईश्वर अर्थात् सामर्थ्यवान् पुरुष हैं उनसे धर्मकी मर्य्यादाका उल्लंघन कभी-कभी हठात् होजाता है, पर अति तेजस्वी होनेके कारण उनको वह दोष बाधा नहीं करसकता।

हे भगवन्! ये निर्दोष हैं, अपना धर्म्म पालन करने आये हैं। इस कारण मैं इनपर बाण प्रहार कदापि नहीं करूंगा, रण छोडकर चलाजाऊंगा।

× भानु कृशानु सर्व रस खाहीं, तिनकहँ मन्द कहत कोउ नाहीं। (तुलसीदास)

इस श्लोकमें अर्थकामान् पद है वह भीष्मादिका विशेषण न करके भोगान् का विशेषण किया जावे तो उत्तम है ॥ ५ ॥

इतना कह अर्जुन भगवान्के मुखकी ओर देखने लगा, कि अब भगवत् मुखारविन्दसे कौनसे कल्याणके शब्द निकलते हैं? पर शीघ्र कुछ उत्तर न पाकर मनमें ऐसा अनुमान करने लगा, कि श्रीकृष्ण भगवान्ने मेरी इन बातोंपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया अथवा भगवान् कहीं ऐसा उत्तर न देदेवें, कि महानुभावोंकी हिंसा न करना भी धर्म है और क्षत्रियोंका युद्ध करना भी धर्म्म है। जब दोनों धर्म्मही हैं, तो तू युद्ध क्यों नहीं करता? इस हेतु अपने मनका सन्देह दूर करनेके लिये इस प्रकार बोला।

मू०—न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

पदच्छेदः— [भिक्षायुद्धयोर्मध्ये] नः (अस्माकम्। क्षत्रियाणाम्) कतरत् (किं नामकम्। उभयोर्मध्ये किम्) गरीयः (गुरुतरम्। प्रशस्ततरम्) एतत् (इदम्) च, न (नैव) विद्मः (जानीमः) यद्वा, जयेम (जेष्यामः। अतिशयीमहि) यदि, वा, नः (अस्मान्) जयेयुः (जेष्यन्ति) [एतत् च न विद्मः] यान् (धार्तराष्ट्रान्) हत्वा (मारयित्वा) न (नहि) जिजीविषामः (जीवितुमिच्छामः)

ते (न हननकर्तुं योग्याः) धार्तराष्ट्राः (धृतराष्ट्रस्यापत्यानि । धृतराष्ट्रसम्बन्धिनो भीष्मद्रोणादयो वा) एव (निश्चयेन) प्रमुखे (सम्मुखे) अवस्थिताः (स्थिताः । संग्रामायोपस्थिताः) ॥ ६ ॥

पदार्थः— हे भगवन् ! (नः) हम लोगोंके लिये (**कतरत्**) भिक्षा और युद्ध दोनोंमें कौन (**गरीयः**) अधिक उत्तम है (**एतत्**) यह (**च**) भी हमलोग (**न**) नहीं (**विद्मः**) जानते हैं और (**यद्वा**) यह भी तो ठीक-ठीक ज्ञात नहीं होता, कि (**जयेम**) हम इनको जीतेंगे (**यदि वा**) अथवा ये (नः) हमको (**जयेयुः**) जीतेंगे (**यान्**) जिनको (**हत्वा**) मारकर (**न जिजीविषामः**) हम लोग जीनेकी इच्छा नहीं रखते (**ते, एव**) निश्चय करके वेही (**धार्तराष्ट्राः**) धृतराष्ट्रके पुत्र वा उनके पक्षपाती भीष्म द्रोणादि (**प्रमुखे**) हमलोगोंके सामने युद्धके लिये (**अवस्थिताः**) खडे हैं ॥६॥

भावार्थः— अब इसप्रकार दुःखी होकर अर्जुन भगवान्से कहता है, कि हे भगवन् ! यदि तुम यह कहो, कि तू जो भीख मांगने की इच्छा कर रहा है सो तेरा धर्म्म नहीं है । क्योंकि तू क्षत्रिय है । क्षत्रियका धर्म्म युद्ध ही करना है, तो हे नाथ ? मेरी तो घोर दुर्दशा होरही है । क्योंकि मेरा शरीर और मन दोनों इस समय अपने ठेकाने पर नहीं हैं। मैं पहलेही तुमसे कहचुकाहूं, कि " **वेपथुश्च शरीरे मे** " " **त्वक्चैवपरिदह्यते** " " **भ्रमतीव च मे मनः** " (अध्या० १ श्लो० २९, ३०) अर्थात् शरीर कांप रहा है। त्वचा जलती जारही है। मन भ्रम रहा है । इसलिये [**न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो**

यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः] हमारी बुद्धि यह नहीं समझ सकती, कि भिक्षा और युद्ध इन दोनोंमें हमारे लिये कौन उत्तम है ? हिंसा रहित भिक्षा उत्तम है ? अथवा स्वधर्म होनेसे युद्ध उत्तम है ? मेरी बुद्धि इस आपत्ति-कालमें यह भी नहीं जान सकती, कि भीष्म और द्रोणाचार्य्य जो धृतराष्ट्रके पुत्रोंके कटककी सहायतामें आकर सामने खडे हैं ये हमें पराजय करेंगे अथवा हम इनको परास्त करेंगे। जो कहीं इनलोगोंकी जीत होगयी तो यह निश्चय ही है, कि राज्य छीनजानेसे भिक्षाही मांगना पडेगा अथवा किसी दूर देशमें जाकर प्राण त्याग देना होगा। इसलिये पहलेहीसे भिक्षा मांगनेका संकल्प क्यों न करूं ? हे शत्रुओंके नाश करनेवाले अरिसूदन ! यदि आप यह कहें, कि तू इतनी चिन्ता क्यों करता है ? मैं तेरी सहायताको आया हूं, इसलिये तू जय पावेगा। तो हे भगवन् ! ऐसा जय पाना भी पराजयके ही तुल्य है। क्योंकि **[यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः]** जिन भीष्म द्रोण इत्यादिको तथा अन्य बान्धवोंको मारकरे हमलोग जीनेकी अभिलाषा नहीं रखते वेही आज मेरे सामने युद्धके लिये उपस्थित हैं। इनको मारकरे राज्यसुख भोगने की कब इच्छा कर सकता हूं ? बहुतेरे टीकाकारोंने ऐसा अर्थ किया है, कि सेनाके अधिक और न्यून होनेके कारण अर्जुनको सन्देह हुआ, कि न जाने कौन जीतेगा ? किन्तु ऐसा अर्थ करना अयोग्य है। क्या अर्जुनको इतना नहीं ज्ञात था, कि मेरी सेना सात अक्षौहिणी है और शत्रुओंकी सेना ग्यारह अक्षौहिणी है। यह बात तो सबोंपर प्रकट थी। फिर सेनाकी

न्यूनाधिकतासे जय पराजयका विचार वीर लोग नहीं करते । हां ! युद्धकलाके जाननेवाले वीरोंकी उपस्थितिसे किंचित् बोध कर सकते हैं । सो अपनी और शत्रुकी सेनाके नायकोंके नाम प्रथम हीसे अर्जुन-पर विदित हैं । इसलिये बलाबलके कारण हारजीतका संशय भी अर्जुनके चित्तमें नहीं है । वह तो गुरुजनों तथा बन्धुवर्गोंके वध इत्यादि पापोंसे थरथरा रहा है और राज्यसुख छोड भिक्षासे अपनी शरीरयात्रा के निर्वाह करनेका विचार कर रहा है ॥ ६ ॥

अब अर्जुन अपने वचनोंसे श्यामसुन्दरको कुछ अप्रसन्न देखकर भयभीत हो दोनों कर जोड यों प्रार्थना करता है—

मू०—कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः

पृच्छामि त्वां धर्म्मसम्मूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७ ॥

पदच्छेदः—कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः (कार्पण्यं दैन्यं तेन दोषेण उपहतः स्वभावो युद्धोद्योगलक्षणो यस्य सः । अथवा कार्पण्यदोषाभ्यामुपहतः स्वभावो यस्य सः) धर्म्मसम्मूढचेताः (स्वधर्मविषये संशयैर्व्याप्तं तथाऽविवेकतां प्राप्तं चेतो यस्य सः) त्वाम् (जगद्गुरुम्) पृच्छामि (जिज्ञासां करोमि) यत्, निश्चितम् (श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणैर्निरूपितम्) श्रेयः (कल्याणम् । परमपुरुषार्थोद्भूतम् फलम्) स्यात् (भवेत्) तत् (परम कल्याणम्) मे (मह्यम्) ब्रूहि ! (कथय !) अहम् (संशयग्रस्तोऽर्जुनः) ते

(तव) शिष्यः (शासितुं योग्यः । शिक्षयितुं योग्यः) त्वाम् (भवन्तम् । शासितारम्) **प्रपन्नम्** (शरणागतम्) **माम्** (अर्जुनम्) **शाधि !** (शिक्षय !) ॥ ७ ॥

पदार्थः— इन अपने बन्धुओंको मारकर कैसे जीवेंगे ? ऐसी (**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः**) कृपणतासे हत होगया है स्वभाव जिसका, अर्थात् नष्ट होगयी है प्रकृति जिसकी तथा (धर्मसम्मूढचेताः) धर्मके विषयमें मूढ होरहा है चित्त जिसका, ऐसा जो मैं अर्जुन सो (त्वाम्) तुमसे (पृच्छामि) पूछता हूं, कि (मे) मेरा (श्रेयः) कल्याण भिक्षा मांगकर खानेमें अथवा युद्ध करनेमें (स्यात्) है ? सो हे भगवन् ! तुम (निश्चितम्) निश्चय करके (ब्रूहि!) कहो ! क्योंकि (अहम्) मैं (ते) तुम्हारा (शिष्यः) शिष्य हूं । इसलिये (त्वाम्) तुम्हारी (प्रपन्नम्) शरण आये हुए (माम्) मुझ अर्जुनको (शाधि!) यथोचित शिक्षा दो ! ॥ ७ ॥

भावार्थः— जब अर्जुनने युद्ध न करनेकी दृढ इच्छा प्रकट करते हुए जब श्रीकृष्ण भगवान्का मुख कुछ अप्रसन्न सा देखा तब भय खाकर कहा, कि हे भगवन् ! (**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः**) मैं जो इस समय कृपण* अर्थात् दीन होरहा हूं, दीनताने मेरे वीर स्वभाव को हत कर डाला है । क्योंकि बन्धुओंके स्नेहके कारण, मैं जो स्वभावतः वीर कहा जाता था सो अपनी स्वाभाविक वीरतासे शून्य

---

*कृपणः कल्पते स्वल्पमपि दातुम् । कृप् + बाहुलकात् क्युन् अतएव न लत्वम् । अदाता, मन्द, दीनः,। क्षुद्र । योऽल्पां स्वल्पामपि स्वक्षति न क्षमते स कृपण ।

होकर कृपणताके दोषसे परिपूर्ण होरहा हूं । क्योंकि संसारमें भी यह वार्त्ता प्रसिद्ध है, कि जो धनवान् होकर एक कौडी भी व्यय नहीं करता वह कृपण है । तात्पर्य यह है, कि मैं अर्जुन, जो अपनी वीरताका भण्डार खोले हुए, शत्रुओंको युद्ध दान देकर प्रसन्न करनेमें अत्यन्त उदार था वह आज उस वीरताके भंडारसे इन धार्त्तराष्ट्र अर्थात् धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी सहायता करनेवाले वीरोंको एक रंचकमात्र युद्ध दान देनेमें भी सकोच कर रहा हूं । इसकारण मैं तो उच्चस्वरसे मुक्तकण्ठ होकर अपनेको "कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव" ही कहूंगा ।

प्रिय पाठको ! इस "कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव" पदका दूसरा अर्थ भी है जो अर्जुनके आन्तरिक अर्थसे प्रयोजन रखता है, वह यह है, कि—"यो वा एतदक्षरमविदित्वा गार्ग्यस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः" (श्रुतिः) अर्थ—याज्ञवल्क्य कहते हैं, कि हे गार्गी ! जो प्राणी इस अक्षर आत्माको न जानकर अर्थात् विना आत्मज्ञान प्राप्त किये इस लोकसे परलोकको जाता है वह कृपण है । इस श्रुतिके अनुसार इस समय आत्मज्ञानसे रहित होनेके कारण भी अर्जुन अपनेको कृपण कह रहा है । उसका आन्तरिक अभिप्राय यह है, कि भगवान्‌के मुखारविन्दसे कुछ ज्ञानकी वार्त्ता श्रवण करे, जिससे आत्मज्ञानका तत्त्व लाभ हो ।

शंका— अर्जुनकी वृत्ति तो इस समय ज्ञानकी ओर न थी फिर वह आत्मज्ञान प्राप्तिके तात्पर्य्यसे अपनेको "कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव" क्यों कहेगा ?

समाधान— जिस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञानसे सम्पन्न होनेपर भी श्रीरघुकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजीने केवल संसारके कल्याण निमित्त एक प्रकारकी उदासीनता स्वीकार कर श्रीवशिष्ठ मुनिके द्वारा ज्ञान-तत्त्वोंका उपदेश करवा योगवाशिष्ठ नामक ग्रन्थ प्रकट करवाया है, उसी प्रकार क्या आश्चर्य्य है, कि अर्जुन भी जो नर-नारायणके अवतारमें कहाजाता है, सर्व प्रकारके ज्ञानसे सम्पन्न होनेपर भी केवल संसारके कल्याण निमित्त श्रीसच्चिदानन्द कृष्णचन्द्रके मुखारविन्द से उपनिषदोंका सार, जो यह गीता-शास्त्र है, तिसे इस भूमिपर प्रकट करानेके तात्पर्य्यसे अपने ऊपर कृपणता अर्थात् आत्मज्ञानकी शून्यता स्वीकार कर लिया हो। क्योंकि वह अपने मनमें यह विश्वास कर रहा है, कि कदाचित् मैं इस युद्धमें मारा गया तो यह गीता रूप रत्न भगवानके मुखारविन्दमें गुप्त ही रह जावेगा। इसी अभि-प्रायसे फिर आगे कहता है, कि [पृच्छामि त्वां धर्म्मसम्मूढचेता:] हे भगवन्! मैं जो धर्म्मसम्मूढचेता: होरहा हूं अर्थात् धर्मके जाननेमें भी महामूढ होरहा हूं सो घबराकर व्याकुल हो तुम्हारी शरण आया हूं और मैं तुमसे पूछता हूं, कि [यच्छ्रेय: स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे] भीख मांगने और युद्ध करने इन दोनोंमें जो मेरे लिये श्रेय हो सो मुझसे कहो! वह मेरा श्रेय ऐसा मत कहो जो एकबारगी साधारण श्रेय हो, वरु श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणोंके द्वारा जो निश्चित श्रेय मेरा परम कल्याण-कारक हो सो कृपा कर कहो! अर्थात् ऐकान्तिक+ और

+ साधनानन्तरमवश्यं भावित्वमैकान्तिकत्वम्। अर्थ- पुरुषार्थ साधन करनेसे जो फल अवश्य लाभ हो उसे ऐकान्तिक-श्रेय कहते है।

आत्यंतिक× दोनों जिसमें हों सो श्रेय मुझसे कहो! अर्जुनके कहनेका तात्पर्य यह है, कि जो तत्त्व तुम्हारी समझसे निश्चित हो, जिससे मेरा सर्व प्रकार सदाके लिये कल्याण हो, सो कहो ! अर्थात् मुझको परम पुरुषार्थ बतलाओ ! जिससे मेरे दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति होजावे ।

यदि तुम ऐसा कहो, कि तू मेरा शिष्य नहीं है, सखा है, इसलिये मैं तुझे उपदेश नहीं करूंगा, सो ऐसा नहीं। मेरा तो आपमें सर्वभाव-निरोध है (त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव । त्वमेव सेव्यश्च गुरुस्त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देव देव !) अर्थात् माता, पिता, बन्धु, सखा, स्वामी और गुरु सब तुमही हो । मैं तुमही को सब कुछ जानता हूं । [शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्] मैं आपका शिष्य हूं, इस समय अपना चेला समझकर शिक्षा दो, कि कैसे करूं ? क्योंकि जैसे अंधकार व्याप जानेसे किसी ओर कुछ सूझता नहीं इसी प्रकार इस समय मुझे कुछ नहीं सूझता। सो तुमहीको मैं अपना सर्वस्व जानकर अपने कल्याण की बात पूछता हूं। इसलिये मुझ अपने शरण आये हुएको उचित शिक्षा दो! मैं तुम्हारा सच्चा शिष्य हूं । सो सब विचार कर जैसे-जैसे कहो वैसेही करूं ॥ ७ ॥

इतना कहनेपर फिर अर्जुनके चित्तमें यह विचार आया, कि भगवान तो मुझे पहले ही कहचुके है कि " क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं

× जातस्याविनाशित्वमात्यन्तिकत्वम् । अर्थ—जो श्रेय उत्पन्न होकर फिर कभी नाश न होवे उसे आत्यन्तिक कहते हैं ।

त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ! ” अपने हृदयकी क्षुद्र दुर्बलताको त्याग उठ खडा हो! युद्ध करे ! फिर मेरा श्रेय पूछना मेरी असभ्यता, हठ और ढिठाई प्रकट करता है । सो मैं भगवान्को अपनी इस असभ्यताका कारण सुना दूं तो उत्तम हो । ऐसा विचार भयभीत हो भगवान्से कहता है—

मू०—न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या-
द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

पदच्छेदः—भूमौ (पृथिव्याम) असपत्नम् (न विद्यते सपत्नः शत्रुर्यस्मिंस्तत् निष्कण्टकम्) ऋद्धम् (समृद्धम सस्यादिसम्पन्नम) राज्यम (आधिपत्यम्) च (तथा) सुराणाम् (देवानाम्) आधिपत्यम (ऐन्द्रं पदम । हिरण्यगर्भपर्य्यन्तमैश्वर्य्यम) अपि, अवाप्य (प्राप्य) यत् (उद्योगः) मम, इन्द्रियाणाम् (वाह्याभ्यन्तरकरणानाम्) उच्छोषणम् (उत्कर्षेण शुष्ककरणाम् । सर्वदासन्तापकरम्) शोकम् (इष्टवियोगानुचिन्तनम् । चित्तविकलताम । बन्ध्वादिवियोगजनितां मनः पीडाम्) अपनुद्यात (अपनयेत् । दूरीकुर्य्यात्) तत्, न, हि (नैव) प्रपश्यामि (अवलोकयामि) ॥ ८ ॥

पदार्थः—अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् !(भूमौ) सम्पूर्ण भूमण्डलमें (असपत्नम) शत्रु रहित (ऋद्धम्) धनधान्य इत्यादिसे परिपूर्ण (राज्यम) राज्य (च) तथा (सुराणां) देवताओंका

(आधिपत्यम्)आधिपत्य अर्थात् इन्द्रकी पदवी (अपि) भी(अवाप्य) प्राप्त करके (यत्) जो उपाय (मम) मेरी (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियोंके (उच्छोषणम्) शोषण करनेवाले (शोकम्) शोकको [अपनुद्यात] मिटादेवे (तत्) सो उपाय मैं इस समय (न हि प्रपश्यामि) नहीं देखता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थः— श्रीआनन्दकन्द ब्रजचन्द्रने जो अर्जुनको पहलेही यह आज्ञा देदी, कि हे परंतप ! तू अपने हृदयकी दुर्बलता छोड उठ खडा हो ! और युद्ध कर ! अर्जुन तिस आज्ञाका तिरस्कार करता हुआ अज्ञानता वश हठ कर रहा है । इसलिये अपने हठ पर लज्जित हो तिसका कारण कहता हुआ बोलता है, कि [**न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्**] हे भगवन् ! मैं अपनी इन्द्रियोंके शोषण करनेवाले शोकको दूरकरनेका कुछ भी उपाय नहीं देखता हूं। तुमतो स्वयं जानते हो ! कि "नास्तिशोकसमो रिपु" शोकसे बढकर प्राणीका नाश करनेवाला अन्य कोई शत्रु नहीं है। सो शोक भी कैसा है? जिसने नेत्रोंको अंध, कर्णोंको बधिर जिह्वाको शुष्क, हृदयको कम्पायमान और अन्तःकरणको चंचल करदिया है तथा अन्यान्य अंगोंके बलको भी शोषण करलिया है। हे नाथ ! केवल यह शोक है, जो मुझे तुम्हारे समीप असभ्योंके समान निर्लज्ज और अपराधी बना रहा है और तुम्हारी आज्ञाको नहीं सुनने देता । यदि तुम यह कहो, कि तू बुद्धिमान है और विचारशील है । इसलिये तू अपने शोकके निवारणका उपाय आपही करले ! मुझसे क्यों पूछता है ? तो हे नाथ ! मेरी तो बुद्धि मारे शोकके ऐसी

नष्ट होरही है, कि इस कठोर और अनिवार्य्य शोकसे छूटनेका कोई उपाय मुझको स्वयं नहीं दीखता । क्या करूं ? यदि तुम यह कहो, कि "जेष्यसि चेत्तदा राज्यप्राप्त्या इतरथा च स्वर्गप्राप्त्या" जो तू जीत जावेगा तो राज्यसुखके प्राप्त होनेसे और मारा जावेगा तो स्वर्गकी प्राप्तिसे तेरा शोक दूर हो जावेगा । तो हे भगवन ! [अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्] मै तो दोनोंमें एककी भी कांक्षा कहीं रखता । इस संसारमें यदि सर्वप्रकारके धन-धान्यसे सम्पन्न शत्रुरहित अर्थात चक्रवर्त्तीका राज्य मुझे प्राप्त हो अथवा परलोकमें स्वर्गसे लेकर ब्रह्म-लोक तकका ऐश्वर्य्य मुझे प्राप्त होजावे, तो भी इनसे मेरा यह शोषक शोक कदापि निवारण नहीं होसकता । जैसे जले हुए बीजको पृथ्वीमें बोनेसे अंकुर नहीं निकलता ऐसेही मेरा हृदय, जो शोकसे जल गया है, लौकिक या पारलौकिक सुखोंको पानेसे प्रफुल्लित नहीं होसकता ।

अब यहां प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि अर्जुन परम तत्त्वके सुननेकी अभिलाषासे पूछ रहा है, कि हे भगवन् ! इस युद्धसे इतर मेरे शोकके नाश करनेका कुछ उपाय हो तो बताओ ! इसी कारण अपनेको इस परम तत्त्वका अधिकारी सिद्ध करनेके लिये विषादके व्याजसे इस लोकसे लेकर ब्रह्मलोक पर्य्यन्तके ऐश्वर्य्यका त्याग दिखलाता है । इससे सिद्ध होता है, कि अर्जुनको भगवान्से परम तत्त्व सुननेकी अभिलाषा है । इस श्रुतिसे यह भी सिद्ध होता है, कि शोकसागरसे पार करनेवाला सांसारिक सुखोंसे इतर कोई दूसरा सुख भी है, जो अर्जुन भगवान्से सुनना चाहता है । यहां अर्जुनने अपनेको आत्मज्ञानका अधिकारी अवगत

करानेके लिये आत्मज्ञानियोंके दो अंग प्रकट किये । प्रथम—"भैक्ष्य-चर्या" (भीखमांगना) और द्वितीय— "इहामुत्रार्थफलभोगविराग" (इसलोकसे ब्रह्मलोक तकके ऐश्वर्य्योंके भोगसे विराग) ॥ ८ ॥

इतना सुन धृतराष्ट्र जो राज्यको प्राप्त करनेकी बडी शीघ्रता कररहे थे और लोभ जिनको सिरसे पांव तक सता रहा था झट बोल उठे, कि अरे भाई संजय ! शीघ्रतासे कहो ! कि अर्जुनके इतने कहनेके पश्चात् फिर क्या हुआ ? धृतराष्ट्रके इस प्रश्न पर संजय कहने लगा ।

संजय उवाच

मू०--एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः ।

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

पदच्छेदः—परंतपः (शत्रुतापनोऽर्जुनः) गुडाकेशः (जितालस्यः) हृषीकेशम् (सर्वेन्द्रियाणां नियन्तारं भगवन्तम्) एवम् (प्रागुक्तप्रकारेण) उक्त्वा (वाग्व्यापारेण प्रकाश्य) [अहम्] न (नैव) योत्स्ये (संप्रहरिष्ये । युद्धं करिष्यामि) इति, गोविन्दम् (गां वेदलक्षणां वाणीं विन्दतीति व्युत्पत्त्या सर्ववेदोपादानत्वेन सर्वज्ञं वासुदेवम्) उक्त्वा (कथयित्वा) तूष्णीम् (मूकः । वाग्व्यापारविनिर्मुक्तः) बभूव, ह (किल) ॥ ९ ॥

पदार्थः—[संजयउवाच] संजयने धृतराष्ट्रसे यों कहा, कि (परन्तपः) शत्रुओंको नाश करनेवाला तथा (गुडाकेशः) निद्राको जीतनेवाला अर्जुन (हृषीकेशम्) हृषीकेशके प्रति (एवम्) पूर्वोक्त-प्रकार (उक्त्वा) कहकर (न योत्स्ये) मैं युद्ध नहीं करूंगा ।

(इति) इतना (गोविन्दं) गोविन्दके प्रति (उक्त्वा) बोलकर (तूष्णीम्) एकदम गूंगेके समान चुप (बभूव) होगया ॥ ९ ॥

भावार्थः—धृतराष्ट्रको राज्य प्राप्तिकी बडी लालसा देख लोभमें डूबाहुआ जान [**संजय उवाच**] सञ्जय बोला, कि [**एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः**] निद्राको जीतनेवाला तथा शत्रुओंको नाश करनेवाला अर्जुन हृषीकेश× अर्थात् सर्व इन्द्रियोंके ईश श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्रसे उपर्युक्त वचनोंको बोलकर विकलतापूर्वक अपने मनकी वर्त्तमान दशा प्रकट करने लगा है ।

यहां हृषीकेश शब्दके अनेक अर्थ जो टिप्पणीमें दिये गये हैं उनमें एक अर्थ यह भी है, कि जिसके घूंघुरवाले केशोंको देखकर संपूर्ण संसार हर्षित हो प्रीति करता है, तिस हृषीकेश श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति कहने लगा, कि [**न योत्स्ये**] मैं युद्ध नहीं करूंगा । **इति* गोवि-**

× हृषीकेशः—हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशः सर्व इन्द्रियोंके ईश परमात्मा। इन्द्रियाणि यद्वशे वर्तन्ते स परमात्मा सब इन्द्रिया जिसके वशमें रहती है सो परमात्मा (शंकराचार्य्यः) सर्वेन्द्रियप्रवर्तकत्वादीशत्वम् । सब इन्द्रियोंका प्रवर्तक होनेसे ईशत्व है जिसमें (वाचस्पतिः) सर्वेन्द्रियप्रवर्त्तकत्वेनान्तर्य्यामिनम् । सर्वइन्द्रियोंके प्रवर्त्तक होनेसे जो अन्तर्यामी कहाजाता है तिसको (मधुसूदन) हृष्टा जगत्प्रीतिकराः केशा अस्य हृषीकेशः " पृषोदरादिः " (पौराणिका)

* गोविन्दः—गां वेदमयीं वाणीं, भुवं, धेनुं, स्वर्गं वा विन्दति पालयतीति गोविन्दः । गोभिर्वेदान्तवाक्यै विद्यते इतिवा । (वाचस्पतिः)

गवां शास्त्रमयीनां वाणीनां विन्दः पति (इतिमेदिनी)

गावः मनः प्रधानानि इन्द्रियाणि तेषां विन्दः । प्रवर्त्तयिता चेतयिता अन्तर्यामी आत्मेत्यर्थः (शब्दकल्पद्रुम)

न्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह] यह वचन गोविन्दसे कहकर चुप ही होगया। यहां गोविन्द शब्द प्रयोग करनेसे अर्जुनके मनका भाव यह है, कि वेदमयी वाणियोंके जाननेवाले, मत्स्यावतार लेकर भूमिकी रक्षा करनेवाले, ब्रजमें गउओंके पालनेवाले, वैकुण्ठनाथ होकर स्वर्गकी रक्षा करनेवाले, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, इत्यादि वेदान्त वाक्योंकेद्वारा प्राप्त होनेवाले, तथा मन प्रधान जो इन्द्रियां हैं उनको अपने-अपने कार्य्योंमें प्रवृत्त करनेवाले और उन्हें चैतन्य करनेवाले हो। इसलिये मेरे मनकी सब बातें जानते ही हो तथापि मैं तुमसे ढिठाई कर यह कहता हूं कि मैं इन भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य्य इत्यादि महानुभावोंके साथ युद्ध नहीं करूंगा। बस! इतना कहकर चुपही होगया।

जैसे सर्पके डँसे हुएका वाक्य रुक जाता है ऐसे मोह रूप सर्पसे डँसाहुआ अर्जुन चुप होगया अथवा जैसे गूंगा मनही-मन दुःखको सहन करता है, कुछ बोलता नहीं, ऐसे अर्जुन मनही-मन क्लेश सहता हुआ चुप होगया।

पाठको! इस विषके डसे हुएके लिये श्रीहृषीकेश, गोविन्दके मधुर वचन अर्थात इस गीता-शास्त्रका उपदेश गाडुरी मंत्रके समान हैं, जो उसके मोहरूप विषको खींच लेवेगा। जैसे सूर्य्यके प्रचण्ड तापसे जर्जरीभूत वनस्पतियोंके फल फूलोंको श्यामघन अपने जल वर्षणसे प्रसन्न कर प्रफुल्लित कर डालता है ऐसेही दुःखसे जलेहुए अर्जुनको श्यामसुन्दर अपने उपदेशरूप शीतल जलकी वर्षासे प्रफुल्लित करेंगे। इस श्लोकमें (ह)× शब्द निश्चयवाचक वा वाक्यालंकार है।

× यहां टीकाकार मधुसूदनने इस (ह) शब्दका अभिप्राय यह लिखा है, कि

संजयने जो यहां हृषीकेश और गोविन्द शब्दका प्रयोग किया इसका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि उसने धृतराष्ट्रको यह दर्शाया, कि श्रीगोविन्द जो सर्व वेद वेदान्त शास्त्रोंके ज्ञाता हैं वे गीता-शास्त्रका उपदेश करके अर्जुनको परम तत्त्वका बोध कराकर उसके हृदयके अन्धकारको हरेंगे, युद्ध करावेंगे और इसी युद्ध करानेके मिससे कर्म, उपासना और ज्ञानका तत्त्व उपदेश करेंगे ॥ ६ ॥

एवम् प्रकार अर्जुनके चुप होजाने पर भगवान्ने क्या कहा ? सो संजय धृतराष्ट्रसे कहता है ।

मू०—तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ! ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

पदच्छेदः—हे भारत ! (भरतवंशोत्पन्न धृतराष्ट्र!) **हृषीकेशः** (इन्द्रियाणामीशः श्रीवासुदेवः) **उभयोः** (द्वयोः) **सेनयोः** (वाहिन्योः) **मध्ये** (मध्यस्थाने) **विषीदन्तम्** (विषादम् कुर्वन्तम् । शोकमोहाभ्यामतिदुःखितम्) **तम्** (अर्जुनम्) **प्रहसन्** (स्मयमानः । प्रसन्नमुखः। मदाज्ञावशवर्त्तिनि त्वय्यहं प्रसन्नोऽस्मीति प्रसन्नमुखेन प्रकटयन्) **इव** (सदृशं) **इदम्** (वक्ष्यमाणम्) **वचः** (परमगंभीरार्थप्रकाशकं वचनम्) **उवाच** (उक्तवान्) ॥ १० ॥

पदार्थः— संजय कहता है, कि हे (**भरत** !) भरतवंशमें उत्पन्न राजा धृतराष्ट्र !(**उभयोः**) दोनों (**सेनयोः**) सेनाके (**मध्ये**)

अर्जुन जो परंतप और गुडाकेश कहलाता है अर्थात शत्रुजित् और निरालस्य कहलाता है उसके इस समयके क्षणिक आलस्यको गोविन्द शीघ्र हरलेवेंगे ।

मध्यमें (विषीदन्तम्) विषाद करते हुए (तम) उस अर्जुनके प्रति (हृषीकेशः) इन्द्रियोंके प्रवर्त्तक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र (प्रहसन् इव) मुसकरातेहुए (इदं) यह (वचः) वचन बोले ॥ १० ॥

भावार्थः—धृतराष्ट्रको अधिक लोभ न सतावे इस तात्पर्य्यसे संजय "भारेत !" ऐसा शब्द प्रयोग करके कहता है, कि [**तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत !**] हे भरत वंशमें उत्पन्न राजा धृतराष्ट्र ! तुम ऐसा मत समझो, कि भगवान श्रीकृष्णचन्द्रने अर्जुन को विषाद करते हुए देखकर उसकी उपेक्षा करदी । ऐसा नहीं, वरु आनन्दपूर्वक बडी रुचिके साथ मुसकराते हुए अपनी माहेश्वरी× मायासे दोनों ओरके वीरोंको मोहित करते हुए तथा अर्जुनको सन्तोष देते हुए भगवान् हृषीकेशने [**सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः**] दोनों सेनाओंके मध्यस्थानमें जहां अर्जुनकी प्रार्थनापर भगवान्ने रथ खडा कररखा है, तहां विषाद करते हुए अर्जुन के प्रति यों बोले । अर्थात् जैसे सूर्य्यके प्रचण्डतापसे पृथ्वी तप्त होकर जरजरीभूत होजाती है, सर्व ठौरके वृक्षोंके पत्ते, मंजरी, फूल, फल इत्यादि शुष्क होकर भस्म होजाते हैं, ऐसे अर्जुनके रोम, चर्म,

× अपनी माहेश्वरी मायाकी प्रेरणा कर उतनी देर तक जब तक कि इस गीता-शास्त्रके अठारहवें अध्यायकी समाप्ति होजावे दोनों दलोंके वीरोंको अपने प्रहसनसे मोहित कर दिया है । किसी वीरको यह सुधि नहीं है, कि मै कौन हूं? कहांसे आया हूं ? क्याकरने आयाहूं? क्या कररहा हूं? युद्धभूमिमें हूं अथवा कहीं और हूं सामने कौन खडे है हाथोंमें शस्त्र है वा रीता हाथ हूं कुछभी सुधि न रही । तहां निस मध्य रणभूमिमें भगवान्ने अर्जुनके प्रति यो कहा ।

रुधिर इत्यादि सातों धातुओंको तथा चक्षु, श्रोत्र, वाक्य इत्यादि दशों इन्द्रियोंको युद्धरूप ग्रीष्म ऋतुसे जलभुनकर भस्म होती हुई देख हृषीकेश भगवान्, जिनका शरीर श्यामघनके समान सुशोभित होरहा है (प्रहसन्निव) मुसकरातेहुए मानो दामिनीके सदृश प्रकाश करतेहुए बादलोंके गर्जके समान गंभीर वाणीसे अर्जुनके ऊपर तत्त्व-ज्ञानरूप जलकी वर्षा करने लगे। अथवा जैसे चतुर वैद्य किसी रोगी के लिये बडे विचारके साथ औषधिका प्रयोग करता है ऐसे भव-रोगनाशक वैद्य भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र तत्वज्ञानरूप संजीवनी जडी का चूर्ण लेकर अर्जुनका रोग नाश करनेके लिये तत्पर होगये। यहां +प्रहसन्निव शब्दका भिन्न-भिन्न टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न अर्थ किया है। आनन्दगिरिने अपने व्याख्यानमें 'उपहास करते हुए' अर्थ किया है। टीका-कार मधुसूदनने ऐसा अर्थ किया है, कि क्षत्रिय होकर युद्धसे भागना जो निन्दित कार्य्य अर्जुनने स्वीकार किया है इसलिये उसको लज्जाके सागरमें डुबानेके तात्पर्य्यसे भगवान्‌ने उपहास किया। पर यहां विचारने योग्य है, कि श्यामसुन्दरको पहले ही अर्जुन कहचुका है, कि आप मेरे माता, पिता, गुरु, अर्थात् सर्वस्व हैं। इसलिये मैं आपकी शरण आया हूं। इस समय मुझको शिष्य जानकर उपदेश कीजिये ! ऐसी दशा में शिष्यका उपहास करना अथवा उसके अनुचित आचरणों पर अथवा मूढतापर उपहासके तात्पर्य्यसे हँसना वा मुसकराना गुरुका

+ प्रहसन्निव— १. उपहास कुर्वन्निव— "आनन्दगिरिः"

२. अनुचिताचरणप्रकाशनेन लज्जाम्बुधौ मज्जयन्निव।

३. मूढोप्ययममूढवद्वदतीति प्रहसन्निव। "मधुसूदन। नीलकण्ठः।"

४. मदाज्ञावशवर्त्तिनि त्वय्यहं प्रसन्नोऽस्मीति प्रकटयन्निव "भाष्योत्कर्षदीपिका"

धर्म्म नहीं है । इसलिये इन टीकाकारोंका ऐसा अर्थ करना एकदेशीय है । हां ! भाष्योत्कर्षदीपिका वालेने जो यह अर्थ किया है, कि "**मदाज्ञावशवर्त्तिनि त्वय्यहं प्रसन्नोऽस्मीति प्रकटयन्निव**" अर्थात् मेरी आज्ञाके वशमें चलनेवाला जो तू अर्जुन है सो तुझ पर मैं प्रसन्न हूं । इस भावको प्रकट करनेके लिये मन्द-मन्द *मुसकरानसे हृदय की प्रसन्नता प्रकट करते हुए श्रीगोविन्दने यों उपदेश करना आरंभ किया ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच

मू०—अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

पदच्छेदः—त्वम् (शोकमोहग्रस्ताऽर्जुन !) **अशोच्यान्** (शोकानर्हान् । शोचितुमयोग्यान्) **अन्वशोचः**× (पुनः पुनः शोचसि) च (तथा) ¯**प्रज्ञावादान्** (देहादन्यात्मानं जानतां वच-

* जहां-जहां जब जब भगवान्‌ने किसी अवतारमें मुसकरा दिया है तहां-तहां अपनी मायाका आवरण डाल जीवोंको मोहित कर दिया है । यह सब पुराण और इतिहासोंमें प्रसिद्ध है । इस कारण भगवान्‌का प्रहसन करना मानो अपनी मायासे गीता-शास्त्रके समाप्त पर्य्यन्त युद्धका रोक रखना है ।

× आर्षत्वात् वर्त्तमानेऽपि लङ् लकारस्य प्रयोगः ' छान्दसेन तिङ् व्यत्यये नानुशोचसीति वर्त्तमानत्वम् व्याख्येयम ।

अनु –पुनरर्थे इति मुग्धबोधटीकायाम् दुर्गादासः ।

– नरके नियतं वास । पतन्ति पितरोह्येषामित्यादीन् वादान् प्रज्ञावादान् ।
प्रज्ञावादान् (प्रज्ञा+अवादान्) पण्डितानां वक्तुमयोग्यान् शब्दान् (तार्किकव्याख्यानम्)
(प्रज्ञा+आवादान्) प्रज्ञैः सम्यक्प्रकारेण वक्तुं योग्यान्
(प्रज्ञा+ वादान्) प्रज्ञया वादाः तान् प्रज्ञावादान् ।

नानि । परिडतानां वक्तुं योग्यान् शब्दान् । प्रज्ञैर्वक्तुमयोग्यान् शब्दान्) भाषसे (वदसि) परिडताः (विवेकिनः । विचारजन्यात्मतत्वज्ञानवन्तः) गतासून् (गता असवः प्राणा येषां तान् गतप्राणान्) च (तथा) अगतासून (जीवतः) न (नहि) अनुशोचन्ति (शोकं कुर्वन्ति) ॥ ११ ॥

पदार्थः--(श्रीभगवानुवाच) श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनके प्रति बोले, कि (त्वम् !) हे अर्जुन ! तू (अशोच्यान्) जो लोग शोचने योग्य नहीं हैं उनको (अन्वशोचः) वार-वार शोचता है और (प्रज्ञावादान) बुद्धिमान्, ज्ञानी जिस बातको नहीं बोलते ऐसी बातों को (भाषसे) बोलता है ? अथवा यों अर्थ कर लीजिये, कि विना शोचका शोच भी करता है (च) और फिर (प्रज्ञ+आवादान्) बुद्धिमानों और ज्ञानियोंकी ऐसी बातें भी कररहा है तथा प्रज्ञा+वादान् बुद्धि भरी बातोंको भी बोल रहा है सो तू इनका शोच मत कर! क्योंकि (गतासून्) जिन लोगोंके प्राणगत होगये हैं तथा जो लोग (अगतासून्) प्राण रहित नहीं हुए हैं, जीवित हैं, उन दोनों प्रकार के प्राणियोंके लिये (परिडताः) परिडत लोग (न अनुशोचन्ति) वारवार शोच नहीं करते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थः- अर्जुनको इस प्रकार शोक मोहसे ग्रस्त देखकर श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति बडे प्रेमसे मुसकराते हुए बोले, कि हे अर्जुन ! [अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्चभाषसे] तू नहीं शोच करने योग्य जीवोंका शोच करता है। फिर ज्ञानियोके समान बातेंभी करता है । मुझको तेरी बात सुनकर आश्चर्य्य होता है। क्योंकि

तू कभी तो महा अज्ञानियोंके समान बातें करता है और कभी बडे बडे ज्ञानियोंके सदृश धर्म्माधर्म्मका विचार भी करने लगजाता है। देख ! तू जो बार-बार कहता है, कि "स्वजनंहि कथं हत्वा सुखिनः स्याम" (अ० १ श्लो० ३६) अर्थात् अपने सम्बन्धियोंको मारकर मैं कैसे सुखी होऊंगा तथा " यानेव हत्वा न जिजीविषामः " जिनको मारकर मैं जीवित नहीं रहूंगा। तेरे वचनोंसे प्रत्यक्ष जाना जाता है, कि अत्यंत साधारण जीवोंके समान तथा अज्ञानी पशु पक्षियोंके समान मरे हुओंका तू शोच करता है। यह तो एक *साधारण मोह है। जो सब जीवोंको दुखी करदेता है।पशु पक्षी इत्यादि भी अपने बच्चोंके मरजानेसे बहुत ही दुखी होते हैं। अन्न पानी छोड देते हैं। तथा बहुत सी स्त्रियां छाती पीट-पीट कर प्राण देनेको तत्पर होजाती हैं। क्योंकि वे अत्यन्त अज्ञानी होती हैं। सो हे अर्जुन ! इस समय तू ठीक इनही अज्ञानी स्त्रियोंके समान मोह ग्रस्त होकर अनुचित बातें कररहा है। यह तेरा सामान्य जीवोंके समान साधारण मोह है। फिर युद्ध जो क्षत्रियोंका परम धर्म है उसमें हिंसाका दोष दिखलाकर जो तू युद्ध नहीं करना चाहता है यह तेरा असाधारण मोह है। करुणा और दयासे लिप्त होनेके कारण यह मोह तुझहीमें उत्पन्न हुआ है। विचार तो सही ! कि इतने बडे-बडे बुद्धिमान् जो भीष्म द्रोणके सदृश वीर हैं जिनके महत्वको तू अपने मुंहसे वर्णन कर रहा है, युद्ध करने को उपस्थित हैं। पर किसीके हृदयमें ऐसी बात नहीं आई न किसीके हृदयमें ऐसा शोक उत्पन्न हुआ। इससे प्रत्यक्ष जानपडता है, कि तू धर्म्माधर्मको न समझकर अपने

* मोह दो प्रकारका है— साधारण और असाधारण।

स्वभावको भूलकर यों कहता है, कि " **कथं भीष्ममहं संख्ये** " मैं भीष्म द्रोण ऐसे गुरुओंके साथ कैसे युद्ध करूंगा। यदि यह तेरा कहना उचित होता तो उधरसे वे लोग भी तो यही कहते, कि हम लोग अपने पौत्र तथा शिष्य युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन इत्यादिके साथ कैसे युद्ध करेंगे। सो वे लोग तो ऐसा मोह करते नहीं। इसलिये यह मोह केवल तुझहीमें होनेसे असाधारण है। मैं देखता हूं, कि तू दोनों प्रकारके मोहसे जकड गया है। जैसे किसी प्राणीको मुशकों से बांध लेते हैं तो वह इधर उधर हिलता नहीं इसी प्रकार इस मोह और शोकने तेरी मुशकें बांधली हैं। तेरे बचनोंसे जान पडता है, कि तूने अपनेको संसारका मारनेवाला और जिलानेवाला समझ लिया है। क्या तूही एक है जो सबोंको मारेगा और तेरेही मारनेसे सब मरजावेंगे ? जो तू नहीं मारेगा तो क्या ये सब सदाके लिये जीवित रहेंगे ? यह त्रिभुवन क्या तेरे ही आश्रयसे चलरहा है ? तेरी बातोंसे ऐसा बोध होता है, कि मानो जन्म मरण तूहीने उत्पन्न किया है। जैसे जन्मान्धको पागलपनेका रोग होजावे तो निरर्थक इधर उधर फिरा करता है। ऐसीही तेरी दशा देखकर मुझे आश्चर्य्य होता है और हंसीभी आती है। इसका कारण क्या है ? तेरा अपने देहमें अहंकार होना और मुझे तेरे झगडेमें पडजाना। फिर तू "प्रज्ञावादान्" बडे-बडे ज्ञानी पुरुषों के समान "लुप्तपिण्डोदक क्रिया" "नरके नित्यं वासः" इत्यादि शास्त्रीय वचनोंको भी बोलता है। पर यथार्थमें तू ज्ञानी नहीं है। केवल ज्ञानियोंके समान बातें करता है। हां ! केवल तेरी दो बातें मुझे अच्छी लगीं। वे ये हैं, कि

" शिष्यस्तेऽहं" "यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे" मैं शिष्य हूं और मुझे मेरा यथार्थ श्रेय बतलादो ।. सो हे अर्जुन! देख ! मैं तुझे समझाता हूं ! तू एकाग्रचित्त होजा ! मेरी बातोंकी ओर ध्यान दे ! तूने अपना ऐकान्तिक और आत्यन्तिक श्रेय मुझसे पूछाभी है। इस- लिये मैं तुझको पूर्णप्रकार तेरे कल्याण निमित्त तत्वज्ञान उपदेश करता हूं सुन! एकाग्रचित्त होजा !

अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! [**गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः**] असु कहते हैं प्राणको । इसलिये जिन प्राणियोंके देहसे प्राण निकल जाता है उनको "गतासून् " अर्थात् मृतक कहते हैं और जिनके देहसे प्राण गत नहीं होता उनको "अगता- सून् अर्थात् जीवित कहते हैं । तात्पर्य्य यह है, कि जो मरगये और जो जीवित हैं, इनका शोच पण्डित लोग नहीं करते । क्योंकि मृत्यु तो जीवोंके देहके साथ-साथ उत्पन्न होती है प्रमाण—"मृत्युर्जन्मवतां वीर ! देहेन सह जायते । अद्य वाऽब्दशतांते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवं " [श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अध्या० १ श्लो० ३८] श्रीवसुदेवजी कंसको देवकीके मारनेके समय समझातेहैं, कि हे वीर ? जन्म लेनेवालोंके साथही-साथ उनकी मृत्यु उत्पन्न होती है । आज, चाहे सौ वर्षके पश्चात प्राणियोंका मृत्युको प्राप्त होना निश्चय है ।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं, कि हे अर्जुन ! बुद्धिमानोंको किसीके मरने जीनेका शोक नहीं होता। क्योंकि यह पांचभौतिक देह जड और नश्वर है । आत्मा जो इसके संग विहार करता है वह

चैतन्य और अविनाशी है। देहके नष्ट हुए आत्मा नष्ट नहीं होता जैसे घटके फूटजानेसे उसके भीतरका घटाकाश नाश नहीं होता है। हां! इतना तो अवश्य है, कि इस जड देहको चैतन्य आत्माके साथ ग्रन्थि पडगई है सो गांठ केवल देखने मात्र है यथार्थ में नहीं है। " असु " जो प्राण है यही आत्मा और देहको एकसंग करलेता है और यही प्राण जब तक इस शरीर में वर्त्तमान है तबतक प्राणियोंकी आयु स्थिर रहती है। प्रिय पाठको! भगवान्‌का यह वचन छान्दोग्योपनिषद्‌की श्रुतिसे भी सिद्ध होता है "प्राणं देवाः अनुप्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणोहि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति" अर्थात् (देवाः) अग्नि, मित्र, वरुण, इन्द्रादि सब प्राणहीसे श्वासोच्छ्वास करते हुए जीवित रहते हैं। तथा जितने मनुष्य और पशु इत्यादि हैं सब प्राणहीसे वर्त्तमान रहते हैं। प्राणही "भूतानामायुः" सब जीवोंकी आयु है। इसलिये इस प्राणको " सर्वायुष " सबोंकी आयु कहते हैं। यही प्राण गर्भमें सब इन्द्रियोंसे पहले प्रवेश करताहै। इसीसे अन्य सब इन्द्रियोंकी अपेक्षा इसको ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहते हैं श्रुतिः— "प्राणोवावज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च"। (छान्दोग्य० उत्तराधं प्रपाठक ५ अ० १ में देखो) इसीकारण साधारण पुरुष इसी प्राणके निकल जानेका शोक करतेहैं, जो ज्ञानी हैं वह इसके रहने वा जानेका कुछ भी शोच नहीं करते। प्राणियोंका देह मध्यमें बनता और विनशता रहता है। आत्मा तो सदा सर्वदा एक रस ज्योंका त्यों रहता है। इसलिये इसका शोच करना निरर्थक है।

प्रिय पाठको ! यथार्थमें गीता-शास्त्र इसी श्लोकसे आरंभ होता है। मैं पहलेही कह आया हूं, कि अर्जुन नरनारायणके अवतारमें है। इसकारण संसारके कल्याण निमित्त इस गीता-शास्त्रके प्रकट करानेके तात्पर्य्यसे अपनेको महा अज्ञानीके समान शोक मोहसे ग्रस्त देखलाया है। तहां प्रथम अध्यायके दूसरे श्लोक "दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्" से दूसरे अध्याय के नवें श्लोक "न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह" तक अर्जुनने विषादादिके मिससे यह बात देखलायी, कि इस संसारमें दुःखका बीज केवल शोक और मोह है। तिस शोक और मोहका कारण अहंकार है। क्योंकि इस नश्वर देहमें अहंकार होनेहीसे मैं और तू तथा मेरे और तेरेका बोध उत्पन्न होता है। तिस अहंकारका कारण अविद्या है। सो अर्जुनने भगवान्को अविद्याका स्वरूप देखलाकर तिसे नाश करनेकी प्रार्थनाकी। क्योंकि सकल शास्त्रमें प्रवीण जो महाबुद्धिमान् और विवेकी अर्जुन यदि सचमुच हृदयसे क्षत्रिय धर्म्मका तिरस्कार करता तो जिस समय राजा विराटके यहां गउओंके छीन जानेके युद्धमें इनही द्रोण भीष्मको पानी पानी करडाला था उसीसमय इसका यह शोक उत्पन्न होता और युद्ध करना छोड भागता हुआ इनही वीरोंके हाथोंसे माराजाता। पर वहां रथपर तो श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र नहीं थे इस कारण शोक मोह देखलाकर क्या करता? वहां कौन इसे उपदेश करता? इस कारण वहां इसने क्षत्रिय धर्म्म पालनकर इन भीष्म, द्रोण, दुर्य्योधन और दुःशासन इत्यादि वीरोंसे घोर युद्ध किया। सबोंको जीतकर विराटकी गउओंको भी लौटा लाया और कौरव वीरोंके वस्त्रभी छीन लाया।

इससे सिद्ध होता है, कि अर्जुन संसारके उपकार निमित्त अज्ञानता स्वीकारकर भगवत मुखारविन्दसे गीता-शास्त्रका आरंभ करवा रहा है।

ज्ञानी होनेके लिये तथा ज्ञानतत्वको पूर्णरूपसे जाननेके लिये प्रथम यह जानना उचित है, कि देह और आत्मा दोनों एक नहीं हैं। देहके नष्ट हुए आत्मा नष्ट नहीं होता। इसीकारण भगवान्‌ने सबसे पहले "**गतासूनगतासूंश्च**" अपने मुख सरोजसे उच्चारण कर गीता शास्त्रका नेव डाल दिया है। अब भगवान् "अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्" से लेकर "**स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि**" तक जो २० श्लोक हैं इनमें आत्मज्ञानका तत्व वर्णन करेंगे अर्थात् सांख्य तत्त्वका कथन करेंगे फिर योग अर्थात् निष्काम कर्मका आरम्भ कर छठवें अध्याय तक कर्मकाण्डका निरूपण करेंगे ॥ ११ ॥

मू०—नत्वेवाहं जातु नासम् न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

पदच्छेदः— [इतः पूर्वम्] अहम् (वासुदेवः) जातु (कदाचित्) न आसम् ?(अवर्तें? अभवम् ?) [इति] तु न एव त्वम् न [आसीः] [इति] न इमे जनाधिपाः (संग्रामभूमाववस्थिताः राजानः) न [आसन्] [इति] न अतः (अस्मात्) परम् (उत्तरकाले) वयम (त्वमहमिमे च) सर्वे (अखिलाः) न भविष्यामः ? (स्थास्यामः?) [इति] च न एव ॥ १२ ॥

पदार्थः—इस समयसे पहले क्या (अहम) मैं (जातु) कदाचित् (न आसम?) नहीं था ? (तु न एव) ऐसा तू मत

कह !(त्वम्) क्या तू (न) नहीं था ? (न) ऐसा मत कह ! क्या (इमे) ये (जनाधिपाः) राजालोग (न) नहीं थे ? (न) ऐसा भी मत कह! क्या (अतः) इस समयसे (परम्) आगे भविष्यत् कालमें (वयम्) हम तुम और ये राजा लोग (सर्वे) सबके सब क्या निश्चयकर (न) नहीं (भविष्यामः ?) होंगे ? (च न एव) ऐसा भी मत कह ! किन्तु ऐसा कह ! कि हम तुम और ये राजालोग सबकेसब पहले भी थे, अबभी हैं, और आगे भी होंगे ॥ १२॥

भावार्थः--श्री सच्चिदानन्द कृष्णचन्द्रने जो पूर्वश्लोकमें अर्जुन को समझाया है, कि जो ज्ञानी पुरुष है वह मरने जीने वालोंका शोच कुछ भी नहीं करता। इसलिये हे अर्जुन! तू इन अपने गुरुजनों तथा बन्धुवर्गोंके मारेजानेका शोच मतकर? इसी विषयको अधिक पुष्ट करनेके लिये इस श्लोकमें आत्माकी नित्यता दिखाते हुए भगवान् कहते हैं, कि [न त्वेवाऽहं जातु नासम् न त्वं नेमे जनाधिपाः] हे अर्जुन! तू तो सर्वशास्त्रवेत्ता परिडत है। भला अपने मनमें यह तो विचार कर ! कि इससे पहले जो असंख्य काल बीतगया है उसमें क्या मैंने इसी प्रकार अवतार लेकर नाना प्रकारकी लीलायें नहीं की थीं ? अवश्य की थीं ! क्या तू जो इस समय अर्जुन कहला रहा है कभी किसी अन्य शरीर में नहीं था ? अवश्य था । क्या ये राजा लोग जो युद्धमें उपस्थित हैं पहले नहीं हुए थे ! अवश्य किसी न किसी शरीरमें थे। हे अर्जुन ! तू निश्चय कर जान ! कि हम तुम और ये जितने नरेश इस रणभूमिमें उपस्थित हैं आत्माके नित्य होनेके कारण पहले भी थे अब भी वर्त्तमान हैं और आगे भी होंगे। क्या तू यह

नहीं जानता, कि [न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्] इससे आगे भविष्यत् कालमें मैं, तू और ये सबके-सब नरेश नहीं होंगे? अवश्य होंगे! भगवान्के कहनेका यह अभिप्राय है, कि इससे पहले त्रेतामें मैं रामरूप होकर प्रगट हुआ था। आगे भी कल्कि रूप होकर प्रकट होऊंगा। इसी प्रकार तू और ये सब नरेश पहले किसी न किसी शरीरमें थे और आगे भी किसी न किसी शरीरमें उत्पन्न होंगे। केवल यह देह सदा पंचभूतोंके मेलसे बनता, बिनशता रहता है। इस देहके उत्पन्न होने व नाश होनेसे आत्मा नहीं जन्मता वा मरता है। यह आत्मा नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त है। यह केवल शरीरोंका साक्षीभूत रहता है। ज्योंही यह शरीर बना, आत्मा उसका साक्षी बनगया क्योंकि यह आत्मा सर्वव्यापक और विभु है। एक है। सब देहोंका साक्षीभूत है। तीनों कालमें एक रस है।

शंका—"देहात्मेतिचारवाका इन्द्रियाण्यपरेचते।"(आत्मप्रकाशे)

अर्थ— आत्मप्रकाश नामक ग्रन्थमें लिखा है, कि चारवाकादि इस देहको तथा इनमें अनेक नास्तिक दसों इन्द्रियोंको आत्मा मानते हैं और कहते हैं, कि देहही आत्मा है। क्योंकि देह न हो तो कोई चेष्टा नहीं होसकती। चलना, बोलना, सुनना, देखना यह सब देहका ही धर्म है। क्योंकि प्रत्येक देहधारी यही बोलता है, कि मैं चलता हूं, आता हूं, बैठता हूं और सोता हूं। जब कोई देह आगमें जलने लगता है तो यह नहीं कहता है, कि आत्मा जलरहा है जलने दो। सब ऐसे ही पुकारते हैं कि बचाओ! बचाओ! मैं जला! इसलिये शरीर ही मुख्य है। इसी को आत्मा क्यों न कहें?

समाधान—यह शंका अयोग्य है। क्योंकि यदि देह और इन्द्रियां ही चैतन्य आत्मा होतीं तो सब क्रियाओंके कारण भी यही होतीं पर ऐसा नहीं देखाजाता। देखो! जिस समय आत्मा इस शरीरमें चेष्टा करना छोड़देता है उस समय यह शरीर न देखता है, न सुनता है न बोलता है और न दुख सुखका अनुभव करता है। इससे सिद्ध होता है कि यह देह आत्मा नहीं है। आत्माके निष्पन्द होजानेसे मृतक शरीरको जब चितासे बांधते हैं तब यह नहीं बोलता, कि मुझे क्यों बांधते हो? फिर जब इसको चितामें भस्म करते हैं तबभी यह नहीं चिल्लाता, कि हा! मैं जला! मैं भस्म हुआ! मुझे बचाओ! बचाओ! इससे सिद्ध होता है, कि शरीर जड़ है। इसलिये मन, बुद्धि तथा आंख, नाक, कान इत्यादिको अपने-अपने कार्य्योंमें प्रेरणा करनेवाला यह जड़ देह नहीं है वह चैतन्य आत्मा है। केनोपनिषद्की श्रुतियां कहती हैं, कि "केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्रथमः प्राणः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति। चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति" (केनोपनिषद् खण्ड १ श्रु० १) अर्थ— किसके इच्छा किया हुआ तथा किसके प्रेरणा किया हुआ मन संसारकी ओर पतन होता है? किसकी शक्ति पाकर यह प्राण जो * प्रथम कहाजाता है इस शरीरमें किसके साथ प्रेरित होकर भिन्न-भिन्न कर्मोंमें प्रवृत्त होता है? तथा किसके इच्छा कीहुई वाणियोंको प्राणी-मात्र बोलते हैं? फिर चक्षु और श्रोत्रको कौन देव देखने और सुननेकी प्रेरणा करता है। तहां

* प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान इन पांचोंमें प्राण ही सबका ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहाजाता है क्योंकि इसके रहते गर्भके शिशुमें यही प्रवेश करता है इसलिये इसको यहां प्रथम कहा है

इन प्रश्नोंका उत्तर दूसरी श्रुति इसप्रकार देती है, कि–"ॐ श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसोमनो यद्वाचोहवाचं स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्च-चक्षुः। अर्थात् केवल यह आत्मा है जो कानका भी कान है, मनका भी मन है, वचनका भी वचन है, प्राणका भी प्राण है और नेत्रका भी नेत्र है। तात्पर्य्य यह है, कि केवल यह आत्मा ही मन, प्राण, चक्षु इत्यादिको चैतन्य करनेका कारण है। इस जड़ शरीर तथा इन इन्द्रि-योंकी अपनी शक्ति कुछ भी नहीं है। जैसे इस श्रोत्र इन्द्रियका अधि-ष्ठातृदेव श्रोत्रस्थ कहलाता है उस श्रोत्रस्थको भी जो शब्दादि विषय के अनुभव करनेका प्रकाश प्रदान करता है वही आत्मा है। इसी प्रकार इस आत्माको सब इन्द्रियोंका प्रेरक जानना। इसी अभिप्रायसे भग-वान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हम तुम और ये राजा आत्मा करके नित्य शुद्ध बुद्ध और मुक्त हैं और यह शरीर इन्द्रियोंके साथ जड़ है। जो इस आत्मासे ही प्रकाशित होता है। जैसे एक लालटैन (प्रच्छन्न दीप वा आवृत-दीपिका) दस पार्श्व वाला अर्थात् दश पहलका है जिसकी दशों ओर नीले पीले इत्यादि दश रंगके काच लगे हैं जिन के द्वारा दशों ओर दश रंगके प्रकाश निकल रहे हैं। यदि उसके भीतर का दीपक बुतादो तो दशों ओर अँधियाली छाजावेगी। इसी प्रकार इस शरीरको दशपहला लालटैन समझो, जिसमें दश प्रकारके काचके स्वरूपमें दशों इन्द्रियां लगीहुई हैं और आत्मा इसके भीतरे बाहर सर्वत्र दीपकके सदृश प्रकाश कररहा है, जिसकी शक्ति पाकर सब इन्द्रियां चैतन्य होरही हैं। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! तू इसी प्रकार इस आत्माको देहका प्रेरक और नित्य जान! यह मरेता

जीता नहीं। इस कारण पण्डित और ज्ञानी जन इसका शोच नहीं करते। हमारा तुम्हारा और इन सबोंका आत्मा जो एक है नित्य है और अविनाशी है।

शंका—जब सब शरीरमें आत्मा एक है और शरीर जड़ है तो क्या कारण है? कि सबोंको एक समान दुख सुखका भान नहीं होता? ज्वर लगता तो सब मनुष्योंको एकही बार लगजाता अर्थात् एक प्राणी रोगग्रस्त होता तो प्राणी-मात्र रोगग्रस्त होजाते। ऐसा क्यों नहीं होता?

समाधान—इस विचित्रताका कारण केवल पूर्वजन्मके कर्म हैं। "सुख दुःखादिवैचित्र्यं प्राक्कर्म्मवैचित्र्यादनुमेयम्"। अर्थ—सुख दुखकी विचित्रता पूर्वजन्मार्जित कर्म्मोंकी विचित्रतासे अनुमान करने योग्य है। यदि कहो कि पूर्व-जन्ममें कर्म्मोंकी विचित्रता क्यों हुई? तो इसका कारण कथनमें नहीं आसकता क्योंकि "बीजांकुर न्यायेन कर्म्मतज्जन्य संस्कारपरम्परया अनादि संसार इति।" जैसे कोई इसका न्याय नहीं कर सक्ता, कि पहले बीज है, कि अंकुर है। इसी प्रकार शरीर और कर्म्मका भी न्याय नहीं होसक्ता, कि पहले कर्म्म है वा शरीर है। इसी कारण संसारको अनादि कहना पडता है। और यह भी कहना पडता है, कि (न देहनाशात आत्मनाशोऽस्तीति) "इति शास्त्र वचनात्" अर्थ—शास्त्रोंसे यह सिद्ध है, कि देहके नाश हुए आत्माका नाश नहीं होता। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि आत्मा नित्य है आत्माका नाश नहीं होता इसलिये युद्ध करनेसे हे अर्जुन! आत्माका नाश नहीं होगा। तू अपनेको मिथ्या शरीराभिमानके कारण इनका नाश करनेवाला मत समझ ॥ १२ ॥

अब मरने जीनेका शोच नहीं करना इस विषयको साधारण उदाहरणसे भगवान् अर्जुनको समझाते हुए कहते हैं ।

मू०—देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

पदच्छेदः—यथा (येन प्रकारेण) देहिनः (देहाभिमानिनः जीवस्य।) अस्मिन् देहे (स्थूलदेहे) कौमारम् (बाल्यावस्था) यौवनम् (तारुण्यम् यूनोभावः । मध्यावस्था।) जरा (जीर्णावस्था। वृद्धावस्था ।) [भवन्ति] तथा (तद्वदेव) देहान्तरप्राप्तिः (एतस्माद्देहादत्यन्तविलक्षण देह प्राप्तिः ।) [भवति] तत्र (तयोर्देहनाशोत्पत्योः) धीरः (धीमान् ।) न (नहि) मुह्यति (मोहमापद्यते आत्मैव मृतोजातश्चेति न मन्यते ।) ॥ १३ ॥

पदार्थः—(यथा) जैसे (अस्मिन्) इस (देहे) देहमें (देहिनः) देहधारीको (कौमारं) कुमार अवस्था (यौवनं) युवाअवस्था तथा (जरा) वृद्ध अवस्थाकी प्राप्ति एक दूसरेके पश्चात् होती रहती है (तथा) ऐसेही (देहान्तर प्राप्तिः) देहान्तरकी प्राप्ति अर्थात् मरनेके पीछे दूसरे देहकी प्राप्तिको भी जानकर (धीरः) बुद्धिमान् (तत्र) देहके नाश होने वा उत्पन्न होनेमें (न मुह्यति) मोहको नहीं प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

भावार्थः—श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दने जो पूर्व श्लोकमें आत्मा की नित्यता दिखलायी है उसीको अधिक दृढ करनेके तात्पर्य्यसे एक सुयोग्य दृष्टान्त देकर अर्जुनके प्रति कहते हैं, [देहिनोऽस्मिन्-

यथादेहे कौमारं यौवनं जरा । तथा देहान्तर प्राप्तिः ।]
देहधारीके इस देहमें बाल्य, यौवन और वृद्धता इन तीनों अवस्थाओं की प्राप्ति जैसे एक दूसरेके पश्चात् होती रहती है इसी प्रकार दूसरे देहकी प्राप्ति भी जाननी चाहिये । जैसे इन अवस्थाओंके बदलजाने पर कोई रोता पीटता नहीं है ऐसेही दूसरे देहके बदलजाने पर भी शोक करना निरर्थक है ।

संसार-मण्डलमें जो चौरासी लक्ष योनियोंका देह धारण करे उसे कहिये देही । यहां बहुवचनका प्रयोग न करके एक वचन कहनेका तात्पर्य यह है, कि एकही आत्मा विभु है, जो देहको धारण करता-रहता है, दश बीस नहीं हैं । पर जब-जब जहां-जहां परमाणुओंके मेलसे पांचभौतिक शरीरकी उत्पत्ति होती है तहां-तहां यह उसका साक्षी-भूत होकर मन बुद्धि इत्यादि अन्तःकरण और चक्षु श्रवण इत्यादि बहिष्करणको अपने-अपने विषयकी ओर प्रवृत्त होनेको समर्थ बनाता है और देखने मात्र तदाकार बनता रहता है । जैसे किसी सागरमें घट डालनेसे जल घटाकार, जलपात्र डालनेसे पात्राकार बनजाता है, पर वह यथार्थ स्वयं न घटाकार है न जलपात्राकार है । वहतो सर्वत्र एक रस ऊपरसे नीचे तक फैलाहुआ है । जैसी-जैसी उपाधि उसमें आपहुंचती हैं तैसे-तैसे आकारमें वह जल भासने लगता है । इसी प्रकार आत्मा एकही है । सर्वत्र व्यापक है । पूर्व संस्कारानुसार परमाणु-ओंके मेलसे जब जहां जैसे शरीरसे सम्बन्ध पाता है तदाकार भासने लगता है । अर्थात् वानरके शरीरमें साक्षीभूत होनेसे वृक्षकी डालियों पर उछलने लगता है । मछलीके देहमें साक्षीभूत होनेसे गम्भीर जलमें

तैरने लगता है। वानर अथवा मछली इन दोनोंके शरीरमें केवल पूर्व संस्कारके भेदसे परमाणुओंके मेलकी भिन्नता हुई है पर, आत्मा तो दोनोंमें एकही है। श्रु० अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ (कठोप० अध्या० २ वल्ली २ श्रु० ६) अर्थ-- आग जैसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें एकही है पर इस संसारमें प्रवेशकर भिन्न-भिन्न काष्ठोंमें भिन्न भिन्न आकारकी देख पडती है। अर्थात् गोल काष्ठमें गोलाकार त्रिकोण काष्ठमें त्रिकोणाकार इत्यादि बनजाती है। इसी-प्रकार यह आत्मा देहों के भिन्न-भिन्न आकारोंमें तदाकार बनजाता है। इसीसे भगवान कहते हैं, कि इस देहीके देहमें जैसे बाल्य अवस्था बीतने पर युवा अवस्था आती है, फिर युवा अवस्था बीतजानेपर वृद्धावस्था पहुंच जाती है और देहकी चाल, ढाल, रूप, रंगमें विलक्षणता होजाती है। जिसे बाल्यावस्थामें देखा था उसे एकाएक जब वृद्धावस्थामें देखिये तो शीघ्र पहचान नहीं सकते हैं। इससे सिद्ध होता है, कि प्रत्येक अवस्थामें शरीरके स्वरूपका बहुत कुछ परिवर्त्तन होही जाता है। अभिप्राय यह है, कि तीनों अवस्थाओंमें देहका रूपान्तर होही जाता है। पर आत्मा तो एकही समान रहता है। उसमें रूपान्तर कुछभी नहीं होता। एक रस रहता है। घटता बढता नहीं है। बदलता नहीं है। इसीप्रकार मृतक होनें पर केवल देहका रूपान्तर होता है अर्थात् संसार मण्डलवर्त्ती जितनें देह हैं उनमें एकको छोड दूसरेको धारण करता है, पर आत्मा एकही रहता है। भगवान्के कहनेका अभिप्राय यह है, कि जैसे काशीमें शयन करनेवाला देह स्वप्नमें दूसरा देह धारण कर इधर उधर फिरता

है, जागने पर कहता है, कि मैं पक्षी बनकर उडा और मथुरासे होआया। तिस मथुरासे होआने वाला कोई दूसरा देह नहीं है वही देह रूपान्तरको प्राप्त कर उसी एक आत्माके साथ मथुरासे होआया है। उसी अपने शरीरको उसने सर्वत्र देखा है। यदि कोई विलक्षण देह भी देहीको स्वप्नमें प्राप्त होता है तो भी वह अपनेको वही समझता है जो जाग्रत् अवस्थामें अपनेको जानता था। इसी प्रकार आत्मा तो सब देहोंमें सब ठौर एक रस है। देहकी भिन्नतासे आत्मामें भेद नहीं होता।

शंका—बाल्य, युवा और वृद्ध अवस्थाओंके आविर्भावमें तथा स्वप्न में जो इस देहसे विलक्षण कोई देह प्राप्त होजाता है उसमें तो अपने स्वरूपकी स्मृति रहती है, कि मैं वही देवदत्त हूं, पर मरनेके पश्चात जो दूसरा शरीर धारण करता है उसमेंतो प्रथम शरीरकी स्मृति कुछभी नहीं रहती है। इसलिये बाल्य, युवा इत्यादि अवस्थाके रूपान्तर वाले शरीरसे मृत्युके पश्चात प्राप्त होनेवाले नवीन शरीरकी समता वा उपमा कैसे होसकती है? भगवानने ऐसी उपमा क्यों दी?

समाधान—शरीरान्तरमें भी पूर्वकी स्मृति तो अवश्य बनी रहती है, पर इतना भेद है, कि वह स्मृति अन्तःकरणके साथ लय होकर स्वभाव बनजाती है, जिसे प्रकृति कहते हैं। जब संचितकी प्रेरणासे प्राणीको फिर उसी प्रकारका शरीर आगे किसी जन्ममें मिलता है तो वह उसकी स्मृति जगपडती है अर्थात पूर्व स्वभावके सदृशही चेष्टा करने लगता है। जैसे सिंहका बच्चा गर्भसे बाहर आतेही विना किसी प्रकारकी शिक्षाके अन्य जीवोंके मांसको अपने नखसे विदार कर खाने

लगजाता है। क्योंकि पहले वह किसी समय सिंहके शरीरमें था। इसी प्रकार मनुष्यका बच्चा गर्भसे बाहरे आतेही रोने लगजाता है, अन्य किसी पशु पत्तीका बच्चा रोता नहीं। मकरे विना किसी प्रकारकी शिक्षाके जाल बुनने लगजाते है, जो किसी अन्य कीटसे नहीं होसक्ता। इन दृष्टान्तोंसे सिद्ध होता है, कि आत्मा सब शरीरोंमें एकही है। दर्पणके सदृश जब जौन शरीर इसके सम्मुख आया, पूर्व जन्यार्ज्जित संस्कारके अभिज्ञान प्राप्त होनेसे तदाकार स्वरूप बनगया और अपनी प्रकृति अनुसार चेष्टा करने लगगया। यह पूर्वजन्मके शरीरकी स्मृति नहीं तो क्या है ?

मुख्य अभिप्राय यह है, कि पहले शरीरके छोडनेके समय प्राणियों को गम्भीरे मूर्च्छा आती है और संचित कर्मकी प्रेरणासे जब यह दूसरा शरीर पूर्व शरीरके अनुरूप पाता है तब इसे प्रत्यभिज्ञान प्राप्त होता है जिसके द्वारा उद्बुद्ध होता है अर्थात् होशमें आता है। होश में आतेही पूर्व जन्मार्जित संस्कार जग पडते हैं जिनके अनुसार इस शरीरमें पूर्ववत् चेष्टा करने लगजाता है। यह पूर्वजन्मार्ज्जित शरीरकी स्मृतिका प्रभाव नही है तो क्या है ? इसी स्मृतिके प्रभावसे संस्कारों का उदय होता है। तिस संस्कारके तीन भेद हैं-१. वेगाख्यसंस्कार। २. स्थितिस्थापक-संस्कार। ३. भावनाख्य-संस्कार। इनमें वेगाख्य-संस्कार उसे कहते हैं जो अत्यन्त शीघ्रताके साथ रूपान्तरको प्राप्त करे-जैसे कुलाल किसी घटके बनानेके समय प्रथम कपाल (घटकी पेंदी) बनाता है फिर झट उससे घटका आकार बन लेत है। २. स्थितिस्थापक-संस्कार-उसे कहते हैं जिसके द्वारा कोई वस्तु तस्तु

अपने स्थानसे हटकर फिर शीघ्रताके साथ अपने उसी स्थान पर स्थित होजावे । जैसे किसी वृक्षके डालको किसी वानरने खैंचकर नीचेकी ओर झुकादिया और जब उसे छोडदिया तो वह झट अपने पूर्वस्थान पर जापहुंचा । इसी प्रकार रबडके टुकडोंको खींचो तो छोडनेके पश्चात् फिर ज्योंका त्यों होजाता है । इसका कारण स्थितिस्थापक-संस्कार है । ३. भावनाख्य संस्कार + उसे कहते हैं जो एक किसी स्थानमें जीवोंको अपनी वृत्तिकी दृढता होजानेसे तदनुसार ही अपने स्वरूपका निश्चय होजावे । यहां तक कि वृत्तिके अनुसार ही देह बनजावे। जैसे झींगर नामक कीटको भृंगीके ध्यानमें वृत्तिकी जब दृढता होती है तब वह भृंगी बनजाता है । प्राणीको एक शरीर छोड दूसरे शरीरमें जाते हुए इन तीनों संस्कारोंका सम्बन्ध रहता है ।

स्थितिस्थापक-संस्कारके बलसे जिन पंचभूतोंके मेल द्वारा पहले शरीर बना था फिर उन्हीं पंचभूतोंमें जाकर स्थिर होजाता है और अन्तःकरण पर अविद्याके आवरण पडनेसे पिछले शरीरोंको वेगाख्यसंस्कारके कारण भूलजाता है । क्योंकि कालके विस्तारके कारण ये चौरासी लक्ष योनियां इतनी शीघ्रताके साथ बदलतीजाती हैं, कि वेगाख्य-संस्कार द्वारा पूर्वके सब शरीर भूलते चलेजाते हैं । जैसे कोई पुरुष किसी बहुत ही वेगसे जानेवाले अश्व पर आरूढ होकर अश्वको पूर्ण वेगमें हांकदेवे तो वेगाख्य-सस्कारके कारण उसे अपने दायें बायें

+ भावनाख्यस्तु सस्कारो जीववृत्तिरतीन्द्रियः । उपेक्षानात्मक तस्य निश्चय कारणं भवेत। स्मरणे प्रत्यभिज्ञायामप्यसौ हेतुरुच्यते । धर्माधर्मावदृष्टंस्याद्धर्मः स्वर्गादिसाधनम॥ (भाषा परिच्छेद श्लोक १६०, १६१.)

के वृक्षोंके यथार्थ रूपका कुछभी बोध नहीं होता, कि वह आम है, बरगद है, वा इमलीके* वृक्ष हैं। इसी वेगाख्य-संस्कारके कारण साधारण प्राणियोंको पूर्वजन्मोंके शरीरकी स्मृति होजाती है और अगली योनियोंमें पूर्वके शरीरकी स्मृति नहीं होती। पर जब यह एवम्प्रकार वेगाख्य-संस्कार द्वारा भागता हुआ अपने अन्तिम स्थान मनुष्ययोनि में पहुंचजाता है तब इसे योग वा ज्ञान तत्त्वकी प्राप्ति होनेसे भावनाख्य-संस्कार प्रकट होआता है, जिससे उसे अपने पूर्व शरीरोंकी स्मृति होनी सम्भव होती है। पर साधारण मनुष्यका अन्तःकरण माया-कृत मल विक्षेप इत्यादिसे मलीन रहता है इसलिये उसे पूर्व शरीरकी स्मृति नहीं होती। जैसे दर्पण मलीन होनेसे अपना मुख आप नहीं देखाजाता।

यहां तक कि इसी जन्मकी बातें कालके वेगमें भूलती जाती हैं। बचपनकी बातें तथा अपने बचपनका स्वरूप युवावस्थामें और युवावस्था की बातें और स्वरूप वृद्धावस्थामें क्रमशः भूलती चली जाती हैं तो पिछले शरीरके भूलनेमें आश्चर्य्यही क्या है ? पर जब गुरु द्वारा योग-विद्या तथा आत्मज्ञानकी प्राप्तिसे अन्तःकरणसे मल और विक्षेप दूर होजावेंगे तब उसेभी बोध होजावेगा, कि मैं पूर्वजन्ममें अमुक शरीरमें था। जिसे योगकी सिद्धि प्राप्त है उसे तो पशु पक्षीके शरीरमें भी पूर्वशरीरकी स्मृति होसकती है। देखो जडभरतकी ओर देखो! जब वह मृगाके स्नेहसे अपना पूर्व शरीर छोड मृगा होगये तो महानु-

* रेलगाडी पर चढनेवाले पथिकोंसे पूछ देखिये, कि वेगाख्यसंस्कारके कारण दायें बायें वृक्षोंके विषे वे क्या कहते हैं। वे अवश्य यही कहेंगे कि बहुत वेगसे चलनेके कारण किसी वृक्षके रूपका बोध नहीं होता।

भाव होनेके कारण मृगाके शरीरमें भी उनको अपने पूर्वशरीरकी स्मृति बनी रही । प्रमाण— तदानीमपिपार्श्ववर्त्तिनमात्मजमिवानु शोचन्तमभिवीक्षमाणो मृगएवाभिनिवेशितमना विसृज्य लोक- मिमं सह मृगेण कलेवरं मृतमनुनमृतजन्मानुस्मृतिरितरवन्मृग- शरीरमवाप । (श्रीमद्भागवत स्कन्ध ५ अध्या० ८ श्लो० २७) अर्थ— जडभरत पुत्रके समान अपने पाले हुए पार्श्ववर्त्ती मृगाके मरण का शोच करते हुए उसी मृगाके स्वरूपमें मनोवृत्तिके प्रवेश करजानेसे मृगाके साथ अपना शरीर छोड मृगाके शरीरको प्राप्त होगये, पर "मृतम- नुनमृतजन्मानुस्मृति " शरीरके मृतक होजानेसे जिनकी पूर्वजन्मकी स्मृति नहीं मरी अर्थात् मरनेपर भी जडभरतको स्मरण रहा, कि मैं पूर्वमें मनुष्य था । महानुभाव होनेके कारण पशुशरीरमें भी पूर्वजन्म की स्मृति वनी रही कि मैं मनुष्य था ।

पूर्व शरीरकी स्मृति हो वा न हो आत्मा नित्य होनेके कारण पूर्व वा पर शरीरमें सदा एकरस रहता है। इसका नाश नहीं होता, केवल कुमार, युवा और वृद्ध अवस्थाओंके समान शरीरान्तरमें इस देहके रूप रंग बदलजाते हैं । प्राणीका नाश नहीं होता । अब भगवान् कहते हैं, कि [धीरस्तत्र न मुह्यति] जो धीर पुरुष है अर्थात् ज्ञानी और तत्त्ववेत्ता है वह इस प्रकार मरने जीने वालेको देख मोह को प्राप्त नहीं होता । जैसे किसी नाटकके खेलमें एकही व्यक्ति कभी राजा, कभी प्रजा, कभी स्त्री, कभी पुरुष, कभी डरपोक, और कभी वीर बनजाता है, फिर वह युद्धमें माराजाकर भस्म करदिया जाता है, पर यथार्थसे वह रूप धारण करनेवाला बुद्धिमान् अपने स्वरूपको नहीं

भूलता और उसके चित्त परे मारेजानेका वा भस्म होनेका दुःख कुछ भी नहीं होता। क्योंकि वह बुद्धिमान् चतुर अपने यथार्थ स्वरूपको भूलता नहीं तथा देखने वालोंको भी उसके मारेजाने अथवा भस्म कर-दिये जानेका दुःख कुछ भी नहीं होता। क्योंकि वे अपनी बुद्धि द्वारा नाटकके सब व्यवहारोंको जानते हैं।

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! इसी प्रकार जो धीर पुरुष हैं, आत्मज्ञानी हैं, जिनकी बुद्धि स्थिर है, पूर्ण पण्डित और महात्मा हैं और जो इस संसारको मेरे नाटकका खेल समझते हैं वे किसीके मरने जीनेकी चिन्ता नहीं करते। इसलिये मेरा प्यारा अर्जुन! तू इन भीष्म द्रोण इत्यादिकी कुछभी चिन्ता मत कर! तू धीर है, बुद्धिमान् है, तथा ज्ञानी है। तुझको ऐसा शोक करना उचित नहीं है ॥१३॥

अर्जुनने भगवान्के कहनेसे आत्माकी एकता तो मानली, पर उसके चित्तमें यह शंका बनी रही, कि बडे बडे ज्ञानियोंको, जो आत्मा को नित्य समझते हैं, दुःख सुख क्यों भोगना पडता है? इस अर्जुन के मनके अभिप्रायको सर्वज्ञ भगवान् जानकर कहते हैं, कि—

मू०—मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुख दुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥१४॥

पदच्छेदः— कौन्तेय! (हे कुन्तीपुत्र अर्जुन!) [तथा] भारत! (हे भारतवंशोद्भव अर्जुन!) अनित्याः (न विद्यते नित्यत्वं येषां ते।) *मात्रास्पर्शाः (इन्द्रियवृत्तीनांविषयसंबन्धाः।

* मीयन्ते शब्दादयो विषया आभिरिति मात्राः। इन्द्रियाणि। स्पृश्यन्त इति स्पर्शाः शब्दादयः।

विषयाक्रान्तान्तःकरणपरिणामाः) तु आगमापायिनः (उत्पत्तिविना-शवन्तः) [तथा] शीतोष्णसुखदुःखदाः (शीतम् उष्णं सुखं दुःखंच प्रयच्छन्तीति ।) तान् (शीतोष्णसुखदुःखप्रदान् इन्द्रियाणां विषयसम्बन्धान्) तितिक्षस्व (विवेकेन प्रसहस्व ।) ॥ १४ ॥

पदार्थः— (कौन्तेय !) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! (मात्रा स्पर्शाः) मात्रा जो इन्द्रियां उनकी वृत्तियोंके साथ जब स्पर्श अर्थात् शब्दादि विषयोंके सम्बन्ध होते हैं तब वेही सम्बन्ध (शीतोष्ण सुख दुःखदाः) कभी शीत, कभी उष्ण तथा कभी सुख और कभी दुःख के देनेवाले होते हैं । सो सर्व सम्बन्ध (आगमापायिनः) उत्पत्ति और नाश वाले हैं इसलिये (अनित्याः) अनित्य स्वभाव वाले हैं (तान्) तिनको (भारत !) हे भरतवंशमें उत्पन्न अर्जुन तू (तिती क्षस्व) सहन कर! अर्थात् इनसे तू दुखी सुखी मत हो ! ॥ १४ ॥

भावार्थः—सर्वोके हृदयके जाननेवाले अन्तर्यामी श्रीकृष्ण भग-वान् जब अर्जुनके हृदयकी बात जानगये अर्थात् समझगये, कि अर्जुन-को आत्माके नित्य, विभु तथा एक होनेमें कुछभी संदेह नहीं है, परे इतना सन्देहतो अवश्य रहगया है, कि इस प्रकार जाननेपरे भी बडे बडे पण्डित और आत्मज्ञानियोंको सुख दुःखका भान समय समय पर होता रहता है । जिससे अनुभव होता है, कि आत्मामेंभी इन सुख दुःखादिका आश्रयत्व हो । अर्थात् आत्मासे भी इनका सम्बन्ध हो तो आश्चर्य्य नहीं । क्योंकि सबही कहते हैं कि "अहं दुःखी अहं सुखी" इसलिये यह भीषण दृश्य सम्मुख देखकर वेचारा अर्जुन भी शोकातुर

क्यों न होवे ? इसलिये अर्जुनकी इस शंकाकी निवृत्ति करने तथा उसे शोक रहित करनेके तात्पर्य्यसे भगवान कहते हैं कि [मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः] हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! येजो इन्द्रियोंका विषयों के साथ स्पर्श है अर्थात् सम्बन्ध है वही सम्बन्ध शीत, उष्ण तथा सुख दुःखका देनेवाला है। यदि इन्द्रियोंका सम्बन्ध उनके विषयोंसे हटालिया जावे तो सुख दुःखका कहीं लेशमात्र भी नहीं रहेगा। सो हे अर्जुन ! ये शीत, उष्ण, सुख, दुःख इत्यादि आत्माको नहीं होते, इनका कारण केवल अन्तःकरण है ।

सच है ! प्रिय पाठको ! वैशेषिक-शास्त्रवाले भी कहते हैं, कि "बुद्धि सुख दुःखेच्छा द्वेष प्रयन्त धर्माधर्म्म भावनाख्य नव विशेषगुणावन्तः प्रतिदेहं भिन्नाः। एव। नित्या विभवश्च आत्मानः" अर्थ—बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म्म, भावना ये नव गुण प्रत्येक देहमें होते हैं पर आत्मा सबमें एकरस नित्य औ व्यापक है। मीमांसा वालेभी इसी पक्षको अंगीकार करते हैं। सांख्यवाले भी इससे विरोध नहीं करते—इसकारण अर्जुनकी शंका अयोग्य नही है। भगवान् अर्जुनकी इसी शंकाकी निवृत्तिके लिये कहते हैं, कि हे अर्जुन ! जो तुझे भिन्न—भिन्न देहोंके आत्माकी एकतामें शंका होती है सो मत कर ! क्योंकि आत्माकी स्फूर्ति प्रति शरीरोंमें उनकी चेतनाका कारण है, पर दुःख सुखकी भिन्नतामें आत्मा कारण नहीं है। यह तो अन्तःकरणका धर्म है। सो अन्तःकरण पूर्वजन्मार्जित कर्मोंकी विचित्रताके कारण प्रति शरीरमें भिन्न-भिन्न संस्कार पायेहुआ है। इसी कारण कोई अपनेको दुःखी और कोई सुखी समझता है। यदि अन्तःकरण प्रति

शरीरसे हटादिया जावे तो न कोई अपनेको दुःखी कहेगा न सुखी कहेगा । क्योंकि मात्रास्पर्श अर्थात् इन्द्रियोंकी वृत्तियोंका उनके विषयों के साथ सम्बन्ध होनेसे इष्ट और अनिष्टसे जैसी अनुकूलता वा प्रति· कूलता हो भासती है तदाकारही सुख दुःखका भान होता है । क्योंकि तू प्रत्यक्ष देख रहा है, कि शीत उष्ण सदा एकरस नहीं रहते । देख ! जो शीत " जाडा वा ठण्डक " ग्रीष्म ऋतुमें वायुके साथ मिल कर प्राणीको सुखी करदेता है, वही शीत, शीतकाल अर्थात् जाडेके महीनोंमें दुखदायी होता है । प्राणियोंसे सहा नहीं जाता । इसी प्रकार जितने सुख दुःख हैं वे किसी समय दुःख और किसी समय सुख होकर भासते हैं । इसलिये [**आगमापायिनोऽनित्यास्तां-स्तितिक्षस्व भारत !**] ये शीत, उष्ण सुख दुःख इत्यादि आगमापायी हैं । अर्थात् आगम कहते हैं उत्पन्न होनेको और अपाय कहते हैं नाश होनेको । इसलिये जो पदार्थ क्षण-क्षणमें उत्पन्न और नाश हुआ करे उसे कहते हैं आगमापायी । सो ये दुःख सुख आगमापायी होनेके कारण एक रस नहीं हैं । अनियत स्वभाव-वाले हैं । इसलिये हे भारत ! तू दुःख सुख दोनोंको चंचल जान-कर (तांस्तितिक्षस्व) तिनको सहन कर ! अन्तःकरणसे अविद्या-के हटानेका यत्नकर ! जब अविद्या हटजावेगी अन्तःकरण निर्म्मल और शुद्ध होजावेगा तब दुःख सुखका लेशमात्रभी कहीं नहीं रहेगा । अविद्याका ही आवरण अन्तःकरण पर रहनेसे दुःख सुखका भान होता रहता है ।

सच है! जैसे भगवान् अर्जुनको शीत, उष्ण, सुख, दुख इत्यादि

सहन करनेकी आज्ञा देरहे हैं इसी प्रकार श्रुतियोंनेभी कहदी है, कि बडे बडे महान् पुरुषोंको भी सुख दुःख भोगना पडता है। क्योंकि शरीरभी तबही तक वर्त्तमान है- जब तक प्रारब्धका भोग है। प्रमाण— श्रु० तस्य तावदेवचिरंयावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पतस्य इति। (छान्दो० उत्तरार्ध प्रपा० ६ खं० २ श्रु० १४) अर्थ—तिस आचार्य्यवान पुरुषका भी जीवन तबही तक है जबतक प्रारब्ध कर्मोंके भोगसे छुटकारा नहीं पाता। अर्थात् तिसके प्रारब्धकी समाप्ति नहीं होती। समाप्ति होते- ही झट वह सत्को प्राप्त होजाता है अर्थात् मुक्त होजाता है। इस कारण ज्ञानी जन इसके सहन करनेका अभ्यास करते हैं। इसीको तितिक्षाके नामसे पुकारते हैं, जो ज्ञानकी सम्पत्तियोंमें एक उत्तम सम्पत्ति कहीजाती है।

यहां भगवान इतना कहकर अर्जुनके मिससे सम्पूर्ण संसारके जीवोंको तितिक्षा अर्थात् संसारके सुख दुःख सहनेका अभ्यास करने का उपदेश करते हैं। क्योंकि भगवान्को आगे आत्मज्ञानका उपदेश करना है। इस कारण तितिक्षाका उपदेश करना उचित समझा। क्योंकि इस तितिक्षासे ही आत्मज्ञानका लाभ होता है—प्रमाण—"**यमैर- कामैर्नियमैश्चाप्यनिन्दया निरीहयाद्वन्द्वतितिक्षया च**" (श्रीमद्भा- गवत स्कं० ४ अध्या० २२ श्लो० २४) अर्थ—अहिंसा, सत्य इत्यादि यमके अंगोंके प्रतिपालन करनेसे, कामनाओंसे रहित रहनेसे, नियमों के अंग सन्तोष तप इत्यादिसे, तितिक्षासे अर्थात् शीतोष्ण सुख दुःख इत्यादि द्वन्द्वोंके सहन करनेसे, निन्दा रहित होनेसे, निरुद्यम रहनेसे आत्माका परिचय होता है। इसी अभिप्रायसे भगवान् अर्जुनके प्रति

तितिक्षाका उपदेश करते हैं।

इस श्लोक में भगवान्‌ने अर्जुनको जो कौन्तेय और भारत दो विशेषणोंसे विभूषित किया इसका मुख्य अभिप्राय यह है, कि भगवान्‌ने अर्जुनको दोनों श्रेष्ठ वंशोंका अवतंस होनेसे तितिक्षाका अधिकारी बतलाया और यह जनादिया, कि हे अर्जुन! तू ऐसे आत्मज्ञान विभूषित वंशोंसे उत्पन्न है इस कारण तू अवश्य तितिक्षाका प्रतिपालन करेहीगा॥ १४ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें यह दिखलाते हैं, कि जो इस तितिक्षाके ग्रहण करनेवाले हैं— वे ही मोक्षके अधिकारी होते हैं।

मु०—यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ!

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १५ ॥

पदच्छेदः—पुरुषर्षभ! (हेपुरुषश्रेष्ठ अर्जुन!) समदुःखसुखम् (समेदुःखसुखेयस्यतम्। हर्षविषादरहितम्। शमादिसाधन सम्पन्नम्।) यम् धीरम्* (धीमन्तम्। नित्यानित्यविवेकवन्तम्।) पुरुषम् (पूर्षु अष्टासु+ वसतीतिपुरुषः तम्। पूर्णत्वेन पुरि शयानम्। पूर्षु शेते यः तम्।) एते (इमे) हि (निश्चयेन) न (नैव) व्यथयन्ति (पीडयन्ति। चालयन्ति।) सः (पुरुषः) अमृतत्वाय (मोक्षाय।) कल्पते (योग्यो भवति। समर्थो भवति।) ॥ १५ ॥

पदार्थः—(पुरुषर्षभ!) हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! (सम दुःखसुखम्)

---

* धीरम्=धियम् बुद्धिं ईरयति चिदाभासद्वारा धीसाक्षिणं प्रेरयतीति धीरः वा धियं राति गृह्णातीति धीर।

+ भूतेन्द्रियमनोबुद्धिर्वासनाकर्मवायवः। अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्य्यष्टमृषिसत्तमैः॥

दुःखसुखमें समान एकरस रहनेवाले (यम्) जिस (धीरम) धीर (पुरुषम्) पुरुषको (एते) ये शोक मोह इत्यादि (हि) निश्चय करके (नव्यथयन्ति) नहीं सताते हैं (सः) वही पुरुष (अमृतत्वाय) मोक्षपदके लिये (कल्पते) योग्य होता है ॥ १५ ॥

भावार्थः—श्रीगोलोकविहारी जगतहितकारीने जो अर्जुनको पूर्व श्लोक द्वारा यों उपदेश किया, कि हे अर्जुन ! ये दुःख सुख आत्माका धर्म नहीं है। अन्तःकरणका धर्म है। सो अन्तःकरण प्रति देहमें भिन्न-भिन्न है। इस कारण ये दुःख सुख भी भिन्न-भिन्न बोध होते हैं और आगमापायी होनेके कारण नित्य नहीं हैं। इस कारण जिस क्षणमें ये सम्मुख आनपड़ें तो इनको तू सहन कर— अर्थात् तितिक्षा-धर्मका पालन करता रह। इसीके विषयको दृढ करनेके तात्पर्य से भगवान् कहते हैं, कि [**यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ! समदुःखसुखंधीरम्**] हे अर्जुन ! तू पुरुषर्षभ है अर्थात् सहस्रों पुरुषोंमें श्रेष्ठ कहाजाता है इसलिये मैं जो कुछ तुझे कहूंगा तू उसे भली भांति सांगोपांग समझनेका अधिकार रखता है—सो मैं तुझे निश्चय कर कहता हूं कि दुःख सुखमें समान रहनेवाले जिस धीर पुरुषको ये शीत, उष्ण, दुःख, सुख, मोह इत्यादि व्यथा नहीं करते अर्थात् दुःखके सम्मुख होने पर जो व्याकुल नहीं होता और सुखके सम्मुख होने पर जो बावलोंके समान मतवाला होकर सारे संसार में अपने समान बुद्धिमान, धनवान् तथा सुखी किसीको न समझ कर "**मदग्रेकोऽपिनाऽस्ति**" ऐसा कहकर घमण्ड नहीं करता है। अर्थात् दुःखमें हा बाप ! हा दादा ! पुकार-पुकार कर चिल्लाता और कराहता

नहीं। उद्विग्न और व्याकुल होकर देव देवियोंको तथा अपने कुल-गुरुओंको कोसता नहीं अपने प्रारब्धसे लाठी नहीं लेता और सुखमें डूबजानेपर मद्यपान, वेश्यागमन इत्यादि कुकर्मोंसे लिप्त नहीं होता। अर्थात् जैसे क्षुद्र नदियां थोडे जलको पाकर उबल जाती हैं। ऐसे सुख पाकर जो उतावला होकर नहीं चलता। वरु जैसे दुःखमें धीर था ऐसे सुखमें भी स्थिर चित्त रहता है। उसीको धीर पुरुष कहते हैं। सो जो ऐसा धीर है [**सोऽमृतत्वाय कल्पते**] हे अर्जुन! वही कैवल्य परमपद अर्थात् नित्यानन्दका अधिकारी है। वही संसार सागरसे पार होकर सदाके लिये मेरे स्वरूपमें प्रवेश कर परमानन्द लाभ करेता है। क्योंकि ऐसे प्राणियोंको निश्चय रहता है, कि आत्मा नित्य है, विभु है, निर्लेप है, निर्विकार है, एक है, और सब जीवोंमें साक्षि-मात्र है। जैसे दो प्राणी किसी मार्ग पर परस्पर लडें और एक दूसरेका अंग भंग करने लगजावे तो मार्गके चलने वाले पथिकोंको, जो साक्षिमात्र हैं कुछ भी क्लेश नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा भी सबमें साक्षी होनेसे निर्लेप और निर्विकार रहता है। दुःख सुखका भागी नहीं होता है—यथा श्रुतिः। **ॐ सूर्य्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोक दुःखेन बाह्यः।** अर्थ—जैसे सूर्य्य सबलोगोंके नेत्रोंका अधिष्ठातृ देव होनेपर भी बाहरका दोष मल मूत्र इत्यादिके देखने से उनकी अपवित्रतामें लिप्त नहीं होता इसी प्रकार सर्व भूतोंमें निवास करनेवाला जो एक आत्मा है वह लोगोंके दुःखोंसे लिप्त नहीं होता है। कहां नहीं होता है? तो कहते हैं "**बाह्यः**" बाहरवाली बुद्धि

से (कठ० अध्या० २ बल्ली २ श्रु० ९७) क्योंकि माण्डूक्योपनिषद् में आत्माको ब्रह्मरूप ही कहा है " अयमात्माब्रह्म " अर्थात् यह आत्मा ब्रह्मही है फिर जैसे ब्रह्म सब भूतोंका साक्षीभूत कहाजाता है, वह सबमें है, पर निर्लेप है। इसी प्रकार यह आत्मा भी निर्लेप है सबके साथ रहने पर भी असंग है। इसकी असंगति सिद्ध करनेके लिये एक विलक्षण दृष्टान्त दिया जाता है— सुनो! मानलो कि किसी के गृहमें बिजलीकी बत्ती जलरही है। उस गृहमें सायंकालसे आधीरात तक वारागनाओंका नृत्य होतारहा, पश्चात् आधीरातसे प्रातःकाल तक किसी डाक्टरने उसी गान सुनने वाले गृहपतिके घावको चीर-चीर कर रुधिर बहाया। अब विचारने योग्य है, कि वारांगनाओंके गान सुननेका सुख तथा डाक्टरसे चीरेजानेका दुःख तो केवल उस गृहपति को होता रहा पर बीजलीकी बत्ती दोनों दशाओंमें एक रंग प्रकाश करेती रही। गानके समय अधिक प्रकाशसे न बली और चीरेजानेके समय बुत न गई। दोनों दशाओंमें एक समान साक्षिमात्र रही। अथवा यों उदाहरण देलो कि आलोक्य लेखक यंत्र (फोटोग्राफीके कांच) होकर काले, गोरे, साधु, चोर, रोते और हँसते सबकी मूर्त्तियां प्लेट पर बनजाती हैं, पर उस यंत्रका कांच काला गोरा ज्योंका त्यों बना रहता है। किसी प्रकारका रंग वा रूप उस स्वच्छ कांचमें नहीं लिपट सकता। इसी प्रकार आत्मा इस प्राणीके चेतन होनेका तथा सर्व प्रकारकी चेष्टाओंके करनेका मुख्य द्वार है, पर निर्लेप रहता है। अन्तःकरण-रूप प्लेटके दुःखी सुखी होनेसे दुखी सुखी नहीं होता है।

प्रिय पाठको! इन दृष्टान्तोंसे मुख्य अभिप्राय यही है, कि शीत,

उष्ण, सुख, दुःख, आत्माको नहीं होते, केवल अन्तःकरणको होते हैं। वह भी उसी दशामें होते हैं जब मात्रा अर्थात् इन्द्रियोंका स्पर्श विषयोंको होता है। जैसे कानोंको जब निन्दा-स्तुतिके शब्दसे स्पर्श होता है तब अन्तःकरणमें स्नेह वा क्रोध उत्पन्न होआता है। त्वचाको जब मृदुल वा कठोर वस्तुओंसे स्पर्श होता है तब अन्तःकरणमें उसके ग्रहण वा त्यागकी रुचि वा अरुचि उत्पन्न होती है। सुन्दरताई और कुरूपता केवल चर्म रुधिर इत्यादि सप्त धातुओंकी बनावटका भेद है। पर जब उनको नेत्रसे सम्बन्ध होता है तब स्नेह तथा घृणा होती है। इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि हे भारत ! ऐसा जानकर जो लोग इस मात्रास्पर्शसे दुखी सुखी नहीं होते वे ही इस संसारसे छूट (अमृतत्वाय) मोक्ष पदवीको प्राप्त करनेके अधिकारी हैं। इसलिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि तू आत्माको सबसे निर्लेप जान अपनी इन्द्रियोंको अपने बन्धुवर्गोंके स्नेहसे स्पर्श मत होनेदे फिरतो तेरा बेडा पार है। युद्ध करता हुआ भी सर्व विकार रहित है। इसलिये तू शोक रहित होकर अमृतत्त्वका अधिकारी होजा ॥ १५ ॥

इतना सुन अर्जुनने कहा—भगवन ! तुमने शीत, उष्ण, दुःख सुखको आगमापायी कहकर इनको सहनेकी आज्ञा दी सो सहना कैसे बने ? क्योंकि जैसे आत्मा सत्य है ऐसे ये भी तो सत्य ही प्रतीत होरहे हैं। जिस रथपर हमलोग बैठे हैं, जो वीर हमारे सम्मुख खडे हैं, और इनके बाणोंके प्रहारसे जो मारेजावेंगे उनका मरना भी सत्य ही प्रतीत होरहा है। फिर इस कुरुक्षेत्रकी भूमि भी सत्य ही प्रतीत होरही है। मैं तो यही कहूंगा, कि सम्पूर्ण संसार सूर्य्य, चन्द्र

इत्यादि सत्य ही प्रतीत होरहे हैं । फिर इसीके भीतर इन्ही सुर्य्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, जल इत्यादिके कारण जो शीत, उष्ण, दुख और सुख हैं वे भी सत्यही प्रतीत होरहे हैं। इनको आगमापायी जान इनकी तितिक्षा कैसे बने ? क्योंकि जो सत्य है उसकी निवृत्ति तो ज्ञानसे भी नहीं होसकती । यदि सत्यकी निवृत्ति भी ज्ञानसे होती हो तो आत्मा जो सत्य है उसकी निवृत्ति भी ज्ञानसे होजानी चाहिये । फिर तो जैसे शीत उष्ण आगमापायी हैं ऐसे आत्मा भी आगमापायी समझाजावेगा । इस शंकाके उत्तरमें भगवान कहते हैं—

मू०—नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

पदच्छेदः—असतः (अविद्यमानस्य शून्यस्य।) भावः (परमार्थसत्ता। स्थितिः । अस्तित्वम्) न (नैव) विद्यते (अस्ति ।) सतः (विद्यमानस्य ।) अभावः (असत्ता विनाशः । असत्त्वम्) न (नैव) विद्यते (वर्त्तते) अनयोः (यथोक्तयोः) उभयोः (सदसतोः) अपि, अन्तः (निर्णयः। मर्य्यादा। नियत रूपत्वम् ।) तत्वदर्शिभिः (वस्तुयाथार्थ्यदर्शनशीलैर्ब्रह्मविद्भिः ।) दृष्टः (अवलोकितः। श्रुतिस्मृतियुक्तिभिर्बिचारपूर्वकं निश्चितः) ॥ १६ ॥

पदार्थः– (असतः) जो वस्तु असत् है उसका (भावः) भाव (न विद्यते) कभी नहीं होता और (सतः) जो वस्तु सत् है उसका (अभावः) अभाव (न विद्यते) कभी नहीं होता तो (अनयोः) इन (उभयोः) दोनों विषयोंका अर्थात् सत् और असत्का

सिद्धान्त (अपि) भी (तत्त्वदर्शिभिः) तत्त्वदर्शियों द्वारा (दृष्टः) देखागया है। अर्थात् आत्मज्ञानियों द्वारा पूर्ण प्रकार विचार पूर्वक निर्णय कियागया है ।

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्‌से यह शंका की है, कि जैसे आत्मा सत् है ऐसेही ये शीत और उष्ण भी सत्य प्रतीत होरहे हैं । इनको आगमापायी अर्थात् उत्पत्ति विनाश वाले समझ कर इनका शोक मोह कैसे छोड़ूं ? ये तो सच-मुच प्राणियोंको चलायमान करही देते हैं। क्योंकि आत्माहीके समान इनकी भी सत्यही प्रतीति होरही है । इस शंकाके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**] तू निश्चय करके जान, कि जो वस्तु असत् है, अर्थात् विद्यमान नहीं है, शून्य है, उसका भाव अर्थात् सत्ता वा उसकी स्थिति कभी भी नहीं होती है। वह वस्तु तीनों कालमें स्थिर नहीं रह सक्ती है। इसी प्रकार जो सत् है उसका अभाव भी नहीं होसकता अर्थात् सत् वस्तु भूत, भविष्य, और वर्त्तमान तीनों कालोंमें समान रहती है। सो यह जगत् अपने शीत, उष्ण, सुख, दुःख इत्यादिके साथ असत् है । इसलिये इनका भाव कभी नहीं होसकता ।

पाठकोंके बोध निमित्त इन सबका असत् होना शास्त्रोंके प्रमाणों से सिद्ध कियाजाता है सुनो ! "परिच्छिन्नं तदसत्" अर्थात् जो वस्तु असत् होती है वह कालकृत, देशकृत और वस्तुकृत इन तीन परिच्छेदोंसे परिच्छिन्न होती है, अर्थात् भूत, भविष्य और वर्त्तमान इन तीनों कालोंमें से किसी एकही कालमें विद्यमान रहती है तथा सब देशोंमें से किसी एकही देशमें अथवा सब वस्तुओंमंसे किसी एक ही वस्तुका रूप होकर

मान रहती है क्योंकि " जन्म विनाशशीलं प्राक्कालेन परकालेन च परिच्छिन्नध्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वात् कदाचित्कालपरिच्छिन्न मित्युच्यते" अर्थात् जो वस्तु जन्म और नाश वाली है और प्राक्काल अर्थात् भूतकाल और परकाल अर्थात् भविष्यत्कालसे परिच्छिन्न है तथा प्रध्वंसाभाव और प्रागभावका प्रतियोगित्व जिसमें है उसीको काल-परिच्छिन्न कहते हैं। जैसे यह शरीर जो जन्म मरण वाला है भूतकाल में बना था और भविष्यत्कालमें विनश जावेगा। और इस समय यह प्रागभाव और प्रध्वंसाभावसे रहित होकर वर्त्तमान होरहा है- इसलिये इसको काल-परिच्छिन्न अवश्य कहेंगे। फिर यह देश-परिच्छिन्न भी है। क्योंकि " मूर्त्तित्वेन सर्वदेशावृत्तत्वात् " मूर्त्तिमान् होनेसे यह सब देशमें नहीं है। इसलिये देश परिच्छिन्न भी है। फिर इसमें वस्तुपरिच्छिन्नता भी देखीजाती है। कारण यह है, कि इस समय इसमें स्वजातिभेद, विजातिभेद तथा स्वगतभेद तीनों भेद वर्त्तमान होरहे हैं। ये तीनो भेद जहां हां तहां वस्तु-परिच्छेद अवश्य होता है। तहां परस्पर समान वस्तुओंमें जो भेद होता है उसे स्वजातिभेद कहते हैं। जैसे एक रथसे दूसरे रथका जो भेद है और बरगदके वृक्षको कदम्बके वृक्षसे जो भेद है अर्थात रथको रथसे और वृक्षको वृक्षसे जो भेद है वह स्वजातिभेद है। और रथको बाणसे जो भेद है वह विजातिभेद है। क्योंकि रथ काठका है और बाण लोहेका है। इसलिये इसे विजातिभेद कहते हैं। रथको अपने पहियोंसे तथा कील कांटियोंसे जो भेद है, अथवा किसी वृक्षको जो अपने फल फूल मंजरसे भेद है वह स्वगतभेद है। इस कारण इस शरीरमें वस्तुपरिच्छिन्नताकी भी

प्राप्ति है ।

शास्त्रोंसे यह सिद्ध कियाहुआ है, कि जिसमें काल, देश, वस्तु की परिच्छिन्नता देखीजाती है उसे असत् कहते हैं । इसलिये सम्पूर्ण विश्व अपने पांचों तत्वोंके विकार पृथ्वी, पाषाण, सूर्य्य चन्द्र, तारा-गण, कन्द, मूल, फल, फूल, और चौरासी लक्ष योनियोंके सहित सब असत् ही हैं । क्योंकि ये सब न पहले थे न आगे होंगे । इसलिये ये सबके-सब असत् हैं । इनका भाव अर्थात् इनकी सत्ता वा विद्यमानता कहीं भी नहीं है । इसी कारण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि "**नासतो विद्यते भावो**" अर्थात् मिथ्याका भाव कभी नहीं होता । यह केवल भ्रांति मात्र भासते हैं । जैसे आकाशमें, जो इन्द्र-धनुष (पनसोखा वा पनवोरा) भासता है उसमें नील, पीत, अरुण इत्यादि भिन्न रंग भासते हैं, पर यथार्थमें ये भ्रांतिमात्र हैं । उस धनुष में किसी प्रकारके रंग रूप नहीं होते हैं । वहां तो केवल मेघमालाके जल के छोटे-छोटे सीकरों पर सूर्य्यकी किरणें पडती हैं और कुछ नहीं है। केवल नेत्रका भ्रम है । इसी प्रकार यह असत् रूप जगत भ्रम करके सत् भासता है । जैसे स्वप्नमें सुन्दर स्त्रीसे प्रेम करना असत्-रूप है । वहां यथार्थमें कोई स्त्री नहीं है । केवल सोनेवालेके संकल्पमें जो स्फुरण हुआ है उसकी दृढताके कारण स्त्री भास आयी है । इसी प्रकार यह संसार सांसारिक मनुष्योंके संकल्पमें भासाहुआ है । ज्ञानीकी दृष्टि में सब स्वप्नवत् भासते हैं । जगत्की सत्यता कहीं भी नहीं है ।

प्रमाण —श्रु० द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पन्तामापश्च तेजश्चतेषा संकॢप्त्यै वर्षं संकल्पते··· (छां०

उत्त० प्रपा ७ श्रुति २ में देखो) अर्थ—(द्यौ) स्वर्ग लोक और पृथ्वी-को संकल्प ही रचता है। फिर वायु और भूताकाशको भी संकल्प ही रचता है। इसी प्रकार जल और अग्निको संकल्प ही बनाता है, तिनका संकल्प करके वर्षाका संकल्प करता है। मुख्य अभिप्राय यह है, कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड संकल्प ही से बनता है इसकारण इनका कहीं भी भाव नहीं है। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! तू इन सबों को असत् जान!

इसीके प्रतिकूल यह जो आत्मा है प्रथम कहे हुए तीनों प्रकारके परिच्छेदोंसे रहित है। सब कालोंमें है, सब देशोंमें है और सब वस्तु-ओंमें है। इसलिये यह आत्मा विभु है, सर्वत्र है, और सर्वगत है। इसी कारण यह सत् है इसका असद्भाव अर्थात् अभाव कभीनहीं होता। प्रमाण—श्रु० **आत्मा वा इदमेक एवाग्रआसीत्। नान्यत् किञ्चनमिषत्** (ऐतरे० अ० १ श्रु० १) यह एक आत्मा ही सबसे पहले था अन्य कुछ भी नहीं था। इस श्रुतिसे आत्माका भूतकालमें होना सिद्ध है। तथा वर्त्त-मान कालमें इसका अनुभव होही रहा है और वेदादि प्रमाणोंसे इसका भविष्यत् कालमें होना भी सिद्ध ही है अतएव तीनों कालोंमें एक रस है इसलिये वह सत् है। भगवान् कहते हैं, कि "**नाभावोविद्यते-सतः**" यह आत्मा जो सत् है इसका अभाव कभी नहीं होता।

अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! **[उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः]** इन दोनों बातोंको अर्थात् "जगतका असत् होना" और "आत्माका सत् होना" तत्त्वदर्शियोंने पूर्ण प्रकार

विचार कर देखा है। इसमें तनक भी सन्देह करने योग्य नहीं है। तहां श्रुतिका भी वचन है, कि " आचार्य्यवान्पुरुषोवेद " अर्थ— आचार्य्यवान् अर्थात् गुरुद्वारा शिक्षा पायाहुआ पुरुष सत् और असत् को पूर्ण प्रकार जानता है। जैसे जल और दूधको एक संग मिलारक्खो तो राजहंस उन दोनोंको विलग-विलग करडालता है अथवा सुनार जैसे धौंकनीसे धोंककर सोना और मैलको विलग-विलग करदेता है, जैसे दधि मथनेसे मक्खन और मट्ठा विलग-विलग होजाते हैं, जैसे गृहस्थ धानको कूटकर चावल निकाल लेता है और उनकी भूसी को विलग करदेता है, इसी प्रकार तत्त्वदर्शी ज्ञानी अपनी बुद्धि और ज्ञान द्वारा इस सृष्टिसे आत्मारूप सार-भाग सत्यको निकाल कर ग्रहण करते हैं और प्रपंच रूप असत्य भागको मिथ्या जानकर परित्याग करदेते हैं। झूठे पदार्थोंके मिलने बिछुड़ने से तत्त्ववेत्ता शोक नहीं करते। क्योंकि जितनी आगमापयी वस्तु है, केवल वर्तमान कालमें ही अस्तित्वमात्र उनकी स्थिति है, पर उत्पत्तिसे पहले और नाशसे पीछे कहीं पता नहीं लगता।

यदि शंका हो कि तत्त्वदर्शी इनका निर्णय कैसे करते हैं? वा कैसे करचुके हैं? तो उत्तर यह है, कि बुद्धिके दो भेद हैं सद्बुद्धि और असद्बुद्धि। जो बुद्धि एक रस रहे उसे सद्बुद्धि कहते हैं और जो उपजती विनशती रहे उसे असद्बुद्धि कहते हैं। जैसे किसीके मस्तकमें व्यथा हुई तो जब तक व्यथा है तबही तक उसका बोध होरहा है। व्यथाके दूर हुए व्यथितबोधका नाश होजाता है और बुद्धि अपने स्थान पर आकर स्थिर होजाती है। बरसों उस व्यथाका स्मरण

भी नहीं करती। इसी कारण जिस वस्तुमें ऐसी व्यभिचारिणी बुद्धि हो, उसे असत् कहनी चाहिये। इस मिथ्या बुद्धिको तत्त्व-दर्शी त्याग कर सद्बुद्धिका ग्रहण करते हैं सो आत्माकार बुद्धि सदा एक रस है। उसी सद्बुद्धि द्वारा तत्त्वदर्शी सत् और असत्का निर्णय करलेते हैं ॥१६॥

इतना सुन अर्जुन ने कहा—भगवन! जैसे कालके विस्तारसे एक कल्प बीतने पर जगत्का नाश होजाता है ऐसे ही दो चार सहस्र कल्पोंके बीतजाने पर, आत्माका भी नाश होजाना संभव है तो इस विचारसे महाकालकी अपेक्षा आत्माको भी आगमापायी क्यों न कहूं ?' इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि—

मू०—अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति ॥१७॥

पदच्छेदः— येन (सद्रूपेण, नित्येन, विभुना आत्मना।) इदम् (दृश्य जातं देहादिकम्। स्वतः सत्तास्फूर्तिशून्यम।) सर्वम् (सम्पूर्णम) ततम् (व्याप्तम्।) [अस्ति] तत् (आत्मस्वरूपम।) तु (निश्चयेन) अविनाशि (नाशरहितम। देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यम्।) विद्धि (विजानीहि।) कश्चित् (कोप्याश्रयो वा विषयो वा इन्द्रियसन्निकर्षादि रूपो हेतुर्वा इन्द्रोवा * ईश्वरो वा।) अस्य (एतस्य) अव्ययस्य (उपचयापचय रहितस्य। जन्मादिसर्वविकारशून्यस्य।) विनाशम् (अभावम्। अदर्शनम।) कर्तुम् (विधातुम्) न (नैव) अर्हति (योग्यो भवति।) ॥ १७ ॥

* स्वात्मनि क्रियाविरोधात्।

पदार्थः— (येन) जिस अव्यय तत्त्व आत्मासे (इदम्) यह (सर्वम्) सम्पूर्ण जगत (ततम्) व्याप्त है (तत्) उसको (तु) तो निश्चय करके हे अर्जुन ! तू (अविनाशि) नाश रहित (विद्धि) जान क्योंकि (अस्य) इस (अव्ययस्य) उत्पत्ति नाश रहित आत्माका (कश्चित्) कोई भी (विनाशम) नाश (कर्त्तुम्) करनेको (न अर्हति) समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो पहले यह शंका की है, कि आत्माकी भी दो चार कल्पके पश्चात् बुद्धिसे विस्मृति होजासकती है इस कारण आत्माको भी आगमापायी क्यों न कहाजाय ? इसके उत्तरमें आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र आत्माके नित्यत्त्वको अर्जुनके अन्तःकरणमें दृढ करनेके तात्पर्य्यसे कहते हैं, कि [**अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्**] जिससे यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड व्याप्त है उसे तू अविनाशी जान ! क्योंकि कालपरिच्छेद, देशपरिच्छेद, तथा वस्तुपरिच्छेद इन तीनों प्रकारके परिच्छेदों *से रहित होनेके कारण यह आत्मा अनादि और अनन्त है। पूर्व श्लोकमें जो इस आत्माको तीनों परिच्छेदोंसे रहित दिखला कर अजर अमर सिद्ध करआए हैं उसी विषयको फिर दृढ करनेके तात्पर्य्यसे फिर इस श्लोकमें श्रुतियोंके प्रमाणसे अविनाशी सिद्ध करते हैं । सुनो ! इसको पुनरुक्ति मत समझो !

यह आत्मा पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा । यह तीनों कालमें एक रस रहता है । इसलिये कालपरिच्छेदसे रहित

* इन तीनो प्रकारके परिच्छेदों को पहले श्लो० १६ पृष्ठ० २६५में कह आये है देखलो ।

है प्रमाण—" अजोनित्यः शाश्वतोऽयम्पुराणः " इस कठोपनिषद्की श्रु० को भगवान् आगे इस गीतामें भी कहेंगे। अर्थात् यह आत्मा नित्य है, सनातन है, पुराना है, सब देशमें है और ऊपर नीचे दायें बायें सब ठौरमें एक रस व्याप रहा है। इसलिये देशपरिच्छेदसे भी रहित है प्रमाण—श्रु० आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणात आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳसर्वमिति (छां० अ० ७ खं० २५ श्रु० २) अर्थ—निश्चय करके यह आत्मा नीचेसे है, यही ऊपरसे भी है, यही आत्मा पीछेसे भी है, यही आत्मा आगेसे भी प्रकाश कररहा है, यही दक्षिणसे भी स्फुरण कररहा है, तथा उत्तरसे भी प्रज्वलित है। कहां तक कहूं यह जो कुछ सामने दीख पडता है सब आत्मासे भरा है। जैसे आकाशसे कोईभी स्थान रहित नहीं है। ऐसे जहां तक बुद्धिका समावेश होसके तहां तक सम्पूर्ण स्थानों को आत्मासे भरा-हुआ जानो! इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, कि आत्मा देशपरिच्छेद से भी रहित है। अब दिखलाते हैं, कि यह आत्मा वस्तुपरिच्छेद से भी रहित है। देखो! सूर्य्य, चन्द्र, तारागण, सरिता, वन, पर्वत, देव, देवी, दैत्य, दानव, पशु और पक्षी सबमे एक रस व्याप रहा है। वरु ऐसा कहना चाहिये, कि यही एक आत्मा सर्वरूप होकर भासता है। प्रमाण श्रु०—एकोवशी सर्व--भूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषाꣳ सुखꣳ शाश्वतन्नेतरेषाम् ॥ (कठो० अ० २ बल्ली ५ श्रु० १२) अर्थ—सब प्राणियोंके भीतर वही एक आत्मा है जो सबको वशमें रखनेवाला है, जो एक अपने रूपको बहुतसा बनालेता है तिसे जो धीर पुरुष अपनेमें देखते हैं उनहीका सुख

सनातन और स्थिर है, पर दूसरोंका नहीं । इसलिये यह आत्मा वस्तु-परिच्छेदसे भी रहित है ।

एवम् प्रकार यह आत्मा तीनों परिच्छेदोंसे रहित होनेके कारण सर्व काल, सर्व स्थान और सर्व वस्तुओंमें व्यापक होकर सत् रूप है और सदा अविनाशी है । अर्जुनने जो शंका की थी, कि कई कल्पोंके पश्चात् इसका नाश संभव है, इस शंकाका समाधान इन श्रुतियोंके द्वारा होगया, कि आत्माका नाश सहस्रों कल्पोंके पश्चात् भी नहीं होसकता इसी कारण अब भगवान् कहते हैं, कि [विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्त्तुमर्हति] इस अव्यय आत्माका कोई भी नाश नहीं कर सकता । समुद्रको कोई पीजावे तो पीजावे । सूर्य्य चन्द्रको अपनी मूठीमें बांधले तो बांधलेवे । हिमालय, विन्ध्याचल, सुमेरु इत्यादि पर्वतोंको कोई अपनी चुटकियोंसे मलकर चूर करदे तो करदे । पर इस अविनाशी आत्माका नाश देव, देवी, ब्रह्मा, विष्णु और महेश कोई भी नहीं कर सकता है । यह सदासे है और रहेगा, न जन्मेगा न मरेगा । इसी कारण यह अव्यय कहाजाता है " न व्येत्युपचयापचयो न यातीत्यव्ययम्" जो उपचय (वृद्धि) और अपचय (ह्रास) को न प्राप्त हो उसीको अव्यय कहते हैं । इसी कारण भगवानने इस श्लोकमें आत्माको अव्यय कहा है । जो वस्तु अव्यय होगी वह अवश्य जन्मादि * षड् अवस्थाओंसे रहित होगी । क्योंकि जिसका कभी भी जन्म नहीं हुआ वह कदापि घटे वढेगा भी नहीं । इसीलिये यह आत्मा अजन्मा होनेके कारण घटता वढता नहीं। क्योंकि श्रुतियोंमें भी बार-बार इसे अजन्मा

* षड्वस्था=अस्ति । जायते । वर्द्धते । परिणमते । अपक्षीयते । विनश्यति ।

कहा है और भगवान् भी इस गीतामें आगे चलकर इसे बार-बार अजन्मा कहते जावेंगे ।

सर्व शास्त्रोंसे तथा युक्तियोंसे यह सिद्धान्त किया हुआ है, कि जो जनता नहीं वह नाश भी नहीं होता । "**अजातस्यैव धर्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः । अजातो ह्यमृतो धर्म्मो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥ न भवत्यमृते मर्त्यं न मर्त्यममृतन्तथा । प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥** (गौडपादीयकारिका प्रकरण ४ श्लोक १२३, १२४) अर्थ--प्रायः ऐसा देखाजाता है, कि अज्ञानी बादी लोग अजात-धर्म वाले की अर्थात् नहीं जन्मने वालेकी " जाति " जन्म की इच्छा करते हैं अर्थात् जिसका जन्म कभी नहीं होता उसे जन्म-वाला कहने चाहते हैं, पर ऐसा कहना अनर्थ है । क्योंकि जिसका जन्म नहीं होता उसमें अमृत धर्म अवश्य होता है अर्थात् वह कभी मरता नहीं और इसके प्रतिकूल जो मरणशील अर्थात् मरनेके योग्य है, सदा मरता जीता रहता है, उसे अमरत्व पद नहीं होता । ऐसी प्रकृति है । अर्थात् सदासे यही स्वभाव चलाआया है, कि अमर मरे नहीं और मरण-शील अमर होवे नहीं । फिर यह आत्मा जो कभी जन्मा नहीं नाशको क्यों प्राप्त होगा ? क्योंकि यह अव्यय है घटता बढता नहीं है ।

इन कारणोंसे भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन ! इस अव्यय अविनाशी आत्माका कोई भी नाश नहीं करसकता । ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी इसके नाश करनेको असमर्थ हैं— फिर अन्य देव, गन्धर्व, मनुष्य इत्यादिकी क्या गणना ?

इसी प्रकार कोई आश्रय, कोई विषय, कोई इन्द्रिय भी इसे नाश करनेको समर्थ नहीं है। यह तू निश्चय जान ॥१७॥

इतना सुन अर्जुनने कहा भगवन् ! बहुतेरे विद्वान आत्माको नहीं मानते हैं। वे तो ऐसे कहते हैं कि इन्द्रियां द्वारा देखना, सुनना इत्यादि नाना प्रकारकी चेष्टायें जो इस शरीरमें हो रही हैं उनका प्रेरक आत्मा नहीं है वरु पंचभूतोंके मेलकी एक विलक्षण शक्ति है। हे दयासागर सर्वज्ञ ! इन दोनों सिद्धान्तोंमें मैं किसको सत्य मानूं ? इतना सुन भगवान बोले—

मू०—अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

पदच्छेदः—हे भारत ! (भरतवंशावतंस अर्जुन !) नित्यस्य (परिच्छेदत्रयशून्यस्य। सर्वदैकरूपस्य) अनाशिनः (नाशरहितस्य) अप्रमेयस्य (अपरिच्छिन्नस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणैरपरिच्छेद्यस्य।) शरीरिणः (देहाभिमानिनः जीवस्य। आत्मनः।) इमे (अपरोक्षाः) देहाः (उपचितापचितरूपत्वाच्छरीराणि त्रैलोक्यवर्त्ति सर्व प्राणि शरीराणि) अन्तवन्तः (विनाशो विद्यते येषां ते नाशवन्तः।) उक्ताः (कथिताः) तस्मात (अतः) युद्धस्व ! (युद्धादुपरमं माकार्षीः। संग्रामं सम्पादय!)।

पदार्थः— (भारत !) हे भरतवंशावतंस अर्जुन ! (नित्यस्य) सदा एकरस रहने वाले (अनाशिनः) नहीं नाश होने वाले तथा (अप्रमेयस्य) प्रमाण रहित अर्थात असीम होनेके कारण वृद्धि और ह्रासको नहीं प्राप्त होनेवाले (शरीरिणः) इस शरीरके स्वामी

आत्माके (इमेदेहाः) ये देह (अन्तवन्तः) अन्त होजानेवाले (उक्ता) कहेगये हैं। (तस्मात्) इसलिये इनका शोक न करके (युद्धस्व) युद्ध कर ! ॥ १८ ॥

भावार्थः—जब श्रीकृष्ण भगवान् ने आत्माको अविनाशी कहा तब अर्जुनने यह शंकाकी, कि " भूतचैतन्य बादी अर्थात् — अनात्मवादी तो यों कहते हैं, कि जैसे पान, कत्था, सुपारी, और चूना, इन चारोंके मेलसे एक प्रकारकी अरुणाई (लाली) प्रकट होती है, इसीप्रकार क्षिति, जल, पावक, समीर और आकाश इन पांचों भूतोंके मेलसे इस स्थूल पिण्डमें एक चैतन्य-धर्म्म उत्पन्न होजाता है जो इसी स्थूल शरीरका धर्म्म है। सो जैसे-जैसे यह स्थूल दशा-दशामें बनता और विनशता रहता है इसीके साथ-साथ चैतन्य-धर्म्म भी बनता और विनशता रहता है। स्थूलको चेतन करनेवाला आत्मा कोई विलग नहीं है इसलिये हे भगवन् ! मै एक आत्मा चैतन्य अविनाशी इस देहसे भिन्न कैसे मानूँ ?

अर्जुनकी इस शंकाको सुनकर श्रीकृष्ण भगवान् बोले- हे अर्जुन ! **[अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः]** यह जो शरीरी अर्थात् शरीरका स्वामी आत्मा नित्य है, उसीके ये जो देह हैं ये सब अन्तवन्त अर्थात् नाश होनेवाले हैं। यहां " इमेदेहाः " बहु-वचन कहनेका तात्पर्य्य चैरासीलक्ष योनियोंसे भी है तथा स्थूल सूक्ष्म, और कारण तीनों प्रकारके शरीरोंसे भी है। क्योंकि ये तीनों भी अन्त होनेवाले हैं। इनमें स्थूल शरीर तो अग्नि, जल और

पृथ्वीमें जलने, गलने और सडनेसे अन्तको पाता है । पर सूक्ष्म और कारण शरीरका अन्त जलने, गलने और सडनेसे नहीं होता । इसलिये पाठकोंके बोधार्थ इन दोनोंके अन्त होनेका क्रम दिखलाया जाता है ।

सूक्ष्म शरीरके अन्त होनेका क्रम—पहले तो यह जानना चाहिये, कि सूक्ष्म शरीर किसे कहते हैं ? जैसे स्थूल शरीर अग्नि, जल इत्यादि पांच भूतोंके मेलसे बनता है और विनशकर फिर उन्हीं तत्त्वोंमें लय होजाता है । इसी प्रकार यह भी जानना चाहिये, कि सूक्ष्म—शरीर किन-किन तत्त्वोंसे मिलकर बनता है और अन्तमें कहां लय होजाता है ? सुनो! " **भूतेन्द्रियमनोबुद्धिर्वासनाकर्मवायवः । अविद्याचाष्टकं प्रोक्तं पुर्य्यष्टमृषिसत्तमैः** " अर्थात्- १. भूत २. इन्द्रिय ३. मन ४. बुद्धि ५. बासना ६. कर्म ७. वायु ८. अविद्या । इन्ही आठ तत्त्वोंके सार-भागसे अर्थात् इन्हीं आठ तत्त्वोंकी सूक्ष्म शक्तियोंके एकत्र होनेसे पुर्य्यष्टक अर्थात् सूक्ष्म शरीर बनता है। १. पंचभूतोंकी सूक्ष्म शक्तियां पंचतन्मात्रा अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धके नामसे पुकारीजाती हैं । २. इन्द्रियोंकी सूक्ष्म शक्तियां तेजसके नामसे पुकारी जाती हैं । ३. मनकी सूक्ष्म शक्ति संकल्पविकल्पात्मका-अन्तःवृत्तिके नामसे पुकारीजाती है । ४. बुद्धिकी सूक्ष्म शक्ति निश्चयात्मिका अन्तःवृत्तिके नामसे पुकारी जाती है । ५. वासनाकी सूक्ष्म शक्ति वह है जो जीवोंको कर्मसे मिलादेती है, इसीको भावना, संस्कार और स्मृतिहेतके नामोंसे पुकारते हैं । ६. कर्मकी सूक्ष्म शक्तिको संकल्पके नामसे पुकारते हैं। ७. वायवः—प्राण

अपानादि जो वायु हैं इनकी सूक्ष्म शक्तिको व्योमके नामसे पुकारते है जो प्राणमय—कोशका निवासस्थान है। ८. अविद्या=यह स्वयं एक सूक्ष्म शक्ति है जो उक्त सातों शक्तियोंको मिलाकर पुर्य्यष्टक तयार करती है। जिसे कारण-शरीर कहते हैं।

यहां पुर्य्यष्टकमें जो भूत शब्द है इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि वायु, अग्नि, जल इत्यादि जो स्वरूप करके सर्वत्र देख पडते हैं वरु यहां अपञ्चीकृत जो भूत हैं उनसे तात्पर्य्य है। जैसे चुम्बक (अयस्कान्त) एक लोहा होता है जिसे "लोहमणि" भी कहते हैं, जो स्वरूप करके तो एक लोहेके आकारमें है, पर उसमें जो दूसरे लोहाको अपनी ओर खींचनेकी एक गुप्त शक्ति है, तिसका कुछभी आकार नहीं है। लोहमणि तो देखा जाता है, पर उसकी आकर्षण करनेवाली शक्ति नहीं देखी जाती, क्योंकि वह निराकार और अत्यन्त सूक्ष्म है॥ इसी प्रकार यहां भूत, इन्द्रिय इत्यादि कहनेसे सबोंकी गुप्त-शक्तियां समझी जाती हैं, जो अत्यन्त सूक्ष्म हैं, जिनमें दीर्घता, स्थूलता और विस्तीर्णता लेशमात्र भी नहीं पायीजाती है। ये सब शक्तियां स्वप्नमें

=अब अविद्या किसे कहते हैं सो सुनो! "अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्यशुचि सुखात्मख्यातिरविद्या" (पतञ्जलिः) अर्थ—जोनित्य है उसमें अनित्य, जो अशुचि अपवित्र है उसमें पवित्र, जो दुःख है उसमें सुख जो अनात्मा है उसमें आत्माकी ख्याति अर्थात् भ्रम हो उसे अविद्या कहते है। अर्थात् घट पट इत्यादि अनित्य वस्तुओं में नित्यत्वका अभिमान हो, कि ये सत्य है। तथा इस अपवित्र शरीरको पवित्र समझना, दुःखको सुख समझना। इसी प्रकार जो अनात्म र जिसका कहीं भी भाव नहीं है उसमें आत्मत्वका भ्रम होना, पापमें पुण्यका भ्रम होना औ अनर्थमें अर्थका भ्रम होना अविद्या कहीजाती है।

भी काम देती है। केवल अविद्या जो इस पुर्य्यष्टकमें आठवीं शक्ति है वही भूतोंकी तन्मात्रा और इन्द्रियोंकी सूक्ष्मशक्तियोंको मन, बुद्धि, ×वासना, +कर्म और वायुकी सूक्ष्म शक्तियोंके साथ पिण्ड बनाकर सूक्ष्म शरीर तयार करती है। जबतक अविद्या नष्ट नहीं होती तबतक इस सूक्ष्म शरीरका अन्त नहीं होता, वरु यह सूक्ष्म शरीर एक स्थूल शरीरसे निकल कर पंचाग्नि होताहुआ दूसरे स्थूल शरीरको धारण करता है। एवम् प्रकार बारम्बार चौरासी लक्ष योनियोंमें भ्रमता हुआ फिरता है। यह अविद्या जबतक नाश न हो पुर्य्यष्टका नहीं टूटती और तबतक सूक्ष्म शरीरका अन्त नहीं होता। इसलिये अविद्याके नाशके निमित्त विवेक का होना अतिही आवश्यक है। अर्थात् ज्ञानके प्राप्त होते ही अविद्याका नाश होजाता है। अविद्याके नाश हुए पुर्य्यष्टका टूटजाती है। पुर्य्यष्टका के टूटतेही सूक्ष्म शरीर का अन्त होजाता है।

यहांतक स्थूल और सूक्ष्म देहोंका अन्त होजाना दिखलाया गया। अब तीसरे कारण-शरीरके अन्त होजानेका भेद कहते हैं : सुनो ! **बीजावस्थायां सूक्ष्मवृत्तित्वात् विषयव्यापाररहितस्यान्तःकरणस्य सुतरां सुखस्वरूपेणानुभूयतेऽसौ द्रष्टा कारणशरीरः।**

बीजकी अवस्थामें सूक्ष्मवृत्तित्वके कारण विषयोंके व्यापारसे रहित अन्तःकरण के अत्यन्त सुखस्वरूप से जो अनुभव किया जाता है वही

× अफलविपाकात् चित्तभूमौ शेरत इत्याशयः वासनाख्याः संस्काराः-- अर्थात् नाना प्रकारकी वे वृत्तियां जो अनिवार्य्य है जो चित्त भूमिमें उस समय तक सोयीहुयी पड़ी रहती है जब तक उनका फल परिपक्व होकर इष्ट अनिष्ट प्रकट न करे।

+ कर्म (धर्माधर्मौ) अर्थात् जितने पुण्य पाप इस शरीर से होचुके है।

द्रष्टा कारणशरीर (The inner rudiment of the body called causal-frame) है। जैसे किसी वृक्षके वीजमें जो टेढी सीधी मोटी पतली लकीरें देखपडती हैं उन्हीं लकीरोंमें जो सूक्ष्मशक्तियां हैं वेही उस वृक्षके मोटे डाल, पत्ते, मंजर, फूलफल इत्यादिके कारण हैं। इसी प्रकार यह कारणशरीर स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरोंके उत्पन्न होनेका मुख्य कारण है। इसी कारण-शरीरको श्रुतिने भी वीजकी उपमा देकर समझादिया है। श्रु० छांदो०— न्यग्रोधफलमाहरेदिति। इदं भगव-इति। भिन्धीति भिन्नं भगव इति। किमत्र पश्यसीति। इमेवाधाना भगव इति। आसामेकां भिन्धीति। भिन्ना भगव इति। किमत्र पश्यसीति। किंचिन्न भगव इति। अर्थ— श्वेतकेतू जब अपने पिताके समीप आत्मज्ञान प्राप्त करनेके तात्पर्य्यसे गया है तब पिताने उससे कहा है, कि हे पुत्र तू एक बरगदका फल लेआ! पिताकी आज्ञा पाते ही वह फल लाकर बोला (इदं भगव इति) लीजिये हे भगवन्! यह फल लेआया हूं पिताने कहा " इसे तोडदे " पुत्रने तोडकर कहा " भगवन्! देखिये मैंने तोडदिया! " पिताने पूछा-- " इसके भीतर तू क्या देखता है? " पुत्रने कहा " भगवन्! इसमें मैं बहुतसे छोटे-छोटे बीज देखता हूं " फिर पिताने कहा (आसामेकां-भिन्धीति) इनमेंसे एकको तोडडाल! उसने तोड दिया। फिर पिताने पूछा, " तू इन बीजोंके भीतर क्या देखता है? " पुत्रने उत्तर दिया "भगवन्! अब तो मैं इसमें कुछभी नहीं देखता हूं" तब पिताने कहा, हे वेटा! जिसको तू कुछभी नहीं कहता है वही सम्पूर्ण वृक्षका कारण है। इसीसे वृक्षके फल और फूल डाल-डालमें सुशोभित होते हैं।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जैसे वृक्ष और उसके बीजकी उत्पत्ति एक निराकार और अदृश्य सत्तासे है । इसीप्रकार स्थूल और सूक्ष्म शरीरकी भी उत्पत्ति एक निराकार और अदृश्य सत्तासे है जिसे कारण-शरीर कहते हैं ।

स्थूल शरीरको जाग्रत अवस्थासे सम्बन्ध है । सूक्ष्म शरीरको स्वप्न अवस्थासे सम्बन्ध है । कारण शरीरको सुषुप्ति अवस्थासे सम्बन्ध है । सो कारण-शरीर भी तुरीय अवस्थाके प्राप्त होनेसे अन्त होजाता है। क्योंकि तुरीयावस्थाके प्राप्त होतेही सब शरीरोंका अन्त होकर केवल आत्मा ही आत्मा रहजाता है । उक्त सिद्धान्तोंसे सिद्ध होता है, कि स्थूल-शरीरका अन्त जलने, गलने और सडनेसे होजाता है । सूक्ष्म शरीर का अन्त विद्यासे अर्थात् ज्ञानसे और कारण-शरीरका अन्त तुरीय अवस्थाकी प्राप्तिसे होजाता है । इसलिये भगवान्ने " अन्तवन्त इमेदेहाः* " कहा है (नित्यस्योक्ताशरीरिणः अनाशिनोऽप्रमेयस्य) "नित्यस्य० " सर्वदा एकरस रहनेसे जो यह शरीरी (आत्मा) नित्य कहाजाता है, नहीं सडने गलनेके कारण जो अविनाशी कहाजाता है और प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे रहित होनेसे जो अप्रमेय कहाजाता है तिसी शरीरी अर्थात् आत्माके ये तीनों देह कहेगये हैं ।

इस आत्माको भगवान्ने शरीरी इस कारण कहा, कि जितने शरीर इस ब्रह्माण्डमें पाताललोकसे ब्रह्मलोक तक हैं सबोंका प्रकाश करनेवाला स्वामी और सबोंको अपनी आज्ञामें चैतन्य रखनेवाला

* बहुवचनात्स्थूल सूक्ष्म कारण रूपाः- " मधुसूदनः भाष्योत्कर्षदीपिका च "

अन्तर्य्यामी वही एक आत्मा है । प्रमाण— श्रु० एकोदेवः सर्व-भूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

अर्थ— वह जो एक देव आत्मा है वह सब शरीरोंमें गूढ रूपसे स्थित है । सबोंमें एक रस व्यापहुआ है । जितने भूतमात्र हैं सबका अन्तरात्मा है अर्थात् सबके भीतर ही भीतर सबको चैतन्य करनेवाला है । कर्म्माध्यक्ष है अर्थात् पाप पुण्यका निरीक्षक है । सर्व भूतोंका अधिष्ठान है । सबका साक्षी है । चैतन्य रूप है । केवल है अर्थात् सदा अकेला रहनेवाला है । निर्गुण है अर्थात् मायाके गुणोंसे रहित है ।

इस श्रुतिमें जो यह कहा, कि यह आत्मा सर्व भूतोंका अधिष्ठान है इसे प्रश्नोपनिषद्की श्रुति एक उत्तम दृष्टान्त देकर बतलाती है—स यथा सौम्य वयांसि वासो वृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर-आत्मनि संप्रतिष्ठते (प्रश्नो० प्रश्न ४ श्रु० ७) अर्थ— हे प्रिय दर्शन ! जैसे काकादि पक्षीगण रात्रीके समय वृक्ष पर एक ठौर आनकर निवास करते हैं इसी प्रकार पातालसे लेकर ब्रह्मलोक पर्य्यन्त जितने भूत हैं सब इस परआत्मामें निवास करते हैं। इसी कारण भगवान्ने आत्माको शरीरी कहा ।

इस श्लोकमें भगवान्ने जो आत्माको अप्रमेय कहा इसका कारण यह है, कि इसके सिद्ध करनेके लिये किसी अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह स्वयं प्रमाण स्वरूप ही है । जैसे सूर्य्य-

देव अपने प्रकाशसे इस संसारके घट पट इत्यादि सर्व वस्तुओं को प्रकाश करता है पर उसके देखनेके लिये किसी दूसरे प्रकाशकी आवश्यकता नहीं है। यदि सूर्य्यके देखनेके लिये भी कोई दूसरा प्रकाश माना जावे तो उस दूसरे प्रकाशके देखनेको भी तीसरा प्रकाश मानना पडेगा और उस तीसरे प्रकाशके देखनेके लिये भी चौथा प्रकाश मानना पडेगा तो ऐसा सिद्धान्त करनेसे अनवस्था दोषकी प्राप्ति होती है। इसलिये यह हटात् मानना ही पडेगा, कि सूर्य्यके देखनेके लिये किसी अन्य प्रकाशकी आवश्यकता नहीं है। यदि यह कहो, कि पुराणोंसे तथा अन्य शास्त्रोंसे द्वादश आदित्य सिद्ध कियेगये हैं जिन में एकसे दूसरेको प्रकाश मिलरहा है तो ऐसा माननेमें किसीप्रकारकी हानि नहीं देखी जाती केवल इतना कहना पडेगा, कि वह जो सबोंका प्रकाश करनेवाला बारहवां सूर्य्य है वह तो स्वयं प्रकाश है तो फिर अनवस्था दोषकी प्राप्ति न होगी। अभिप्राय यह है, कि कहीं तो जाकर रुकना ही पडेगा। फिर जहां बुद्धि रुकगई वहां ही उसको स्वयं—प्रकाश मानना पडेगा। इसी लिये आत्मा जो स्वयम् सब वस्तुओंका प्रमाण है स्वयं सिद्ध है। इसका कोई दूसरा प्रमाण नहीं है इसी लिये भगवानने इसे इस श्लोक में "अप्रमेय" कहा।

अब भगवान् कहते हैं, कि [तस्माद्युद्धस्व भारत !] हे भारत ! शोक मोह त्यागदे और युद्ध कर! क्योंकि आत्मा तेरे बाणों से कभी मरनेवाला नहीं फिर तू शोच किसका करता है? मैं बारम्बार तुझसे यही कहूँगा, कि तू इन अपने बन्धुवर्गोंके आत्मा को नित्य और देहको नश्वर जानकर युद्ध कर! युद्ध कर! ॥ १८ ॥

इतना सुन अर्जुनने कहा भगवन् ! मैं तो इनके मारनेका कुछ भी शोक न करके युद्ध करूं पर शास्त्रोंमें " प्राणवियोगानुकूलव्यापारोहिंसा " प्राण वियोगके अनुकूल व्यापार को हिंसा कहते हैं सो हिंसाका पाप तो मुझे लगेही गा । इस शंकाके समाधानमें भगवान कठवल्ली उपनिषद्की श्रुति ज्यों की त्यों अर्जुनको सुनाकर निःशंक करते हैं ।

मू०— य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

पदच्छेदः— यः (पुरुषः । तार्किकादिः ।) एनम् (अविकारिणमकारकस्वभावमात्मानम् ।) हन्तारम् (हननक्रियायाःकर्त्तारम् घातकम् ।) वेत्ति (जानाति) च (तथा) यः (चार्वाकादिः) एनम् (आत्मानम् ।) हतम् (हनन क्रियायाः कर्मभूतम् ।) मन्यते (बुध्यते) तौ (पूर्वोक्तौ) उभौ (द्वौ । देहात्मबुद्धिमत्वेनभ्रान्तौ ।) न (नैव) विजानीतः (विवेकेन जानीतः ।) अयम (आत्मा ।) न (नहि) हन्ति (हनन क्रियाया कर्त्ता भवति ।) न (नैव) हन्यते × (हनन क्रियायाः कर्म भवति । ॥ १९ ॥

पदार्थः— (यः) जो पुरुष (एनम्) इस आत्माको हन्तारम्) मारनेवाला (च) और (यः) जो पुरुष (एनम्) इसको (हतम्) माराहुआ (वेत्ति) जानता है (तौ) वे (उभौ) दोनों (न विजानीतः) कुछ नही जानते हैं क्योंकि (अयम्) यह

× षड्भाव विकार शून्यत्वात् ।

आत्मा (न) नतो (हन्ति) मारता है (न हन्यते) न माराजाता है॥ १९॥

भावार्थः— यहां श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनके हृदयमें आत्मा का अक्रिय, अजर, अमर और अविनाशी होना दृढ करते हुये और हिंसा दोषकी निवृत्ति दिखलातेहुए कहते हैं, कि [**य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्**] हे अर्जुन ! जो लोग इस आत्मा को मारनेवाला या मरनेवाला जानते हैं वे लोग अज्ञानी हैं कुछ नहीं जानते, आत्मज्ञानसे एक बारगी रहित हैं क्योंकि यह आत्मा किसीका हनन करनेवाला नहीं है, यह अक्रिय अर्थात् क्रिया रहित होनेसे किसी भी कार्य्यका कर्त्ता नहीं होसकता है। मैं तुझे पहले कहआया हूं, कि यह सब कर्मोंका साक्षीभूत है, पर यह स्वयं किसी क्रियाक कर्ता नहीं है। इसी कारण यह आत्मा किसीको हनन नहीं करता और न हनन कियेजानेसे आप हनाजाता है। क्योंकि यह साक्षीभूत आत्मा किसी भी क्रियाका न कर्त्ता है न कर्म्म है। इसीकारण इसका कोई कुछ नहीं करसकता यह तो कर्त्ता और कर्म तथा दुःख सुखका केवल साक्षीभूत है । यह विषय यहां एक दृष्टान्त देकर समझाया जाता है।

एक नौका काशीसे पथिकोंको लेकर प्रयाग राजकी ओर चली। एक ओर उसमें बहुतेरे छोटे-छोटे बालक और एक ओर मछलियोंकी टोकरियां भरी हुई थीं। अकस्मात् मध्य मार्ग तक पहुँचते-पहुंचते टूटकर गंगामें डूबगयी। सब पथिक मृत्युको प्राप्त होगये।

तहां यह नहीं कहा जासकता है, कि नौकाने अथवा गंगाने पथिकोंको डुबाकर मारदिये और इनको हिंसाका पाप लगा। यह तो काष्ठका

स्वभाविक धर्म्म है, कि जलके प्रवाहमें पडनेसे एक स्थानसे दूसरे स्थानको गमन करता है। इसीप्रकार जलका भी स्वाभाविक धर्म्म है, कि नौकाको एक स्थानसे दूसरे स्थानको लेजाता है उसे इस बातकी परवा नहीं है कि मेरे कारण किसी प्राणीको दुःख होरहा है अथवा सुख जैसे उस नौकाके डूबनेसे मनुष्योंके बच्चोंका तो अत्यन्त ही कष्टहुआ सबके सब मरगये, पर मछलियोंके बच्चे जो अधमरे होरहे थे और बडी व्याकुलताके साथ मररहे थे डूबनेसे बड़े हर्षको प्राप्त हुये उछल-उछल कर पानीमें आनन्दपूर्वक तैरने लगे और कल्लोलें करने लगे। यहां विचार कर देखो! कि पानीको न मनुष्योंके बच्चों को मारने का दोष लगा और न मछलियोंके बच्चोंके जिलानेका कुछ पुराय हुवा। वह पानी तो दोनों दशामें साक्षीभूत रहा। पानी न आप मरा, न जीया, न उसने कीसीको मारा न जिलाया। न किसीको दुःख दिया न किसीको सुख दिया।

इसीप्रकार यह चैतन्य आत्मा सब प्राणियोंका साक्षीभूत है। देहके बनने विनशनेसे यह स्वयं बनता विनशता नहीं। इसकारण आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं कि हे अर्जुन! जो प्राणी इस अत्माको हननकरने वाला मानता है अथवा हनन होनेवाला मानता है अर्थात् जो ऐसा समझता है कि मैंने उसको मारा और जो ऐसा समझता है कि उसने मुझको मारा [उभौ तौ न वीजानीतो नायं हन्ति न हन्यते] तो जानेरहो, कि ये दोनों आत्माको पूर्णप्रकार नहीं जानते। क्योंकि देहाभिमानके कारण इस प्राणीके निर्मल अन्तःकरण पर अज्ञानता द्वारा इष्ट अनिष्टका आवरण पडाहुआ है। इसी कारण

इसको अपने और अपने सम्बन्धियोंके शरीरमें मोह लगा हुआ है। अतएव यह मारने और मरने में दुःखी और शोकातुर होता है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! तू भी इस समय शोकग्रस्त होरहा है और युद्धसे मुह मोरता है। तू इनको अपना इष्टमित्र और सम्बन्धी तथा अपना स्नेही समझ रहा है। इसलिये तुझे युद्ध करनेमें रुकावट होती है। यदि तू इनको अपना शत्रु समझता तो तुझको इनके मारनेमें कुछ भी शोक नहीं होता। क्योंकि निवातकवच राक्षसके संग युद्ध करनेमें तो तुझे इतना शोक नहीं हुआ था। इसीसे सिद्ध होता है, कि केवल इष्ट अनिष्टके कारण प्राणियों को शोक मोह इत्यादिकी प्राप्ति होती है, पर आत्मज्ञानियोंको ऐसा नहीं होता। जब तू ज्ञानकी दृष्टिमें देखेगा तो तूझे बोध होजावेगा, कि न तू मरनेवाला है न ये मारनेवाले हैं। यह तो देहका धर्म है, कि शस्त्र इत्यादिके घातसे इनके संयोगकी क्रियाका विभाग होकर पांचों भूत पांचों भूतोंमें जामिलते हैं, और आत्मा निर्लेप निर्विकार अविनाशी ज्योका त्यों रहता है। न मरता है न मारता है। दूसरी बात यह है कि धर्म्मके सम्मुख होनेसे सर्व प्रकारके विकार और दोष भस्म होजाते हैं। जैसे अग्निके संयोगसे रूईका ढेर भस्म होजाता है। इसी प्रकार अपना धर्म्म अग्नि है जिसके संयोगसे हिंसादि सर्व पाप भस्म होजाते हैं। सो हे अर्जुन! तू क्षत्रिय धर्म्मको अंगीकार कर युद्ध करेगा तो हिंसादि पाप सब तेरे धर्मसे भस्म होजावेंगे। यह निश्चय है। हां! अधर्मके संयोगसे जो हिंसादि होते हैं वे अवश्य पाप होकर नरक लेजाते हैं अर्थात् जहां मरना मारना धर्म्मसे विरुद्ध है, जहां वेद

ने निषेध किया है वहां अवश्य मारनेवाले को हिंसा होती है, पर युद्ध में, यज्ञ इत्यादिमें देहका हनन होना हिंसा नहीं है। जैसे नौकाकी मछलियोंके पानी में डुबादेनेकी हिंसा न हुई। क्योंकि वे सब आनन्द को प्राप्त होगई। इसी प्रकार जो तू इनको मारेगा तो ये सब युद्धमें मारजानेके कारण उछलते कूदते स्वर्गको चले जावेंगे तेरेको कुछ पाप न होगा वरु पुण्य होगा। आत्मा तो हनन होताही नहीं इसलिये आत्मा तो अबभी इनके साथ इनका साक्षी है और स्वर्गमें भी इनके साथ इनका साक्षी रहेगा। फिर तुझको पाप कैसा ?।

यहां इस श्लोकमें जो "य एनं वेत्ति हन्तारम्" फिर "यश्चैनं मन्यते हतम्" यहां "यः च एनम्" इनने पदों को दोबार कथन किया नहीं ऐसी पुनरुक्ति करनेकी आवश्यकता न थी "य एनं वेत्ति हन्तारं हतंवा" इतनाही करने से अर्थ निकलजाता है पर यहां नैयायिको और चार्वाकोंके मतको दिखानेके लिये वाक्यको दोबार कथन किया है। प्रथम "यः एनम्" से नैयायिकोंके मतको दिखलाया क्योंकि वे आत्माको हनन इत्यादि क्रियाका कर्ता मानते हैं। और दूसरेसे चार्वाका-दिकोंका मत दिखलाया क्योंकि वे शरीररूप आत्माको नश्वर मानते हैं। अथवा केवल इतनाही कहना बहुत है, कि भगवानने केवल वाक्योंके अलंकार और आत्माकी दृढ़ताके निमित्त इन पदोंको दोबार कथन किया।

यह श्लोक कठोपनिषद् वाक्योंमें भी ज्योंका त्यों श्रुति भी है। केवल प्रथम आधे श्लोकमें श्रुतिमें इतनाही अन्तर है, कि श्लोकमें "य एनं वेत्ति

हन्तारम् यश्चैनं मन्यते हतम् " ऐसा पाठ है और श्रुतिमें " हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन् मन्यते हतम् " ऐसा पाठ है। पर अर्थ में कुछ भेद नही है।

अब भगवान् अगले श्लोकमें आत्माका मारने और मरनेके विकारसे तथा षडभाव विकारसे रहित होना और अविनाशी होना दिखलाते हैं ॥। १६ ॥

मू०—न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः
अजो नित्यः शास्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

पदच्छेदः—न (नैव) जायते (अभिनवरूपेणोत्पद्यते ।) वा (अथवा) म्रियते (विनश्यति। मृत्युं प्राप्नोति) वा अयम (आत्मा) कदाचित् (कस्मिन्नपिकाले) न (नैव) भूत्वा (भवन क्रियाम-नुभूय) भूयः (पुनरपि) न (नहि) भविता (भविष्यति) अयम् (आत्मा) अजः (जन्म रहितः) नित्यः (विनाशायोग्यः सर्वदैक-रूपः ।) शाश्वतः (निरवयवत्वान्निर्गुणत्वादपक्षयरहितः ।) पुराणः (सनातनः । पुरापि नव एक रूपो नत्वधुनां नूतनां कांचिदवस्थामनुभवति यः।) शरीरे (देहे) हन्यमाने (हननविषयी क्रियमाणे) न (नैव) हन्यते (हन्तुं योग्यो भवति) ॥ २०

पदार्थः— (अयम्) यह आत्मा (न जायते) कभी नहीं जन्म लेता है (वा) अथवा [न] न कभी (म्रियते) मरता है

और (कदाचित) कभी भी किसी कालमें (न) नहीं (भूत्वा) उत्पन्न होकर (भूयः) फिर कभी (न) नहीं (भविता) उत्पन्न होगा इसलिये (अयम्) यह (अजः) अजन्मा है, (नित्यः) नित्य है, फिर (शाश्वतः) सदा रहनेवाला है और (पुराणः) अनादि कालसे वर्त्तमान है। इसलिये (शरीरे) देहके (हन्यमाने) नष्ट हुए वा हनन कियेजानेसे यह आत्मा कभी (न हन्यते) हनन नही होता है ॥ २० ॥

भावार्थः—अब श्री गोलोक बिहारी जगत हितकारीने जो पूर्व श्लोकमें अर्जुनको श्रुतिका प्रमाण देकर यह दिखलाया, कि यह आत्मा मरने मारनेसे रहित है। अर्थात् नित्य है इसी विषयको और भी अधिक स्पष्ट करदेनेके तात्पर्य्यसे काठकोपनिषद्के अध्या० १ बल्ली २ श्लो० १८ को ज्यों का त्यों कथन करतेहुए आत्माको जन्म मरण इत्यादि षड्भाव विकारोंसे रहित दिखलाते हुए कहते हैं, कि [**न जायते म्रियते वा**] यह आत्मा कभी किसी कालमें जन्म नहीं लेता है, न कभी मरता है। क्योंकि जन्मता ही नहीं तो मरे कौन ? इसलिये भगवान्ने अर्जुनको यह दिखलाया, कि देहके जन्मने और मरनेसे अर्थात् बनने और विनशनेसे आत्मा बनता विनशता नहीं। क्योंकि जितनी वस्तु उत्पत्ति और विनाशवाली हैं उन सबोंमें षड्भाव विकार अर्थात् छै प्रकारके विकार अवश्य होते हैं, पर आत्मा इन छवों विकारोंसे रहित है। इस कारण बनता विनशता नहीं। ये छवों विकार कौन हैं सो कहते हैं— " **जायतेऽस्ति वर्द्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते**

नश्यति " (यास्कः) अथवा जायते, अस्ति वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते विनश्यति। इति षड्भाव विकाराः। " वार्ष्यायणिरिति निरुक्तः " यास्क मुनिका सिद्धान्त है, कि जितनी जन्मलेनेवाली वस्तु हैं उनमें छवों प्रकारके विकारोंका होना आवश्यकीय है— १. जायते—जन्म लेता है २. अस्ति—जन्म लेकर कुछ काल रहता है ३. वर्द्धते— जब तक रहता है तब तक बढता रहता है ४. विपरिणमते-- बढकर फिर घटता जाता है ५. अपक्षीयते-- क्षय होता चलाजाता है ६. नश्यति- एक-दम नाश होजाता है। अर्थात् जन्मना, रहना, बढना, घटना, क्षय-होना और नाश होना यही छै विकार हैं जो जन्मने मरनेवाली वस्तुओंमें होते हैं। भगवानके कहनेका अभिप्राय यह है, कि यह आत्मा छवों विकारोंसे रहित है इसी कारण इस आत्माको प्रथम विकारसे रहित दिखलानेके लिये इस श्लोकमें " न जायते " ऐसा पद कहा अर्थात् आत्मा कभी जन्म नहीं लेता। जन्म लेनेका लक्षण जो वस्तु वस्तुकी विक्रिया है सो इस आत्मामें विद्यमान नहीं होती क्योंकि अजन्मा है। इसी प्रकार यह आत्मा सदा चैतन्य होनेके कारण विना-श लक्षणसे भी रहित है अर्थात् मरता नहीं है, इसलिये भगवानने इसको " न म्रियते " कह कर छठवें विकारसे रहित दिखलाया।

तीसरा विकार जो अस्ति है उस अस्तित्वरूप विकारसे रहित दिखलानेके लिये कहते हैं, कि [कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः] अर्थात् यह पहले कभी न होकर फिर पीछे उत्पन्न नहीं होता क्योंकि जो वस्तु पहले न होकर फिर होवे उसीसे जन्म लेकर अस्तित्वके विकारका लक्षण होता है। अर्थात् वही वस्तु कुछ

काल मध्यमें रहता है। सो इन लक्षणोंमेंसे कोई लक्षण आत्मामें नहीं है फिर इसे अधिक दृढ़ करनेके लिये तीसरी बार भगवान् कहते है, कि [अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः] यह अज है, कभी जन्मता नहीं है, नित्य है, शाश्वत है और पुराण है। यहां आदि और अन्त दोनो विकारोंका कथन करके मध्यवर्त्ती जो चार विकार हैं उनका भी आत्मामें प्रतिषेध करनेके लिये इतना ही कहना बहुत था, तथापि वर्धते, परिणमते, और अपक्षीयते इन तीनों विकारोंसे रहित करनेके तात्पर्य्यमें यों कहा, कि +"शाश्वतोऽयंपुराणः" यह शाश्वत है और पुराण है। तहां शाश्वत उसीको कहते हैं जिसमें अपक्षय और अपचय न होवे सो यह आत्मा निरवयव और निर्गुण होनेके कारण अपक्षय और अपचय रूप विकारोंसे रहित है अर्थात् सदा ज्योंका त्यों रहता है। फिर बढता घटता नहीं है। इसी कारण कहा, कि यह पुराण है अर्थात् बहुत दिनोंसे है, पर सदा नवीन ही रहता है। इसी से भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! [न हन्यते हन्यमाने शरीरे] शरीरके हनन कियेजानेसे यह हनन नहीं होता चाहे किसी दशामें इस देहका परिवर्त्तन क्यों न होजावे, पर इसके परिवर्त्तनसे अर्थात् युवा, वृद्ध, जर्जरीभूत और रोगग्रस्त होनेसे आत्मामें कुछभी विकार नहीं होता—प्रमाण श्रु०— स ब्रूयान्नास्य जरायै तज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यते एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम् ॥ (छांदोग्य उप०) अर्थ— वह कहता है, कि इसकी जरासे अर्थात् शरीरके वृद्ध और जर्जरी भूत होने

+ आद्यन्तयोर्विक्रिययोः प्रतिषेधे सर्वा विक्रिया प्रतिषिद्धा भवन्ति तथापि मध्यभाविनीनां विक्रियाणां प्रतिषेधो यथारयादित्याह- शाश्वतोऽयं पुराणः। (शंकराचार्य्यः)

से यह आत्मा वृद्ध और जर्जरीभूत नहीं होता। इसके वध होनेसे वह बध नहीं होता। यह बूह्मपुर सत्य है अर्थात् यह ब्रह्मस्वरूप ही है। इस कारण यह सिद्धान्त होगया, कि आत्मा जो नित्य है इसका कोई नाश नही करसकता और देह जो अनित्य है इसे कोई सदा रख नहीं सकता। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! तू किसीके मरने जीनेकी चिन्ता मतकर ॥ २० ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें यह दिखलाते हैं, कि इस आत्माके अविनाशी जानने वालेको किस प्रकारका बोध प्राप्त होता है ? अर्थात् किसीको मारता है वा नहीं।

मू०—वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषःपार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

पदच्छेदः—हे पार्थ ! (हे पृथापुत्र अर्जुन !) यः (विद्वान् पुरुषः ।) एनम् (आत्मानम् ।) अविनाशिनम् (नाश रहितम्। अन्त्यभाव विकाररहितम् । अवध्यम् । सत्यम् ।) नित्यम् (सर्वदाविद्यमानम्) अजम् (जन्मरहितम्) अव्ययम् (अपक्षाय रहितम् अपरिणामि । जन्मविनाशशून्यम्) वेद (शास्त्राचार्य्योपदेशाभ्यामपरोक्षी करोति । विजानाति ।) स (आत्मदर्शी) पुरुषः (पुमान् ।) कथम् (केन प्रकारेण) कम् (जीवम्) घातयति (हन्तारं प्रयोजयति । परै र्हननं कारयति ।) कम् (पुरुषम्) हन्ति (मारयति ।) ॥ २१ ॥

पदार्थः—(पार्थ!) हे अर्जुन (यः पुरुष) जोपुरुष (एनम) इस आत्माको(अविनाशिनम्) नाश रहित (नित्यम्) सदा एक रस वर्त्तमान

तथा (अजम्) जन्म रहित और (अव्ययम्)* घटने बढनेसे रहित जानता है (सः पुरुषः) सो पुरुष (कथम्) क्यों (कम्) किसको (घातयति) हनन करवावे वा (कम्) किसको (हन्ति) हनन करे अर्थात् वह न किसीसे किसीका हनन करवाता है न आप हनन करता है ॥ २१ ॥

भावार्थः— आत्माको अविनाशी इत्यादि विशेषणोंसे विशिष्ट जाननेवाले विद्वानोंकी पहचान बतातेहुए श्यामसुन्दर आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति बोले [**वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्**] जो विद्वान् इस आत्माको सदा नाशरहित, सदैव एकरस रहनेवाला, जन्मसे रहित अजन्मा और अव्यय अर्थात् कभी किसी कालमें अपचयको नहीं प्राप्त होनेवाला जानता है अर्थात् जो प्राणी आत्मज्ञानी है, जो सर्वत्र आत्मा ही आत्मा देखता है जो ग्रहण त्यागसे रहित शान्तरूप सर्व संकल्प वर्जित है, अर्थात् संकल्पजालसे रहित और मायाजालसे मुक्त है, जिसका प्रपंच उपशम होगया है, जिसके हृदयसे वासना दूर होगई है और जो तृष्णारूपी बन्धनको काटकरे निर्म्मल आत्मपदको प्राप्त हुआ है, वही पुरुष इस आत्माको अविनाशी, नित्य, और अव्यय जानता है ।

यहां भगवान्‌ने पूर्व श्लोकोंमें कथन किये हुए ही चार गुणोंको फिर कथन किया। पर इसे पुनरुक्ति अर्थात् दोबारा कहनेका दोष नहीं समझना

* अव्ययम्—न विद्यते व्ययोऽवयवापचयो गुणापचयो वा यस्य तमव्ययम्—जिसमें अवयवोंका तथा गुणोंका अपचय न हो । अर्थात् जो शरीर अथवा गुण करके घटै नहीं अर्थात् पूर्व अवस्थाको जो न परित्याग करे उसे अव्यय कहते है ।

चाहिये वह भगवान्ने अर्जुनको तथा अर्जुनके मिससे सम्पूर्ण संसारको आत्माका मुख्य स्वरूप जनादेनेके तात्पर्य्यसे पहले-पहल इनही चार विशेषणोंको दिखलाया है।

पाठकोंके कल्याण निमित्त ये चारों विशेषण युक्तियों और श्रुतियोंसे सिद्ध कर स्पष्ट रूपसे दिखलायेजाते हैं। अविनाशी— सबसे पहले इस आत्माका अविनाशी होना सिद्ध किया जाता है। पहले जो छवों प्रकारके विकारोंका कथन होचुका है उनमेंसे अन्त्यभावविकार जिसमें होवे, अर्थात् आज अथवा सहस्र वर्षोंके पश्चात् वा सहस्र कल्पोंके पश्चात् भी, जो एक बारगी देखनेमें न आवे अविदित होजावे, अर्थात् जिसे फिर किसी बाहरवाली दृष्टिसे वा अन्तःकरणकी दृष्टि वा ज्ञानकी दृष्टिसे वा विज्ञानमय दृष्टिसे वा विचारकी दृष्टिसे वा किसी अन्य अलौकिक दृष्टिसे न देखसकें उसे अन्त्यभावविकारवाला अर्थात् नश्वर कहते हैं। जैसे यह प्राणी, जो बचपनमें बाहरवाली दृष्टिसे अपने पितामहके देहको काला वा गोरा दुबला वा मोटा देखरहाथा उसे आज नहीं देखता है। न उस स्वरूपको फिर कभी ज्यों का त्यों आगे देखेगा। हां किसी अन्यस्वरूपमें देखे तो देखसकता है। क्योंकि उसमें अन्त्यभाववाला विकार जो छठवां विकार है, होचुका है। और इस विकारके होने का कारण यही था, कि वह शरीर किसी कालमें उत्पन्न होचुका था अर्थात् प्रथम विकारका स्पर्श होगया था इस कारण शेष सब विकारोंको इसमें प्रवेश करनेका अवकाश मिलगया। इसी कारण धीरे-धीरे इसमें अन्तवाले विकारने भी प्रवेश किया। अर्थात् नाश होगया, पर उसका आत्मा

इस अन्त्यभाव वाले विकारसे रहित है क्योंकि यद्यपि इसे बाहर वाली दृष्टिसे तो किसी कालमें नहीं देख सकते, पर अन्तःकरणकी दृष्टि, दिव्य दृष्टि, विचारदृष्टि, ज्ञानदृष्टि और विज्ञानदृष्टि से जैसे यह पहले देखा-जाता था अब भी देखाजारहा है, आगे भी अवश्य देखा जावेगा। अर्थात् अन्त्यभाव वाला विकार इस आत्मामें नहीं प्रवेश करेगा। इसी कारण भगवान्ने इसे अविनाशी कहा।

शंका—तुम कैसे जानते हो, कि यह आत्मा अज है इसीकारण इसको अविनाशी भी कहना चाहिये ? क्योंकि किसी वस्तुको वा किसी तत्त्वको अज और अविनाशी वही कहसकता है जो स्वयम् अज और अविनाशी होवे। क्योंकि जब कहनेवाला ही पहले नष्ट होजावेगा तो जिसको वह अविनाशी कहता है यह संभव है कि कहनेवालेके स्वयम् नाश होनेके दो चार सहस्र वर्षोंके पश्चात् नाश होजावे, फिर पातालसे ब्रह्मलोक लकके रहनेवाले और स्वयम् ब्रह्मा भी नाश होजानेवाले कहेगये हैं तो इनको भी किसी दूसरेको अविनाशी कहनेका क्या अधिकार है ? इस कारण हम इस आत्माको कभी न कभी नाशमान् मानते हैं।

समाधान—सुनते हैं, कि ब्रह्म जिसे कोई गौड और कोई अल्ला कहता है अज और अविनाशी है। सब विद्वान, ज्ञानी, विज्ञानी इत्यादि ऐसे ही कहते हैं अर्थात् तिस एक ब्रह्मको सबही नित्य मानते हैं। उसी ब्रह्मने हम जीवोंको कल्याण निमित्त आकाश-वाणी द्वारा अपने चार महावाक्य चतुर्मुख ब्रह्माके ध्यानमें सुनाये, जिनमें एक महावाक्य यह है "अहं ब्रह्मास्मि" जिसका अर्थ यह है, कि मैं "ब्रह्म हूं

और आत्मा हूं " इस महा वाक्यसे ब्रह्मका आत्मा होना सिद्ध है। फिर मांडूक्योपनिषद् की श्रुति भी कहती है " अयमात्मा ब्रह्म " कि यह जो आत्मा है सो ही ब्रह्म है। इन वचनोंसे आत्माका ब्रह्म होना सिद्ध है। सो ब्रह्म अविनाशी है और व्यापक है इसलिये आत्मा को भी अविनाशी और व्यापक जानना चाहिये । हे वादी! तुमने जो पूछा था, कि जो इस आत्मासे भी पहलेसे हो और पीछे तक रहे वही इसके अजन्मा और अविनाशी होनेका साक्षी होसकता है, सो हमने तुमको बतादिया, कि दूसरेने नहीं वरु स्वयम् ब्रह्मने ही महा-वाक्यों द्वारा तथा श्रुतियों द्वारा इस आत्माको अविनाशी कहा है । इस कारण इसे अविनाशी मानना चाहिये! अनेक शास्त्रवाले जो इसे नाशमान् मानते हैं सो उनकी भूल है । वे यथार्थ तत्त्वसे वंचित होने के कारण ऐसा मानते हैं ।

वादी—तुम्हारे कथनसे सिद्ध होता है, कि ब्रह्म और आत्मा एक ही है तो फिर तुमको उचित है कि इनके कहने वा जाननेके लिये तीसरा कोई बताओ!

उत्तर— अरे जहां एकही पुरुष अनादिकालसे बैठा हो दूजा कोई न हो तहां अपने को छोड दूसरा किसको कहे? इस कारण ब्रह्मने अपने ही को आत्मा कहा। प्रमाण श्रु०— यत्रहि द्वैतमिवभवति त-द्दितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरꣳ शृणोति तदि-तर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं

शृणुयात्तत्केनकमभिवदेत्तत्केनकमन्वोचत्तत्केन कं विजानीयात्। येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरेकेन विजानीयादिति ॥ (बृहदा० अध्या० २ ब्राह्मण ५ श्रु० १४)

अर्थ— जहां दो होते हैं तब एक दूसरेको सूंघता है, एक दूसरेको देखता है, एक दूसरेकी सुनता है, एक दूसरेको कहता है, एक दूसरेको मानता है, एक दूसरेको जानता है और जब सर्वत्र आत्मा ही आत्मा एक भास रहा है वा भासने लगता है तब कौन किसको सूंघे? कौन किसको देखे! कौन किसकी सुने? कौन किसको कहे? कौन किसको मनन करे? कौन किसको जाने? जिस एक आत्मा द्वारा ये सब जाने जाते हैं, वह फिर किस करके जाना जावे? और जो सबका स्वयम् जानने वाला है वह भला किसके द्वारा जाना जासकता है। इसलिये हे वादी! तेरी ऐसी शंका कि आत्माको अज अविनाशी कहनेके लिये एक तीसरा होना चाहिये निरर्थक है- यदि कहे तो वही आपसे अपनेको कहे। इसी कारण महावाक्योंके द्वारा उसने आप अपने को कहा। इनही वाक्योंसे चारे वेद उत्पन्न हुये। फिर ये इनको कहते कहते नेति नेति कहपडे अर्थात् वचन द्वारा इनको कहना असंभव बताया। इसी कारण अन्तमें श्रुतिने कहदी, कि "यतो वाचा निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" जहां वचन भी न प्राप्त करके मनके साथ-साथ रुक जाते हैं। कुछ कहना नहीं बनता मूक होकर रहना पडता है। जो विद्वान इसे जानता भी है वहभी इसके यथार्थ स्वरूपको ज्योंका त्यों मुखसे उच्चारण करनेमें असमर्थ है। क्योंकि वह भी इस आत्माकी विस्तृत महिमाको जान आश्चर्य्यमें डूब

जाता है। भगवान् आगे इसी अध्यायके श्लोक २६ में कहेंगे कि "आश्चर्य्यवत् पश्यति कश्चित्"

स्वयं ब्रह्मने आकाशवाणी द्वारा इस आत्माको अपना स्वरूप बताया इस कारण इसे अविनाशी कहनाही पड़ेगा।

अब इसके दूसरे विशेषण "नित्य" के विषे सुनो !

२. नित्यम्—भगवान्ने इसे अविनाशी कहकर नित्य कहा-नित्य उसे कहते हैं जिसका कभी अभाव न हो अर्थात् जो भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों कालोंमें एक रस व्याप कर स्थिर रहे। इसीको शाश्वत वा सदातन वा सनातन भी कहते हैं। क्योंकि यह सदा सत् है। भगवान् पहले ही इसी अध्यायके श्लोक १६ में कह आये हैं, कि "नाभावो विद्यते सतः" जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं होता।

अब आत्माके तीनों कालमें वर्त्तमान रहनेको श्रुतियों द्वारा सिद्ध करते है। सुनो ! श्रु० "आत्मावाइदमेकएवाग्र आसीत् नान्यत्किंच नमिषत्" (तैत्ति० श्रु० १) अर्थ— सबसे पहले यह एक आत्मा ही था अन्य तनक भी कुछ न था। इससे आत्माका भूतकालमें स्थिर रहना बताया। फिर "यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते" ( ) अर्थ— जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं। इस श्रुतिसे भी आत्मा का भूतकालमें रहना पायागया क्योंकि जन्म लेनेवालेसे पहले जो रहेगा उसीमें सब उत्पन्न होवेंगे। फिर "येनजातानिजीवन्ति" अर्थात् जिसके द्वारा ये सब उत्पन्न होनेवाले जीते हैं। इस श्रुतिके वाक्यसे

इस आत्माका वर्त्तमान कालमें रहना बताया। क्योंकि जो वर्त्तमान कालमें सबोंसे ज्येष्ठ वा श्रेष्ठ रहेगा वही वर्त्तमान कालके जीवोंकी तथा अन्य वस्तु वस्तुओंकी रक्षा करेगा और उसके द्वारा सब जीवेंगे "प्राणेश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम्" (मुण्ड० ३ खं० १ श्रु० ६ में देखो) अर्थ—सब प्रजाओंकी इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणमें ओतप्रोत है अर्थात् सारी सृष्टिमें व्यापक है। इससे भी आत्माका वर्त्तमान कालमें रहना पायाजाता है फिर "यस्मिन् प्रयन्त्यभि संविशन्ति" अर्थात् जिसमें ये सब प्रवेश करजाते हैं। इस श्रुतिके वचनसे आत्माका भविष्य कालमें भी रहना सिद्ध होता है। क्योंकि जो भविष्यत्कालमें रहेगा उसीमें सब अन्त होनेवाले प्रवेश करेंगे। इसलिये इस आत्मा का तीनों कालमें रहना सिद्ध होनेसे आत्माका नित्य होना सिद्ध होता है। फिर श्रुति—"नित्योऽनित्यानांचेतनश्चेतनानाम्" (काठ० अध्या० २ बल्ली २ श्रुति १३ मे देखो) अर्थ— नित्योंका भी नित्य है और चैतन्यों भी चेतन है

शंका— भगवान्ने पहले इसको अविनाशी कहकर फिर नित्य कहा तहां अविनाशी और नित्य दोनोंका एक समान अर्थ होनेसे पुनरुक्ति दोष की प्राप्ति होती है ऐसा क्यों?

समाधान—अविनाशी और नित्य इन दोनोंमें बहुतही अल्प अन्तर है। अविनाशी उसे भी कहसकते हैं जिसका जन्म तो हुआ हो पर किसी विशेष कारणसे फिर न मरे—जैसे मार्कण्डेय, काकभुशुण्ड इत्यादि। पर नित्य उसीको कहेंगे जिसका न कभी जन्म हो न नाश हो

इसी भेद को स्वच्छकरदेनेके लिये भगवान्ने एक अर्थके दो शब्द उच्चारण किये । दूसरा कारण यह है, कि भगवान् एकको दूसरेका कारण बतातेहुए यों कहरहे हैं कि यह अविनाशी इस कारण है कि यह नित्य है । यहां भगवान् चारों विशेषणोंको एक दूसरेका कारण कार्य्य दिखलाते हुए आत्माको सर्व विकारोंसे रहित दिखला रहे हैं ।

अब नित्य का भी कारण जो तीसरा विशेषण अज है उसके विषे कहते हैं:—

३. अजः—षड्भावविकारों में जो प्रथम भाव विकार जिसे उत्पन्न होना कहते हैं तिस उत्पत्ति से जो रहित हो। अर्थात्- कभी उत्पन्न न हुआ हो और अनादि हो उसे अज कहते हैं ऐसा न समझना, कि वह है ही नहीं । यदि कहो, कि जब है तो कभी न कभी उत्पन्न तो हुआ होगा। आज नहीं पर दो चार दश सहस्र अथवा अर्व खर्व वर्ष पहले तो उत्पन्न हुआ होगा । तो उत्तर यह है, कि चाहे जितनी संख्याका नाम तुम लेते चले जाओ उससे भी यह पहले से है । इससे सबोंकी उत्पत्ति होती है पर इसकी उत्पत्ति कभी भी नहीं हुई । क्योंकि सदा आपसे आप वर्त्तमान है । इसी कारण श्रुतियां भी इसे अज कहती हैं "सवा एष महानज आत्मा+ऽन्नादः ।" अर्थ—सो जो यह महान् अज है, और अन्नाद है अर्थात जन्मता नहीं और जगत्रूप अन्नको जो प्रल-

अन्नादः—" जगदात्मकस्यान्नं स्यात्तत्संहारकैः " अर्थ- जो सम्पूर्ण जगदात्मक अन्नको प्रलयकालमें भक्षण करजानेवाला है अथवा यो भी अर्थ करलो कि " अन्नमासमन्तादददातीत्यन्नादः " जो सब ओरसे अन्न लाकर देदेवे उसे कहिये अन्नादः

यकाल में भक्षण करजाता है अर्थात् सारा जगत् जिसमें प्रवेश कर जाता है सो यही आत्मा है । यहां इस श्रुतिने जो अजके साथ अन्नादका विशेषण लगाया इसका यह प्रयोजन नहीं है, कि सचमुच यह आत्मा व्याघ्र वा सिंहके समान जगत्को भक्षण करजाता है ऐसा नहीं वरु अन्नाद कहनेका यथार्थ अभिप्राय यह है, कि जिसकी असीम शक्ति में सारा ब्रह्मांड लय होजाता है अर्थात् इसी आत्मासे सब उत्पन्न होते हैं और इसीमें लय होजाते हैं ।

फिर अजका भी कारण जो "अव्यय" रूप चौथा विशेषण है स्पष्ट रूपसे दिखलाया जाता है:--

४. अव्यय—"न विद्यते व्ययोऽवयवापचयोगुणापचयो वा यस्य तमव्ययम्" अर्थात् जिसके अंगोंका अथवा गुणोंका व्यय अर्थात् कमती होना वा क्षय होना न होवे उसे अव्यय कहते हैं । सो इस आत्माके किसी अंगका कभी तीन कालमें व्यय नहीं होता तथा इसके गुणोंका भी कभी क्षय नहीं होता; अर्थात् पूर्व अवस्थाको जो कभी परित्याग नहीं करता उसे अव्यय कहते हैं । सच है ! जब इसे कोई अवयव है ही नहीं तो न्यूनाधिक्य किसमें हो ? जब न्यूनाधिक्य ही नहीं तो जन्म किसका कैसे हो ? जब जन्म नहीं हुआ और तीनों कालमें देखाजाता है तो नित्य होनेमें क्या सन्देह रहा ? जब यह नित्य हुआ तो इसे अविनाशी क्यों न कहें ? इस कारण भगवान् इस श्लोकमें इस आत्माके चार मुख्य विशेषण कह कर एक को दूसरे का कारण बताते हुए आत्मतत्व को पुष्ट कररहे हैं । इस कारण भगवान् अर्जुनको यह दिखला रहे हैं कि यह आत्मा अव्यय होने से अजन्मा है । अज-

त्मा होनेसे नित्य है। नित्य होने से अविनाशी है। इसलियेइसके अविनाशित्व, नित्यत्व, अजत्व और अव्ययत्वका कभी नाश नहींहोता।

भगवान् आत्माके उक्त चार मुख्य विशेषणों का कथन करके कहते हैं, कि जो पुरुष इसको इसप्रकार अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय जानेगा [कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्] हे अर्जुन! सो पुरुष क्यों किसको घातकरवावेगा? क्यों किसीका घात करेगा? वह तो अहर्निशि आत्मज्ञानमें मग्न आत्माको अविनाशी, नित्य, सदा एकरस, जन्म मरणसे रहित और "अव्यय" वृद्धि ह्राससे भिन्न जानता है। उसको कोई स्वार्थ सिद्ध करना नहीं। उसको कोई हानि लाभ नहीं। राग द्वेष नहीं। इसलिये न वह किसीके घात करानेसे प्रयोजन रखता है न घात करने से प्रयोजन रखता है। वह तो सदा असंग है। यदि तुम यह शंका करो, कि जब ऐसा है तो हे भगवन्! तुम क्यों मुझसे मेरे सम्बन्धियोंका घात करवानेमें तत्पर होरहे हो- और मुझको क्यों घात करनेको कहरहे हो? तो सुन! मैं तुझे लौकिक और पारलौकिक दोनो दृष्टियोंसे विलग विलग समझाता हूं। लौकिक दृष्टिसे तो युद्ध करना क्षत्रियोंका धर्म्म है और मैं तुझको पहले समझाआया हूं, कि धर्म्मके म्मुख किसी प्रकारका निषेध कर्म आजावे तो उसकी निषिद्धता ऐसे भस्म होजाती है जैसे आगसे स्पर्श होते रूईका ढेर। फिर पारलौकिक दृष्टिसे उत्तर इसका यह है, कि यह संसार जो तुझको प्रत्यक्ष भासरहा है, यह युद्ध भूमि, यह संग्राम, ये वीर तथा तू और मैं ये सब आत्मज्ञानकी दृष्टिसे स्वप्नवत् हैं। जैसे कोई पुरुष स्वप्नमें ब्राह्मणकी बस्तीमें आग लगाकर ब्राह्मणोंको भस्म करआवे तो अवश्य

उसे ब्रह्महत्याका भान होगी। उस ब्रह्महत्यासे छूटनेकी सहस्रों युक्तियां करेगा, पर उसके हृदयसे वह हत्याका विषाद तबतक नहीं मिटेगा जबतक उसकी निद्रा न टूटे। निद्रा टूटतेही वह अपनेको शुद्ध और निर्म्मल देखेगा। न कहीं बस्ती जली, न कोई ब्राह्मण भस्म हुआ। जागते ही सब मिथ्या होगया। इसी प्रकार हे अर्जुन! आत्मज्ञानकी दृष्टिसे यह कहना, कि मैं घातकरानेवाला हूं और तू घात करनेवाला है ये सब बातें मिथ्या हैं। क्योंकि मैं तुझको बारम्बार यही समझाता आता हूं, कि आत्मा अजर अमर अविनाशी है। न मरता है, न मारता है। सर्व प्रकारके संकल्पोंसे वर्जित है। इसलिये जब तू विचारकी दृष्टिसे देखेगा तब तुझे बोध होजावेगा कि न मैं तुझसे घात करानेवाला हूं न तू घात करनेवाला है। तू केवल इस समय स्वप्नमें पडाहुआ है। देख छाया पर तलवार मारनेसे जैसे छाया कटती नहीं अथवा जलसे भरेहुए घटमें जो सूर्य्य भासता है घटके उलटदेनेसे उस सूर्य्यके बिम्बका अभाव तो होजाता है पर सूर्य्यका नाश नहीं होता। ज्योंका त्यों रहता है। इसी प्रकार इन सब वीरोंको जो तेरे सामने उपस्थित हैं छायाके समान जान! फिर इनपर शस्त्र प्रहार करनेसे कुछभी हानि न होगी। क्योंकि आत्मा तो अमर है और यह शरीर केवल छायामात्र है, अथवा यह शरीर एक मठके समान है जो आत्मारूप निर्मल आकाशमें बनगया है, फिर इसके तोडदेनेसे आत्माकी कुछ भी हानि न होगी वह तो आकाशवत् ज्योंका त्यों रहेगा। इस-लिये हे अर्जुन! तू निश्चय जान, कि न मैं घातकरानेवाला हूं न तू घातकरनेवाला है। सब स्वप्नवत् है। यह तुझको मैंने परमार्थ दृष्टिसे समझाया। विचार कर देखनेसे तू अपनेको कभी हिंसक नही कहेगा।

शंका—जब आत्मज्ञानियों के लिये सब स्वप्नवत है तबतो जितने मांसाहारी अपनी जिह्वास्वादके लिये बकरे मारते हैं अथवा कसाई को मारनेकी आज्ञा देते हैं सब स्वप्नवत हुए । क्योंकि आत्मा हनन कियाही नही जाता और कोई मारने वाला अथवा मरवानेवाला है ही नहीं, फिर धर्म्मशास्त्र में जो जीवहिंसाका बहुत बड़ा पातक लगाया और उसके बड़े कठिन नरकके भोग कथन किये सब मिथ्या हुए । ऐसी आज्ञा देने से सब मांसाहारी, कसाई और मछुओं की तो सबी बातें बनजावेंगी। वे मारे आनन्दके कूदते स्वर्गकी यात्रा करनेको ताल ठोकने लगेंगे । फिर तो सारे धर्म्मशास्त्र पर हरताल फिरजावेगा । मांसाहारी तथा कसाई इत्यादि कह पड़ेंगे, कि भगवान् श्री कृष्णने तो श्रुतियोंके ज्योंकात्यों गीतामें कहकर हम लोगोंके विषे न्याय कर दिया, कि घात करानेवालोंको कुछ भी दोष नहीं है ॥ कोई किसी का न घात करवाता है न घात करता है । इसलिये जहां तक बनपडे मारते जाओ खाते जाओ ।

समाधान-- लौकिक और पारलौकिक दोनों दृष्टिसे इस शंका का समाधान किया जाता है । लौकिक दृष्टि से तो इसका समाधान यों है कि---जिस निषिद्ध-कर्म्मका धर्म्म से स्पर्श होता है उसका निषिद्ध फल भस्म होजाता है । पर स्वार्थसे सने तामसी कर्मके साथ जिसका स्पर्श होता है उसका निषिद्ध फल भस्म नहीं हो सकता । सीधा नरक लेजाता है । सो मांसाहार कोई धर्म नहीं है, वरु तामसी भोजनके साथ यह एक स्वार्थसे सना कर्म है । इस कारण इस दोषकी निवृत्ति नहीं होसकती । यदि कहो, कि भोजन भी तो धर्म है । क्योंकि इससे

आत्माकी रक्षा होती है। सच है, पर जब वह भोजन मधु, मिष्टान्न, दूध, घी, गेहूं, जौ, चावल इत्यादिके साथ अति सुलभतासे मिलता है, जिसमें किसी निषिद्ध कर्मकी आवश्यकता नहीं पडती है तो हठात् केवल जिह्वा स्वाद अथवा देहके मांस वृद्धिके लिये हिंसा करना उचित नहीं है। हां ! यदि किसी वनमें प्राणी पडजावे, जहां अनाज का तथा कन्द, मूल, फलफूलका एकदम अभाव होवे, कहीं न मिले, तो अवश्य जीव मारकर आत्मरक्षा करनी उचित है, पर इसको भी आपद्धर्म* कहते हैं। इसलिये ऐसे कर्मका उद्धार तो प्रायश्चित्त द्वारा होसकता है, पर जो जिह्वा स्वाद वश कियाजावे इसका उद्धार नहीं।

अब पारलौकिक दृष्टिसे समाधान कियाजाता है- जिस प्राणीका प्रपञ्च उपशम होगया है, जिसका स्वार्थ साध्य नहीं है, किसी प्रकार के इन्द्रिय स्वादसे कुछ प्रयोजन नहीं रखता, वह किसी प्राणीका घात ही नहीं करावेगा। यदि ये मांसाहारी आत्मज्ञानी होते तो क्यों बकरों को मारनेकी आज्ञा देते और जब अपने इन्द्रिय स्वादके लिये एक निरपराध जीवको मारनेकी आज्ञा दी वा मारा तो वे साधारण स्वार्थी जीव हैं। आत्मज्ञानी नहीं हैं। क्योंकि जो प्राणी स्वप्नमें यह जानलेता है, कि मैं स्वप्न देख रहाहूं उसीको स्वप्न दुखदाई नहीं होता और न वह स्वप्नकी स्त्री को गले लगाता है, पर जो स्वप्नको स्वप्न नहीं जानता और सच समझ कर स्वप्नकी स्त्री को सच जानता है तो स्त्रीके मिलनेका फल भी उसके शरीरमें होजाता है। इसी प्रकार जिसकी जिह्वा स्वाद बनी हुई है और शरीराभिमानके कारण शरीरको सच

* आपद्धर्म—देखो श्री स्वामी हंसस्वरूप व्याख्यान भाग २ "हिंसा"

समझ कर उसके पुष्ट करनेके लिये अन्य प्राणीके शरीरका घात करता है, उसको उस घात करनेका फल अवश्यही भोगना पडेगा । क्योंकि यह घात धर्मसे मिश्रित नहीं । यज्ञ, युद्ध, आततायी-हनन, आपद्धर्म, राजदंड, फांसी, शूली इत्यादिके घात धर्म-मिश्रित हैं इस कारण इनमें दोष नहीं।

यदि ऐसा कहो, कि जैसे स्वप्नकी स्त्रीसे मिलनेका फल वीर्य्य-पातादि सच होता है ऐसेही अर्जुनको भी इन बन्धुवर्गोंके मारनेका पातक लगेगा, पर ऐसा नहीं । जब अर्जुन क्षत्रिय-धर्म्म समझ कर देहाभिमान परित्याग कर युद्धका संपादन करते हुए वीरोंको मारेगा और उसके फलसे निःसंग रहेगा तो धर्म्म मिश्रित घात करनेका दोष कुछ भी न लगेगा । इसी कारण भगवान उसे आत्मज्ञानका उपदेश देकर शरीराभिमानसे रहित तथा निष्काम कर्म्म करनेमें चतुर बनारहे हैं, कि हिंसासे बचे । जब अर्जुन आत्मज्ञानसे पूर्ण होजावेगा और आत्माको अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय जान देहके हननसे आत्माका हनन होना न समझेगा तब धर्म्म-मिश्रित-घात जो युद्ध तिसे करनेसे मुख न मोडेगा ॥ २१ ॥

अब अर्जुनको यह मोह होआया, कि यह आत्मा शरीरको त्याग क्या होजाता है ? यदि मैं इन भीष्म और द्रोणके ऐसे महत्व और तपसे भरेहुए शरीरोंको युद्धमें नाश करडालूंगा तो फिर इनके आत्माको ऐसे पवित्र शरीर कहां मिलेंगे ? यदि न मिले तो मुझे अवश्य पातक लगेगा ।

अर्जुनके इस आन्तरिक अभिप्रायको जान भगवान् कहते हैं-

मू०— वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

पदच्छेदः— यथा (येन प्रकारेण) नरः (जनः मनुष्यः । पुरुषः) जीर्णानि (कच्चरीभूतानि । मलिनानि । दुर्बलतां-गतानि ।) वासांसि (वस्त्राणि । परिधानानि) विहाय (त्यक्त्वा ।) अपराणि (अन्यानि ।) नवानि (नूतनानि ।) तथा (तेन प्रकारेण) देही (देहाभिमानी जीवः) जीर्णानि (जराविशिष्टानि । वयसा कृशानि । वलीपलितानि । दुर्बलतांगतानि । जर्जरीभूतानि । वृद्धवयसाविक्रियत्वं गतानि ।) शरीराणि (कलेवराणि । तनूनि । देहान्) विहाय (परित्यज्य) अन्यानि (अपराणि) नवानि (नूतनानि कलेवराणि) संयाति (संगच्छति ।) ॥ २२ ॥

पदार्थः--- (**यथा**) जैसे (**नरः**) मनुष्य (**जीर्णानि**) पुरानें (**वासांसि**) वस्त्रोंको (**विहाय**) त्यागकर (**अपराणि**) दूसरे (**नवानि**) नवीन वस्त्रोंको (**गृह्णाति**) ग्रहण करता है (**तथा**) तैसे यह (**देही**) जीवात्मा (**जीर्णानि**) पुराने (**शरीराणि**) शरीरोंको (**विहाय**) त्यागकर (**अन्यानि**) दूसरे (**नवानि**) नये-नये शरीरोंको (**संयाति**) प्राप्त होता है ॥ २२॥

भावार्थः— अर्जुनके मनमें जो यह मोह उत्पन्न हुआ है, कि जब आत्मा अविनाशी है तो इस संसार को छोड़ कहां चलाजाता है ? यदि मैं भीष्म और द्रोणादि के वर्त्तमान शरीरों को जो तप इत्यादि से परम पवित्र होरहे हैं नाश करडालू तो इनको फिर ऐसा शरीर नहीं मिलने से इनके आत्मा क्लेशित हो मुझे घोर शाप देकर कुकर्म्मापाकादि नरकोंके अधिकारी बनावेंगे। अर्जुनके मनकी यह बात जान इन दोनो शंकाओं की निवृत्ति निमित्त भगवान् कहते हैं, कि [**जीर्णानि वस्त्राणि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि**] अर्थात् जब पहले वस्त्र अंगमें चिरकाल पर्य्यन्त धारण करते करते मलिन और कुत्सित होकर चिथड़े चिथड़े होजाते हैं तब उसे पहनने के योग्य न समझ कर प्राणी उतार देता है और उसके बदले दूसरे नये नये वस्त्रोंको जो सर्व प्रकार निर्म्मल और स्वच्छ होते हैं पहन लेता हैं [**तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही**] इसीप्रकार देहका वासी जो यह आत्मा है वह पुराने शरीरो को त्याग करता हुआ नये नये शरीरों को धारण करता चलाजाता है। इसलिये हे अर्जुन ! तू यह निश्चय जान कि यदि तू इन भीष्म द्रोणादि महान् पुरुषोंको धर्म्मयुद्ध में हनन करेगा तो तेरे क्षत्रिय-धर्मके रखलेनेके पुण्य व प्रभावसे तू भी नाना प्रकारके सुखों को भोगेगा और ये भी स्वर्गमें जा दिव्य शरीर पा नाना प्रकारके सुख भोगेंगे, जिससे ये तेरा बहुत उपकार मानेंगे। क्योंकि तेरे युद्धका साधन तेरे और इन दोनोंके लिये उपकारक है। इसलिये तू युद्ध कर ! क्योंकि युद्धसे हिंसा नहीं होगी, वरु बहुत विशाल उपकार होगा तथा

नरेशोंके मध्य तेरा यश फैलेगा ।

शंका— यहां इस वचनसे कि देही (आत्मा) त्यागता है और धारण करता है, आत्मामें विकार उत्पन्न होता है । जिस आत्माको पूर्व श्लोकमें "घातयति हन्ति कम्" तथा "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" इत्यादि वचनोंसे कर्त्ता और कर्म-रूप विकारोंसे रहित कर आये हैं उसे फिर यहा "विहाय" और "संयाति" दो क्रियाओंका कर्त्ता मान इस देही (आत्मा) को विकारवान् दिखलाते हैं । ऐसा करनेसे भगवानके वचनोंमें पूर्वापर-विरोधका दोष लगता है । ऐसा क्यों?

समाधान— ऐसा मत कहो ! देखो इसी विकारके हटानेके तात्पर्य्यसे भगवानने अन्य किसी दृष्टान्तको न देकर कपडोंके उतारने और पहिरनेका दृष्टान्त दिया है । अर्थात् जैसे कपडोंके उतारने और पहिरनेसे मनुष्यमें शारीरिक वा मानसिक किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता, न दुर्बला होता है, न मोटा होता है, न दुखी होता है, न सुखी होता है न मूर्ख से पण्डित होता है और न पण्डित से मूर्ख होता है । इसी प्रकार इस आत्मा को भी एक शरीर का त्याग दूसरेके ग्रहणसे किसी प्रकारका विकार नहीं होता । जैसे वस्त्रवाला ज्योंका त्यों रहता है ऐसे ही नाना प्रकारके शरीरोंके त्याग और ग्रहणसे आत्माके अविनाशित्व, नित्यत्व, अजत्व, और अव्ययत्वमें किसी प्रकार न्यूनाधिक्य नहीं होता— यहतो देव, राक्षस, ब्राह्मण, चाण्डाल, पशु, पक्षी, कीट, पतंग इत्यादि सब शरीरोंका एक साक्षिमात्र रहता है । सदा निर्लेप और निर्विकार रहता है । श्रु०— सूर्य्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्व-

भूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन वाह्यः ॥ (काठ० अध्या०२ वल्ली २ श्रु० ११)

अर्थः—जैसे सम्पूर्ण लोक का नेत्र जो सूर्य बाहरके नेत्रवाले दोषोंसे लिप्त नहीं होता अर्थात् मल मूत्र इत्यादि अपवित्र वस्तुओं को अपनी किरणोंसे प्रकाश करते हुए तथा रसों को शोषण करतेहुए उन अपवित्र दोषोंसे लिप्त नहीं होता इसी प्रकार यह आत्मा चाण्डाल, शूकर, कुक्कर इत्यादि अपवित्र शरीरोंके धारण करनेसे उनकी अपवित्रताके दोषसे लिप्त नहीं होता। ऐसा जानकर शंका मत करो !

वादी— इस प्रकार मेरी शंकाका समाधान तो होसक्ता है , पर अब एक दूसरी शंका यह उत्पन्न होआई है कि यह जो भगवान् ने कहा, कि यह देही एक शरीर को त्याग दूसरे शरीर को धारण करता है सो कैसे बने ? क्योंकि पुराणा शरीर तो प्राणवियोगके समय प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि देहीने छोड दिया, पर नया शरीर जो यह आत्मा उसीसमय धारण करलेता है सो शरीर कहां है ? वहतो मरणकालके समय देखा नहीजाता। क्या कुत्ते, बिल्ली, घोडे, गधे, मेंढक, सर्प इत्यादिके कहीं गोदाम बने हुए हैं, कि किसी प्राणीके मरते समय झट उस गोदाममें से एक किसी पशु पक्षी का खाल मरनेवालेके सामने लाधरा और झट मरनेवाला पहला शरीर त्याग इस दूसर में घुसगया। मनुष्य का शरीर त्याग घोडेके शरीरमें घुस टाप मारने लग गया वा कपोतके शरीरमें प्रवेश कर उडने लगगया। ऐसा तो देखा नहीं जाता । इसलिये नये शरीरका धारण करना समझमें

नहीं आता सो समझा कर कहो।

समाधान— यहां जो भगवान्ने यों कहा हैं, कि पुराने कपडेको त्याग नयेको धारण करता है, इतना कहनेहीसे बोध होता है, कि जैसे पुराने और नये कपडों में जीर्णत्व और नवीनत्व का भेद है, ऐसे ही त्यागे हुए और धारण किये हुए दोनों शरीरों में भी कुछ भेद अवश्य है। यदि मरण कालके समय इस स्थूल देह को त्याग किसी दूसरे प्रकारकें स्थूल ही शरीरके धारण करनेसें तात्पर्य्य रहता तो तुह्मारी शंका उचित थी और तब भगवान् केवल इतनाही कहते, कि एक कपडे को त्याग, जैसे प्राणी दूसरा कपडा धारण करता है। पर ऐसा न कह कर **जीर्णानि** और **नवानि** अर्थात् नये और पुराने का भेद लगाया है।

तहां विचार की सूक्ष्म दृष्टि से देखना चाहिये, कि जीर्ण और **नवीनका** भेद क्यों लगाया ? तहां अवश्य यह कहना पडेगा, कि शरीर-त्याग के समय **त्यक्त-शरीरको** जीर्ण और गृहीत-शरीरको नूतन कहा है। तहां त्यक्त-शरीरसे **स्थूल-शरीरका** प्रयोजन है और गृहीत-शरीरसे सूक्ष्म-शरीरका प्रयोजन है--

तीन प्रकारके जो शरीर हैं, उन तीनोंमें परस्पर कार्य्य कारणका सम्बन्ध है। इसलिये **कारण, सूक्ष्म** और **स्थूल** तीन प्रकार के शरीर शास्त्रों में कथन कियेगये हैं-- तहां कारण-शरीर जो सूक्ष्म और स्थूल दोनोंका बीज है, जिसमें ये दोनों जाकर लय होजाते हैं, इन दोनों शरीरोंको स्थिर रखता है। पर यहां कारण-शरीरसे किसी प्रकारका प्रयोजन नहीं है। इसलिये इसकी व्याख्या को यहां अति उक्ति समझ

कर छोडदिया जाता है। इसी अध्यायके १८ वें श्लोकमें संक्षिप्त रूपसे इस कारण-शरीरका वर्णन कियागया है देखलेना ।

अब स्थूल और सूक्ष्म शरीरका व्याख्यान सर्व साधारण प्राणियोंके कल्याण निमित्त करके स्पष्टरूपसे यह दिखलाया जाता है, कि प्राणी किस शरीरको मरणकालके समय ग्रहण करता है-

इस स्थूल शरीरको हम आंखोंसे देखते हैं, पर सूक्ष्मको नहीं देखते। इन दोनोंमें सारी शक्तियां एक समान हैं। बाह्यकरण और अन्तःकरण अर्थात् १० इन्द्रियां, ४ अन्तःकरण, और ५ प्राण ये सब मिला कर जो १६ शक्तियां हैं वे स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरोंमें एक समान वर्ततीहैं। इसलिये श्रुतिने दोनोंको "एकोनविंशति मुखः" अर्थात् १६ मुखवाला कहा है। तहां इन दोनोंमें इतना ही अन्तर है, कि स्थूल शरीर जाग्रत अवस्थामें इन उन्नीसों शक्तियोंके साथ स्थूल वस्तुओंके संग सर्व प्रकारके व्यवहारोंको पूर्ण करता है और सूक्ष्म-शरीर इन्ही १६ शक्तियोंके साथ स्वप्न अवस्थामें भिन्न-भिन्न व्यवहारों का साधन सूक्ष्म तत्वोंके साथ करता रहता है। जैसे जाग्रतमें यह प्राणी अपने स्थूल अंगोंको स्थूल स्त्रीके अंगोंसे आलिंगन कर संभोग करताहुआ अपने वीर्य्यका पतन देखता है, ऐसे ही वह प्राणी स्वप्नमें अपने सूक्ष्मशरीरसे सूक्ष्म स्त्रीके शरीरके साथ संपरिष्वक्त * होकर अपने वीर्य्यका पतन देखता है ।

यहां विचारने योग्य है, कि वीर्य्यका पतन-रूप जो स्त्रीसंगका

* संपरिष्वक्त= गाढ आलिंगनके साथ स्त्री पुरुष का एक संग मिलना ।

फल है दोनो शरीरोंके द्वारा एक समान है । केवल स्थूल और सूक्ष्म का भेद रहा- इस विषयका पूर्ण वर्णन आगे चारों अवस्थाओंके व्याख्यान में कियाजावेगा ।

टिप्प०— पाठकोंके बोधार्थ स्थूल और सूक्ष्म शरीरके अवयवोंकी गणना करदी जाती है ।

स्थूल शरीरके अवयव— १. प्रपद (तलवा) २. अंघ्रिः (चरण) ३ गुल्फ (एड़ी) ४. पार्ष्णि (फिल्ली) ५. जघा, ६. जानु, ७. ऊरु., ८. वंक्षणः. (टिहुनी) ९. कटि, १०. त्रिकय, (पीठके रीढ़का नीचला भाग, (जहां तीन ओरसे हड्डियां जामिलती है) ११. नितम्बः (फुफुदी) १२. स्फिक, (दोनों चूतड़) १३. वस्ति (गुदा) १४. उपस्थः, १५. ककुन्दरम, (उपस्थकी दोनों ओरकी गहराई) १६. जघनम्, १७. जठरम्, १८ नाभि, १९. वलिः, २०. स्तन., २१. चूचकम् २२. क्रोडम्, २३. रोम, २४. कक्ष, २५. अंस (पँखुरी,) २६. वक्ष २७. दो. (कन्धा) २८. पार्श्वे, २९. प्रगण्डः, (भुजाका ऊपर भाग किहुनीसे कन्धे तक) ३०. कुर्परः, (किहुनी) ३१. हस्त, ३२. प्रकोष्ठ, (कलाई और किहुनीका मध्यभाग) ३३. मणिबन्ध, ३४. अगुलि, ३५ अगुष्ठ, ३६. करभः, (अगुलियां) ३७. नखः, ३८. पर्थ, (हथेलीका पृष्ठभाग) ३९ चपेटक, (हथेली) ४०. कण्ठ, ४१. शिरोधि. (गला) ४२. श्मश्रु, ४३ मुखम्, ४४. ओष्ठ, ४५. चिबुकम्, ४६. हनुः ४७. सृक्कम (मुँहका दोनों कोना) ४८. तालु ४९. रद, ५०. जिह्वा, ५१. नासा, ५२. भ्रू, ५३. गण्ड., ५४. लोचनम् ५५. अपांग (आंखके दोनो कोना) ५६. तारा, ५७. कर्णः, ५८. भाल, ५९. मस्तकम, ६०. केशः ।

ये ही स्थूल शरीरके ६०. मुख्य अग है जो प्राणोंके द्वारा प्रेरित होकर प्रत्येक व्यवहारको पूर्ण करते है ।

अब सूक्ष्म शरीरके अवयवोंको कहते हैं—

भूतेन्द्रियमनोबुद्धिर्वासनाकर्मवायवः । अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्य्यष्टमृषि सत्तमैः ॥ अर्थ— १ भूत (पाचो तन्मात्रा) २ इन्द्रिय (आख कानादि

मुख्य अभिप्राय कहनेका यह है, कि मरण-कालके समय पुराना शरीर छोड कर किसी नये स्थूल-शरीरको नहीं धारण करता है वरु सूक्ष्म-शरीरको धारण करता है । सो सूक्ष्म-शरीर वैसाही बनजाता है जैसा उसने अपनी आयुभर स्मरण किया था। अर्थात् आयु भर प्राणी जिस-जिस भावका स्मरण करता है उसी-उसी भावका सूक्ष्म-शरीर बनकर मृतकके सम्मुख आखडा होता है । मृतक पहला शरीर छोड झट उसमें घुसजाता है । सो भगवान् आगे कहेंगे, कि " **यंयं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्** " अर्थात् जिस-जिस भावको स्मरण करताहुआ प्राणी अपने शरीरको त्यागता है उसी-उसी भावके शरीरको प्राप्त होता है । अर्थात् अपने पुराने शरीरमें निवास-काल तक जैसा-जैसा कर्म करता है उसी कर्मानुसार प्राणीके मनमें एक किसी प्रकारके शरीरका संकल्प दृढ होजाता है फिर जिस प्रकारका संकल्प दृढ होगया, मरण कालके समय उसी प्रकारका सूक्ष्म शरीर तयार होजाता है । अर्थात् उसी डौलकी उसकी पुर्य्यष्टका बनजाती है ।

इसी सिद्धान्तको व्यासदेव भी श्रीमद्भागवतमें एक उत्तम उदाहरण देकर कहते हैं । सो सुनो !

व्रजंस्तिष्ठन्पदैकेन यथैवैकेन गच्छति । यथा तृणजलूकैवं देही कर्म गतिंगतः ॥ (श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अध्या० १ श्लो० २८) अर्थ—तृणजलूका (ठेंगी वा जोंकी) जो एक प्रकारकी कीडी होती

दशों इन्द्रियोंकी शक्तियां) ३ मन, ४ बुद्धि, ५ वासना (मनकी शुद्ध वा मलीन इच्छा) ६ कर्म (पाप वा पुण्य) ७ वायु (प्राण अपानादि पांचों प्राण) और आठवीं अविद्या (अज्ञानता) ।

है, वर्षाकालमें तृणोंपर बहुत देखपडती है। वह जैसे एक पांवसे अगले तृणको ग्रहण करती और पिछले तृणको छोडती आगेको बढती चली जाती है, इसी प्रकार यह जीवात्मा भी अगले कर्मरूप सूक्ष्म शरीर को धारण करता हुआ पिछले स्थूलको परित्याग करता चलाजाता है। अर्थात् अगले सूक्ष्म शरीर पर एक पांवको रखलेता है तब दूसरे पांवको पिछले शरीरसे उठालेता है। यहां भी एक पांवका रखना क्या है ? एक शरीरका धारण करना है। अर्थात् केवल +सूक्ष्म शरीरके धारण करनेसे तात्पर्य्य है। स्थूल नहीं। यदि मरणके समय सूक्ष्म और स्थूल दोनों शरीरोंके धारण करनेसे तात्पर्य्य होता तो व्यासदेव यों कहते, कि एक ही पांव नहीं वरु दोनों पांव उठाकर अगले तृणपर रखता है। सो ऐसा नहीं कहा केवल एकही पांव कहकर यह दिखला दिया, कि प्राणी मरणके समय केवल सूक्ष्म ही शरीर धारण करता है। अब इतना तो अवश्य जानना चाहिये, कि मरणकालमें जो सूक्ष्म शरीर धारण करता है उसका स्थूल फिर कब प्राप्त करता है ? अर्थात् दूसरा जो स्थूल शरीर है वह कब तयार होता है ? सो सुनो ! छान्दोग्योपनिषत् पंचमप्रपाठक नवम खण्ड श्रुति १ का वचन है कि-

ॐ इतितु पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति। अर्थ— इस प्रकार पांचवीं आहुतिमें वह जो * श्रद्धा (आप) रूप जल जो सूक्ष्म-शरीर है वह पुरुषरूप होकर प्रगट होजाता है। अर्थात् सूक्ष्म

+ सूक्ष्म शरीरको पूर्णप्रकार समझनेके लिये देखो "हंसनाद" भाग १ व्याख्यान दूसरा "पुनर्जन्मपर" (Transmegration of the soul)

*श्रद्धा= सूक्ष्मशरीरको कहते है।

अपने स्थूल शरीरको पाता है।

अब यहां यह जानना चाहिये, कि पांचवीं आहुति क्या है? श्रद्धा रूप आप क्या है? और वह पुरुषरूप होकर कैसे प्रगट होता है?

इस ऊपर कथन किये हुए श्रद्धाको ही सूक्ष्म शरीरके नामसे पुकारते हैं। क्योंकि श्रद्धा तिस सूक्ष्म शरीरकी ही एक विचित्र शक्ति है। सो पांच कुण्डोंमें हवन होकर अर्थात् पांच स्थानोंमें प्रवेश कर अपने स्थूल को पाता है। इसलिये पांचवीं आहुतिमें उसी सूक्ष्म शरीर का स्थूल होजाता है। इन पांचों आहुतियोंके पांच भिन्न-भिन्न अग्नि-कुण्ड-कौन हैं? जिनमें हवन होता हुआ स्थूल शरीर पाता है। सो सुनो!

ॐ असौ वावलोको गौतमाग्निः— (स्वर्गलोक)
ॐ पर्जन्यो वावलोको गौतमाग्निः— (पर्जन्य लोक)
ॐ पृथ्वी वावलोको गौतमाग्निः— (पृथ्वीलोक)
ॐ पुरुषो वावलोको गौतमाग्निः— (पुरुषलोक)
ॐ योषा वावलोको गौतमाग्निः— (स्त्रीलोक)

छान्दोग्योपनिषद् पंचमप्रपाठक चतुर्थ खण्डसे अष्टमखण्ड तक ये पांचश्रुतियां है, जिनमें से ऊपरके वाक्य निकाल कर दिखलाये गये हैं। एक शरीरसे दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेके विषय अर्थात् पुनर्जन्मके विषय राजा जयवलिने यही पांचकुण्ड गौतमके प्रति उपदेश किया है, कि हे गौतम! १. स्वर्गलोक प्रथम कुण्ड। पर्जन्यलोक (मेघलोक) द्वितीय कुण्ड। पृथ्वी-लोक (भूलोक) तृतीयकुण्ड। पुरुषलोक (मनुष्य अथवा किसी प्रकारके नरका लोक) चतुर्थलोक। योषालोक (किसी योनि की स्त्री का लोक) पांचवां-कुण्ड।

वेद और उपनिषदों के द्वारा सिद्ध किया जाचुका है, कि प्राणी सूक्ष्म-शरीर को धारण कर पहले प्रथम कुण्ड में हवन होता है अर्थात् आकाश की ओर जाता है जिसको उत्क्रमण करना कहते हैं। यह आकाश उलटे कुण्डके समान ऊपरकी ओर औंधा देख पड़ता है इसीकारण इसको श्रुतियोंने कुण्डसे उपमा दी है, जिसमें सूक्ष्म-शरीर पहले हवन होकर फिर पर्जन्य-लोक अर्थात् मेघमालारूप दूसरे कुण्ड में हवन होता है। पश्चात् वर्षा हो भूलोकादि तीसरे कुण्डमें हवन होता है। अर्थात पृथ्वी में गिरकर अन्नों में प्रवेश कर अन्न होजाता है। तत्पश्चात वह अन्न पुरुषरूप चौथे कुण्डमें हवन होता है। अर्थात् पुरुष उसको खाता है तब वीर्य्य बनकर पुरुष के शरीर में स्थिर होता है। तहां से स्त्रीरूप पांचवे कुण्डमें हवन होकर गर्भ बनजाता है। फिर अपनी-अपनी योनिके नियतकाल तक स्त्रीरूप कुण्डमें निवासकर स्थूल शरीर को लिये हुए गर्भसे बाहर आता है॥ मुख्य तात्पर्य्य कहनेका यह है, कि शरीर छोडनेके पश्चात् यह जीव अपनी वृत्तिकी दृढतानुसार सूक्ष्म शरीर धारण कर आकाश की ओर जाकर भिन्न-भिन्न कुण्डोंमें होता हुआ पांचवीं आहुति में अर्थात् स्त्रीरूप कुण्डमें स्थूल शरीर पाता है।

इस स्थानपर हमारे पाठकों के हृदय में दोप्रकार की शंकायें उत्पन्न होजावेंगी। प्रथम तो यह, कि जो अन्न किसी जीवने नहीं खाया, अग्निमें भस्म कियागया वा सडगल गया उसमें जो श्रद्धारूप सूक्ष्म-शरीर था वह क्या होगया ?

दूसरी शंका यह, कि जिस अन्नको स्त्री खाती है वह तो वीर्य्य

नहीं बनता है, जब वीर्य्य नहीं बना तो उस अन्नमें रहनेवाला सूक्ष्म शरीर क्या होगया ?

समाधान प्रथम शंका का– भस्म होजानेवाले अन्नकी तो फिर वहीगति हुई, कि धूमके साथ मिल आकाशकी ओर जा मेघमाला होता हुआ दुबारा अन्नने आ पूर्ववत् वीर्य्य होकर गर्भद्वारा स्थूल शरीरों को पाया। पुनर्जन्मके नियमानुसार कोई कोई सूक्ष्म शरीर तो अपने प्रथम ही चक्रमें नीचे आ स्थूल शरीर पाजाता है, पर किसी किसी को सहस्रों वार ऐसे चक्रमें फिरना पडता है। सडनेवाले गलनेवाले अन्न भी घुन, कीट इत्यादि बनकर उष्मज जीव बनजाते हैं।

समाधान दूसरी शंकाका = स्त्रीने जो अन्न खाया वह रज होकर वीर्य्यके साथ मिल फिर स्थूल बनकर बाहर आगया।

यदि शंका होकि इसका क्या कारण है, कि पुरुषने जो अन्न खाया उसमें वीर्य्य बना और स्त्रीने जो खाया उसके शरीरमें वही अन्न रज बना। उत्तर यह है, कि इन अन्नोंमें दो प्रकारकी शक्तियां हैं। किसीमें तो पुर्य्यष्टकाकी पूर्वोक्त आठों शक्तियों का संयोग होजाता है और किसी-किसीमें केवल सात ही सूक्ष्म शक्तियोंका प्रवेश होता है। वासना जो इन आठोंमें मुख्य शक्ति है, जिसके द्वारा भिन्न भिन्न शरीर बनते हैं तिसका प्रवेश नहीं होता। अर्थात् जिसके द्वारा शरीरका आकार बनता है तिस शक्तिका प्रवेश नहीं होता। श्रुतियों द्वारा ऐसा अनुभव किया गया है, कि उनही अन्नोंको अन्तर्य्यामीसत्ता स्त्रियोंके सम्मुख लारखता है, जिनमें केवल सात ही शक्तियां रहती हैं। क्योंकि पंचाग्निकी श्रुतियां यों कहती हैं, कि "ॐ

देवाः जुह्वति " अर्थात् पांचों कुण्डोंमें जो यह सूक्ष्म शरीर हवन होता है उसे अन्तर्य्यामी सत्ता जो इन सब जीवोंके पाप पुण्यको जानती है, हवन करती रहती है। वहां यह बात संसारमें प्रसिद्ध है, कि जिसके भाग्यका जो अन्न होगा वह सहस्रों कोसोंसे उसके सामने आवेगा और जो उसके भाग्य का नहीं होगा वह बडे यत्नसे तयार करके उसके सामने लाधरने पर भी उसे प्राप्त न होगा। अर्थात् उसमें कोइ ऐसा विघ्न होजावेगा जिसकारण उसको अपने पाससे हटाना पडेगा। जैसे सब पदार्थ बनाकर किसीने अपने मित्रके आगे ला धरा पर उसके भाग्य का वह नहीं था इसलिये अकस्मात् उसमें छिपकली गिरपड़ी अथवा बन्दर लेगया वा कुत्तेने जूठा करदिया। तात्पर्य्य यह है, कि जो जिसके भाग्यका नहीं है वह अन्न उसे प्राप्त नहीं होसकता। इसलिये श्रुतिने सिद्धान्त करके यह कहा है, कि " देवाः जुह्वति" अन्तर्य्यामी सत्ता उस अन्नको स्त्री वा पुरुषमें हवन करती रहती है।

अब इन रज और वीर्य्यके विषयको एक उत्तम दृष्टान्त देकर समझाते हैं। जैसे किसी यन्त्रालय (छापाखाना) में अक्षरोंके कम्पोज करनेवाले कम्पोजीटर टाइपोंको टाइपोंके घरमें फेंकते हैं और स्पेसोंको स्पेसोंके घरमें फेंकते हैं। टाइप और स्पेस इन दोनोंमें टाइपोंमें तो आकार होते हैं जो कागज पर अक्षर बन कर उग्वडते हैं और स्पेसोंमें जो सर्व प्रकार टाइपोंके समान ही होते हैं आकार नहीं होते। केवल

इन बातोंको जाननेके लिये छान्दोग्योपनिषद् देखो। अथवा पुनर्जन्मके ऊपर स्वामी हंसस्वरूपजीका व्याख्यान जो हंसनाद द्वितीय भागमें है देखो।

टाइपोंको स्थिर रखनेकी शक्ति होती है।

इसी प्रकार *अन्तर्य्यामी सत्ता वासना सहित अन्नोंको पुरुषोंमें और वासना रहित अन्नोंको स्त्रियोंमें फेंकती जाती है और इन दोनोंके मेलसे सृष्टिरूप छापाखानामें भिन्न-भिन्न योनि रूप पुस्तकें छपती रहती हैं। शंका मतकरो !

अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन यह सिद्धान्त किया हुआ है, कि यह आत्मा जो, अज अविनाशी और अव्यय है एक शरीर को छोड़ दूसरे शरीर को धारण करता चला जाता है ॥ २२ ॥

इतना सुन अर्जुनके मनमें यह शंका उत्पन्न हो आई, कि यह आत्मा तीनों शरीरोंका साक्षीभूत है, तीनोंके साथ रहता है— फिर जिस समय यह सूक्ष्म-शरीरका साक्षीभूत होता हुआ पंचाग्नि द्वारा नाना प्रकारके कुण्डोंमें प्रवेश करता है तहां पर्जन्य लोकके जल में सूक्ष्म-शरीरके साथ-साथ गल क्यों नहीं जाता? अन्नोंके पाक-शालामें पकते समय भस्म क्योंनहीं होजाता ? तथा जठराग्निकी आग में पचकर नष्ट क्यों नहीं होजाता ?

तहां सबकी हृदयके जानने वाले श्रीवासुदेव भगवान् अर्जुनके मनको जान उसकी शंकाके निवारणार्थ कहते हैं—

* इसी अन्तर्य्यामी सत्ता को सर्वसाधारण ब्रह्मा के नामसे पुकारते हैं और कहते है कि विधाता अर्थात् ब्रह्मा जीवके कर्मानुसार उसको जिस योनिसे उत्पन्न करना चाहता है उस योनिमें उसे अन्नोंके द्वारा डालदिया करता है। जो हो पर यह सिद्धान्त कियाहुआ है, कि यह सृष्टिकी रचनेवाली अन्तर्य्यामी सत्ता निरन्तर भिन्न भिन्न शरीरोंकी उत्पत्तिमें लगी रहती है।

मू०—नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

पदच्छेदः— शस्त्राणि (अतितीक्ष्णानि खड्गानि) एनम् (आत्मानम् सूक्ष्म-शरीरं वा) न (नहि) छिन्दन्ति (अवयवविभागं कुर्वन्ति।) पावकः (अग्निः) एनम् (देहिनम् सूक्ष्म-शरीरं वा) न (नैव) दहति (भस्मी कर्तुं शक्नोति) आपः (उदकानि) एनम् (देहिनम्। सूक्ष्म शरीरं वा) न (नहि) क्लेदयन्ति (आर्द्री करणेन विश्लिष्टावयवं कर्तुं शक्नोति) च (तथा) मारुतः (वायुः।) एनम् (शरीरस्वामिनं सूक्ष्मशरीरं वा) न (नहि) शोषयति (स्नेहशोषणेन निरसं कर्तुंशक्नोति) ॥ २३ ॥

पदार्थः—(एनम्) इस आत्माको वा सूक्ष्म शरीरको (शस्त्राणि) शस्त्र (न छिन्दन्ति) नहीं काट सकते, (पावकः) आग (एनम्) इसको (न दहति) नहीं जला सकती (आपः) जल (एनम्) इसको (न) नहीं (क्लेदयति) गला सकते, (च) और (मारुतः) पवन इसको (न) नहीं (शोषयति) सुखा सकता ॥ २३ ॥

भावार्थः— अर्जुनके मनमें जब यह शंका उत्पन्न होआई, कि जब यह आत्मा सर्व शरीरोंका साक्षीभूत होताहुआ पर्जन्य (मेघ माला) में तथा जठराग्नि इत्यादिमें सूक्ष्मशरीरका साक्षीभूत होताहुआ जाता है तहां गल क्यों नहीं जाता वा भस्म क्यों नहीं होजाता, तिस शंकाके निवारणार्थ भगवान् कहते हैं, कि [नैनं छिन्दन्ति शस्त्रा-

शि] इस आत्माको कोईभी शस्त्र चाहे वह तीक्ष्णसे तीक्ष्ण क्यों न हो टुकड़े टुकड़े नहीं कर सकता। तलवारकी धार इसपर कुछ-काम नहीं कर सकती। त्रिशूलके शूलसे बेधा नहीं जासकता। भिशिण्डी तोमर, परशु, इत्यादि इसका कुछभी नहीं कर सकते। क्योंकि शस्त्र उन्हीं वस्तुओंको छेदन भेदन करसकते हैं अर्थात् उनके अवयवोंको विलग विलग करसकते हैं जो सावयव हों। अर्थात् जिनमें लम्बाई, चौंडाई और मोटाईके साथ भिन्न-भिन्न आकृति हो। चाहे वह आकृति सुमेरु-पर्वतसे भी अधिक विशाल हो, चाहे अत्यन्त छोटीसे छोटी एक सुई की नोकसे भी छोटी हो। यह आत्मा अथवा सूक्ष्म शरीर तो अव-यवोंसे रहित है, इस कारण यह किसी भी शस्त्र द्वारा छेदा नहीं जा-सकता तथा [**नैनं दहति पावकः**] इस आत्माको वा सूक्ष्म-शरीरको आग भस्म नहीं कर सकती। चाहे वह आग प्रलयकालकी क्यों न हो। बडवानल नामकी आग जो समुद्रके जलको शोषण करनेकी शक्ति रखती है वह भी इसे जला नहीं सकती। पुराणोंमें ४९ प्रकारके अग्नियोंका वर्णन है पर निश्चय जानना चाहिये, कि इन उनचासोंमें कोई अग्नि इस आत्माके जलानेको समर्थ नहीं है। क्योंकि अग्नि उसी वस्तुको जला सकता है जो उसके अपने तेजसे न्यून तेज वाली हो। जैसे चांदी, सोना, तांबा, रांगा ये सब तेजमान हैं, पर अग्निके तेजसे इनके तेजमें न्यूनता है इस कारण इन वस्तुओंको आग जला सकती है, पर सो अग्नि सूर्य्यको वा विद्युतको जला-में समर्थ नहीं है। जब यह अग्नि विद्युत और सूर्य्यके ही तेजको नहीं जला सकती तो आत्माको जो इन तेजोंसे कहीं बढकर है कैसे जल

सकती है ? श्रु० "न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकम् नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः" अर्थ—तिस आत्माके महामण्डल परमधाम में न सूर्य्य प्रकाश करसकता है, न चन्द्रमा, न तारागण, न विद्युत (बिजली), तो भला कब सम्भव है, कि इसके सम्मुख अग्नि प्रकाश करे । इसके सम्मुख अग्निकी गणना ही क्या होसकती है ? जब एवम् प्रकार इस आत्माके सम्मुख होतेही अग्निका स्वयं तेज मन्द होगया तो इस आत्माको भस्म करना तो इससे बहुत दूर रहा । इसी प्रकार [न चैनं क्लेदयन्त्यापः] जल इसको गला नहीं सकते । सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके कूप, तालाब, झरने, सर सरिता तथा सातों सागर के जलोंकी शक्ति एक ठौर करदी जावे तौ भी यह आत्मा इन जलोंकी शक्तिसे गल नहीं सकता । यदि प्रलयकालकी मेघमालाका वर्षण सहस्रों कल्प पर्य्यन्त निरन्तर होता रहे तौ भी यह आत्मा गल नहीं सकता, फिर [न शोषयति मारुतः] पवन इस निरवयव आत्मा का शोषण नहीं करसकता । चाहे चारों ओर दिन रात वह झंझावात जो संपूर्ण पृथ्वीको डोलाकर भूकम्प करडालनेको समर्थ है इस आत्मा को तनक भी सुखानेको समर्थ नहीं होसकता है ॥

भगवान् के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि यह आत्मा वा यह सूक्ष्म-शरीर न शस्त्रोंसे बेधा जासकता है, न आगसे जल सकता है, न पानीसे गल सकता है, न वायुसे सूख सकता है । क्योंकि नाना प्रकारके शस्त्र, अग्नि, जल, वायु इत्यादि सब स्थूल हैं, इसलिये ये सूक्ष्म आत्मा वा सूक्ष्मशरीरको नाश नहीं करसकते । हां ! इतना तो अवश्य है, कि स्थूलको स्थूल और सूक्ष्म को सूक्ष्म नाश करसकता

है। जैसे खड्ग, स्वधिति (कुल्हाड़ी) इत्यादि मनुष्य, पशु, पक्षी स्थूल को टुकड़े-टुकड़े करसकते हैं, पर मन, बुद्धि, हर्ष, शोक इत्यादि जो सूक्ष्म हैं उनको कदापि नहीं काटसकते। इसीप्रकार अग्नि, जल, और वायु इन मन बुद्धि इत्यादि सूक्ष्म पदार्थोंको जलाने, गलाने और सुखानेमें समर्थ नहीं होसक्ते हैं। जैसे कोई चाहे, कि किसी बुद्धिमानकी बुद्धि को किसी कतरणीसे दस पांच टुकड़े करडाले अथवा आग, पानी, वा हवा इनको जला, गला और सुखा डाले तो ऐसा कदापि नहीं होसकता। हां! इतना तो अवश्य अनुभव होता है, कि किसी एक सूक्ष्मतत्व से दूसरा सूक्ष्मतत्व विनश जासकता है अथवा लोप होजा सकता है। जैसे बहुत से बालक किसी पाठशाला से छुट्टी पा खेलमें मग्न और हर्षित होरहेहैं, कोई ताली बजा रहा है, कोई नाच रहा है कोई कूद रहा है, और कोई ठहाके लगा रहा है, इतनेमें अपने शिक्षक गुरु को अपनी ओर आते हुए देख मारे भयके सबके सब एकबारगी चुप होगये और सिकड गये। तो यहां प्रत्यक्ष देखाजाता है कि भयने हर्ष को नाश करदिया। इससे सिद्ध होता है कि सूक्ष्मतत्व सूक्ष्मसे नाश होसकता है।

शंका— तबतो आत्मा जो सूक्ष्म-तत्त्व है। वह भी किसी दूसरे सूक्ष्मतत्त्वसे विनश सकता है?

समाधान— नहीं! ऐसा मत कहो! आत्मा यद्यपि सब स्थूल और सूक्ष्मतत्त्वोंमें विराजमान है, तथापि सबसे विलक्षण न स्थूल-है न सूक्ष्म है। इसलिये आत्मा का नाश नहीं होसकता। क्योंकि जितने सूक्ष्मतत्व हैं सबमें आत्मा एक रस एकसमान व्याप रहा है।

खेलने वाले बालकोंमें हर्षके समय भी आत्मा ही था, फिर गुरुमहाराजको देखकर जो उनका हर्ष भयसे बदल गया उस भयमें भी आत्माहीथा। इसी कारण आत्मा, आत्माको नाश नहीं करसकता क्योंकि जो तत्त्व परस्पर विरुद्ध धर्म्मवाले हैं वे एक दूसरे को नाश करसकते हैं, पर जो समान धर्म्मवाले हैं वे एक दूसरेको नाश नहीं करसक्ते। जैसे भय हर्ष को नाश करसक्ता है वा हर्ष भयको नाश करसकता है पर हर्ष हर्षको वा भय भयको नाश नहीं करसकता। आत्मा तो सब तत्त्वोंमें एकरस व्याप कर उन सबोंका साक्षीभूत है इसलिये आत्मा भी आत्माको नाश नहीं करसकता। क्योंकि आत्मा न स्थूल है न सूक्ष्म है वरु दोनोंसे विलक्षण दोनों के भीतर बाहर व्यापा हुआ है। इसी कारण स्थूल सूक्ष्म किसीसे नाश न होकर यह सदा अविनाशी और नित्य है ॥ २३ ॥

स्थूल वा सूक्ष्म किसी पदार्थमें ऐसी शक्ति नहीं है कि आत्मा को नाश करसके। इसलिये भगवान् इस आत्माको निर्भय, निर्विकार, अविनाशी तथा नित्य सिद्ध करने के प्रयोजन से कहते हैं कि—

मू०—अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

पदच्छेदः---अयम (आत्मा) अच्छेद्यः (अवयवशून्यत्वात् छेदितुमयोग्यः।) अयम (आत्मा) अदाह्यः (तेजपुंजत्वात् दहितुं योग्यो न) अक्लेद्यः (करचरणशून्यत्वात् द्रवीकर्तुं योग्यो न) अशोष्यः (द्रवत्वाभावात् शोषितुं योग्यो न) एवच (अतः हेतोः) अयम् (देही) नित्यः (अनुत्पाद्यत्वादखण्डैकरसः ।) सर्वगतः (सर्वेषुगतः ।) स्थाणुः

(स्थिरस्वभावः।) अचलः (रूपान्तरापत्तिशून्यः। कूटस्थः। अविकारी।) सनातनः (अनादिः। चिरन्तनः।)॥ २४॥

पदार्थः— (अयम्) यह आत्मा (अच्छेद्यः) शस्त्रोंसे काटे जाने योग्य नहीं है (अयम्) यह आत्मा (अदाह्यः) अग्निसे जलने योग्य नहीं है (अक्लेद्यः) जलसे गलने योग्य नहीं है (च) और (अशोष्यः) निश्चय कर वायुसे शोषण कियेजाने योग्य (एव) भी नहीं है। इसलिये (अयम्) यह देहका स्वामी आत्मा (नित्यः) नित्य है। तीनों कालमें एक रस है (सर्वगतः)सबमें व्यापाहुआ है (स्थाणुः) स्थिर स्वभाववाला है (अचलः) कहीं हिलनेवाला नहीं है। (सनातनः) सदासे है। पुराना है॥ २४॥

भावार्थः— पहले जो भगवान् अर्जुनके प्रति यह कह आये हैं, कि यह आत्मा कटता, जलता, गलता वा सूखता नहीं। तिसका अब कारण दिखलातेहुए कहते हैं, कि [अच्छेद्योऽयमदाह्यो ऽयमक्लेद्योऽशोष्य एवच] यह आत्मा सदा अच्छेद्य है अर्थात् किसी भी शस्त्रसे बेधा नहीं जाता है। अदाह्य है अग्निमें नहीं जलता है। अक्लेद्य है पानीसे नहीं गलता है। अशोष्य है अर्थात् वायुसे नहीं सूखता है।

यदि शंका हो, कि भगवान् तो पहलेही कह आये हैं, कि यह आत्मा जलता गलता वा सूखता नहीं है, फिर उसी विषयके दोबारा कहने का क्या प्रयोजन था? ऐसी पुनरुक्तिकी क्या आवश्यकता थी? उत्तर इसका यह है, कि कार्य्य कारणके भेदसे पहले श्लोक में कार्य्य दिखलाकर फिर इसे दूसरे श्लोकमें उसी कार्य्यका कारण दिखलारहे

हैं अर्थात् यदि कोई पूछे, कि यह क्यों नहीं कटता, जलता, गलता तो यों उत्तर देना चाहिये, कि यह पहलेही से अर्थात् अनादि कालसे एकरस वर्त्तमान रहता हुआ अनन्त काल पर्य्यन्त स्थिर रहने के कारण किसी भी विकारसे विकृत नहीं होसकता। अविनाशी हैं और नित्य है। इसलिये इसे विकृत करनेके जितने यत्न हैं सब इसके सम्मुख आकर लज्जित और निरर्थक होजाते हैं।

अब श्री आनन्दकन्द ब्रजचन्द अर्जुनसे कहते हैं, कि इतनाही नहीं, कि यह आत्मा अनादिकालसे अच्छेद्य इत्यादि गुणोंसे विशिष्ट है इसलिये नहीं कटता, जलता, गलता वा सूखता है। वरु इसके नहीं कटने, जलने, गलने और सूखनेके अनेक अन्य कारण भी हैं सो सुनो! [नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः] यह नित्य है। सर्वगत है। स्थाणु है। अचल है। और सनातन है। अर्थात् यह कटता जलता क्यों नहीं? तो कहना चाहिये, कि यह नित्य है। नित्य क्यों है? तो कहना चाहिये कि सर्व्वगत है अर्थात् कोई स्थान इससे शून्य नहीं है। सब ठौरमें प्रवेश किये हुआ है। फिर सर्वगत क्यों है? तो कहना चाहिये, कि स्थाणु है। स्थिर है। प्रलयकालके वायुके हिलाये भी नही हिलता। क्यों नहीं हिलता? तो कहना चाहिये कि सदा अचल है। किसी प्रकारका परिवर्तन इसमें नहीं होता। क्यों अचल है? तो कहना चाहिये, कि सनातन हैं अर्थात् सदासे है और सदा रहेगा। इसका अभाव कभी भी नहीं होगा। इसी कारण भगवान् पहले कहचुके हैं, कि "नाभावो-विद्यते सतः" जो सत् वस्तु है उसका किसी कालमें अभाव नहीं

होसकता। इसलिये यह आत्मा सत् होनेके कारण सनातन है और सब ओर व्यापक है।

पहले भगवान् अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय ये चार विशेषण इस आत्माके दे आये हैं। देखो श्लो० २१ पृ० २६२। अब इनसे अतिरिक्त वाचारम्भण विकारके कारण अन्य चार प्रकारके विशेषणोंसे भी विशिष्ट करते हैं, कि यह आत्मा क्यों नित्य कहाजाता है? तो सर्वगत है, स्थाणु है, और सनातन है। अर्थात् नित्य इत्यादि चार विशेषणोंके साथ इन सर्वगत इत्यादि चार विशेषणोंको जोड देनेसे सब मिलकर आठ मुख्य विशेषण होते हैं, पर ये सब जिज्ञासुओंके समझानेके लिये हैं। नहीं जो सच पूछो तो आत्मा सर्व विशेषणोंसे रहित है। इसी कारण सब ओर सब ठौर निवास किये हुआ है। अर्थात् ऊपर, नीचे, दायें, बायें जिधर देखो सर्वत्र सब ठौरमें आत्मा ही भराहुआ है। प्रमाण श्रु० आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्ठादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणात आत्मोत्तरतआत्मैवेदꣳ सर्वमिति॥ (छान्दो० उत्तर प्र० ७ श्रु० २५ में देखो) अर्थ— निश्चय करके यह आत्मा नीचेसे है, यह आत्मा ऊपरसे है, यही आत्मा पीछेसे है, यह आत्मा आगेसे है, यह आत्मा दक्षिणसे है और यही आत्मा उत्तरसे भी घेरे हुए है। इसीलिये जोकुछ है सब आत्मा ही आत्मा है। इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, कि यह आत्मा सर्वगत है सर्व देशमें है।

अब इसको सब वस्तुओंमें दिखलाते हैं—प्रमाण श्रु० हँसःशुचिषद्वसुरन्तरि क्षसद्धोता वेषददतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जगोजाऋतजाअद्रिजाऋतम्बृहत्॥ (काठ० अ० २ बल्ली २

श्रु० २) अर्थ— यह आत्मा हंस (सूर्य्य) होकर आकाशमें रहता है, (वसु) वायु होकर अन्तरिक्षमें रहता है। होता होकर वेदि जो यज्ञ सम्पादनकी पवित्र संस्कार कीहुई ऊंची भूमि तहां रहता है, पानीमें जल-जन्तु वा कमल होकर जन्म लेनेवाला है और यज्ञमें जन्मता है वा सत्यमें जन्मता है। सो जो वह सत्य है वह बहुत बडा है।

इस श्रुतिसे आत्माका भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें निवास करना सिद्ध होता है।

इन्हीं प्रमाणों द्वारा भगवान्का इस आत्माको * सर्वगत कहना सिद्ध है।

अब सर्वगत क्यों है ? तो पहले ही कहआये हैं, कि "स्थाणु" है अर्थात् स्थिर है, तनक भी नहीं डोलता तथा किसी प्रकार कहीं टल नहीं सकता। सर्वगत वही वस्तु होगी जो स्थाणु होगी। क्यों-कि जो वस्तु सब ठौर नहीं है वह एक ठौरसे दूसरे ठौरको हट सकती है। क्योंकि दायें बायें हिलनेका स्थान मिलता है, पर जो वस्तु सब ठौर भरीहुई है उसे हिलनेका स्थान नहीं मिल सकता। फिर स्थाणु होना इस बातको भी सिद्ध करता है, कि यह आत्मा सर्वगत है और सर्वगत होना भी यही सिद्ध करता है फिर यह आत्मा स्थाणु है दोनो विशे-षणोंमें अन्योन्य सम्बन्ध है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि आत्माके चार मुख्य विशेषणोंमें जो "नित्य" ऐसा विशेषण है उसके सिद्ध करनेके निमित्त भगवान्ने इस

* सर्व ठौर वर्त्तमान रहनेवालेको सर्वगत कहते है।

आत्माके सर्वगत, स्थाणु, अचल और सनातन ये चार विशेषण इस श्लोकमें अधिक दिखलाये ॥ २४ ॥

अब भगवान् अगले तीन श्लोकोंमें अर्जुनको शोक रहित करने के तात्पर्य्यसे इस आत्माके अन्य विशेषणोंकी समाप्ति करते हैं ।

मू०—अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्य्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

पदच्छेदः— अयम् (आत्मा) अव्यक्तः (सर्व करणागोचर-त्वान्नव्यजते यः । प्रत्यक्षगम्यमानात्स्थूलशरीरादन्यः । रूपादिहीनत्वा-च्चक्षुराद्यविषयः । प्रत्यक्षातीतः ।) अयम् (आत्मा) अचिन्त्यः (न चिन्तितुंयोग्यः । मनसोप्यविषयः । नानुमानगम्यः ।) अयम् (आत्मा) अविकार्य्यः (निरवयवत्वादविक्रियः। स्थूल सूक्ष्म कार्य्य रहितत्वात्कर्म्मेन्द्रियाणामप्यगोचरः) उच्यते (तत्त्वज्ञैः कथ्यते) तस्मात (अतः) एनम (आत्मानम्) एवम् (यथोक्त प्रकारेण लक्षणेन युक्तम ।) विदित्वा (ज्ञात्वा) अनुशोचितुम (बन्धु-वियोगजं शोकं कर्त्तुम।) न (नैव) अर्हसि [योग्यो भवसि]॥२५॥

पदार्थः— (अयम) यह आत्मा (अव्यक्तः) अव्यक्त अर्थात् अप्रत्यक्ष है, किसी भी इन्द्रियद्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता, फिर (अयम) यह आत्मा (अचिन्त्यः) अनुमानादि प्रमाणोंसे चिन्ता करने योग्य नहीं है तथा (अयम) यह आत्मा (अविकार्य्यः) विकारवान भी नहीं है (तस्मात्) इसलिये (एनम्) इस आत्माको इस प्रकार अगोचर और अविकारी (विदित्वा) जानकर हे अर्जुन!

तू (अनुशोचितुम्) इसके मरने मारनेका शोच करनेके (न अर्हसि) योग्य नहीं है अर्थात् अपने बन्धुवर्गोंके मरने वा मारनेका शोच मत कर ! ॥ २५ ॥

भावार्थः—श्यामसुन्दरके मुखारविन्दसे यह सुनकर, कि यह आत्मा सडता गलता नहीं, जलता भुनता नहीं तथा सूखता टटाता नहीं वरु यह आत्मा नित्य है, सर्वत्र है, अचल है, और सनातन है, अर्जुनके हृदय में यह लालसा हुई, कि यदि मैं ऐसे आत्माको इन नेत्रोंसे एकबार भी देखलेता तो कृत-कृत्य होजाता। अर्जुन की इस अभिलाषा को सर्वज्ञ श्रीकृष्ण भगवान जानगये और बोले— हे अर्जुन ! [अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्य्योऽयमुच्यते] यह आत्मा जिसे तू इन आंखो से देखने की अभिलाषा कररहा है सो "अव्यक्त" है अर्थात् प्रत्यक्त नहीं है। इसलिये यह इन आंखों से देखा नहीं जाता, कानोंसे सुना नहीं जाता, नासिका से सूंघनेमें नहीं आता, जिह्वा द्वारा आस्वादन करने योग्य नहीं है और कर चरण इत्यादि कर्मेन्द्रियों द्वारा भी ग्रहण नहीं कियाजाता। क्योंकि अव्यक्त है। यदि तू यह कहे, कि जब यह आत्मा इन्द्रियों का विषय नहीं है, किसी इन्द्रिय द्वारा नहीं जानसक्ते, तो हे भगवन् ! यह अनुमानकरनेसे तो कुछ समझमें आसकेगा अर्थात् मन बुद्धि इत्यादि अन्तःकरण द्वारा तो कुछ अनुमान में आजाता होगा। सो हे अर्जुन ! यह मन बुद्धिका भी विषय नहीं है। इसी कारण यह अचिन्त्य है, किसी प्रकार इसकी चिन्ता कुछ भी नहीं होसकती। क्योंकि जो वस्तु इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होसकती उसे मन बुद्धि कैसे ग्रहण करसके ? क्योंकि ऐसा नियम है,

कि जब ये ही दशों इन्द्रियां सर्व प्रकारकी वस्तु तत्त्वोंको ग्रहण कर अन्तःकरणके सम्मुख लाती हैं, तब वह उनका अनुमान वा वि-चार करने लगजाता है। सो ये इन्द्रियां इस आत्माको ग्रहण कर अन्तः-करणके सम्मुख न लासकती हैं न वह अन्तःकरण इनका विचार कर-सकता है। इसकारण इसे अचिन्त्य कहागया है। मनसे मनन नहीं किया जासकता तथा जिसके पहचाननेमें बुद्धि कुछ काम नहीं कर सकती। फिर भगवान कहते हैं, कि वह अविकार्य्य भी है। अर्थात् किसी प्रकार विकारवान् नहीं होता। सो तो होनाही चाहिये। क्योंकि जो तत्त्व अव्यक्त और अचिन्त्य होगा। वह अविकारी तो अवश्य ही होगा। जिसमें कुछ अवयव होता है वही विकारको प्राप्त होसकता है, पर जो निरवयव है वह विकारवान् क्यों होवे? श्लोक १७में छओं प्रकारके विका-रोंकी गणना करआये हैं और दिखला आये हैं, कि इन विकारोंसे यह आत्मा विकृत नहीं होता। उसी वचन को फिर दृढ करनेके लिये यहां भी उसे अविकार्य ऐसे विशेषणसे विभूषित किया है। इसी कारण विद्वान और तत्त्वज्ञ इसे अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य्य कहते हैं। श्रुतियोंसे भी यही वचन सिद्ध होता है—प्रमाण श्रु०— न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि इति शुश्रुम पूर्वेषां येनस्तद्व्याचचक्षिरे ॥ (केनोपनि० श्रु० ३)

अर्थ— उस आत्मामें आंख नहीं जाती अर्थात् वह निराकार निरंज-न है इसकारण नेत्रोंको विषय न होनेसे देखा नहीं जाता। फिर उस आत्मामें वचन भी नहीं जाता अर्थात् अक्षर पद वा वाक्योंसे उसे बोल-

कर जना नहीं सकते। यदि कहो, कि साकार नहीं होनेसे आंख आ श्रवन इत्यादि इन्द्रियां उसे ग्रहण नहीं करसकतीं तो मन द्वारा मनन करके उसे अनुमानमें तो लासकते हैं। तहां श्रुति कहती है, कि "न-मनः" तहां मन भी नहीं जाता, और न मैं उसे जानती हूं. न अपने शिष्योंको जना सकती हूं, जैसा यह है। क्योंकि यह विदितसे न्यारा है और अविदितसे भी न्यारा है अर्थात् जितनी वस्तु आज तक जानीगई हैं उन सबसें इतर है, तथा जितनी नहीं जानी गई हैं इनसे भी पश्चात् है अर्थात् न्यारा है। तात्पर्य्य यह है, कि ढूंढते-ढूंढते अन्तमें सब वस्तुओंकी ढूंढ समाप्ति होनेपर भी इसकी ढूंढ रही जाती है। ऐसा उन पूर्वके तत्त्वज्ञोंके द्वारा सुनाजाता है जो हमारे प्रति उस आत्माका उपदेश करते हैं।

इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है, कि यह अव्यक्त है, अचिन्त्य है, अविकार्य्य है इसी लिये भगवान् अर्जुनको यों कहरहे हैं, कि [तस्मादेवंविदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि] हे अर्जुन! तू इस आत्माको उक्त प्रकार सब विकारोंसे रहित जान इसके विषय शोच करने योग्य नहीं है अर्थात् ये तेरे बन्धुवर्ग तेरे मारनेसे न मरेंगे न तेरे जिलानेसे जीवेंगे। इस कारण तू शोच को परित्याग करके युद्ध कर! तथा इस आत्माके देखनेकी जो तू अभिलाषा रखता है सो तू इस चर्मदृष्टिसे इसको नहीं देखसकता इसलिये इसको अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य्य जानकर तू शोच करने योग्य नहीं है॥ २५॥

यदि तू यह कहे, कि जब मैं इसको अव्यक्त अथवा अज और अविनाशी मानूं तब तो युद्ध करनेमें कोई शोक नहीं, पर जो मेरा चित्त

इस गूढ रहस्यको न समझे और ऐसा समझे कि यह आत्मा जन्मता मरता है तो मैं कैसे युद्ध करूं? तो सुन! मैं तुझे अगले दो श्लोकोंमें समझाताहूं—

मू०— अथचैनंनित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं महावाहो नैनं शोचितु मर्हसि॥२६॥

जातस्य हि ध्रुवोमृत्युर्ध्रुवंजन्ममृतस्य च

तस्मादपरिहार्य्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

पदच्छेदः—महाबाहो ? (महान्तौ शत्रुविदारकौ बाहू यस्य सः "तत्सम्बुद्धौ) अथ (अनन्तरम) च (तथा) एनम (प्रकृतमात्मानम्।) नित्यम (सर्वदा) जातम् (उद्भूतम्) वा नित्यम् (सदा) मृतम् (प्राण रहितम् । गतप्राणः । परांसुः प्राप्तपंचत्वम्) मन्यसे (स्वीकारं करोषि ।) तथापि (तदापि) त्वम्, एनम् (आत्मानम् ।) शोचितुम् (शोककर्त्तुम्) न (नैव) अर्हसि (योग्यो भवसि) हि (यस्मात् कारणात्) जातस्य (उद्भूतस्य । उत्पन्नस्य) मृत्युः (मरणम् ।) ध्रुवः (निश्चितम् । स्थिरम् ।) च (तथा) मृतस्य (गतप्राणस्य ।) जन्म (उत्पत्तिः) ध्रुवम (निश्चयम।) तस्मात् (अतः) अपरिहार्य्ये (अवश्यम् भाविनि । अपरिहरणीये। अत्याज्ये ।) अर्थे (विषये) त्वम् शोचितुम (शोककर्त्तुम) न (नहि) अर्हसि (योग्यो भवसि ।) ॥ २६, २७ ॥

पदार्थः— (महाबाहो) हे विशाल बाहुवाला अर्जुन !

* किसी किसी ग्रन्थमें " नैवं " ऐसा पाठ है।

(अथ च) यदि तू (एनम्) इस आत्माको (नित्यजातम्) सदा जन्मता रहनेवाला (वा) अथवा (नित्यम् मृतम्) सदा मरता रहनेवाला (मन्यसे) मानता है (तथापि) तो भी (त्वम्) तू (एनम्) इसके लिये (शोचितुम्) शोच करनेके (न अर्हसि) योग्य नहीं है (हि) क्योंकि (जातस्य) जन्म लेनेवालेकी (मृत्युः) मृत्यु (ध्रुवः) अवश्य ही होती है (च) और (मृतस्य) मरेहुए का (जन्म) जन्म भी (ध्रुवम्) अवश्य होताहै (तस्मात्) इसलिये (त्वम्) तू इसके विषय भी अवश्य (शोचितुम्) शोच करनेके (न अर्हसि) योग्य नहीं है ॥ २६, २७ ॥

भावार्थः--अब श्री आनन्दकन्द ब्रजचन्द अर्जुनको शोकरहित करनेके लिये आप शंका कर तिस शंकाका समाधान करतेहुए अर्जुन के प्रति कहेते हैं, कि हे महाबाहो ! अर्थात् परमपराक्रमवाली विशाल भुजाओंसे शत्रुओंको सदा जय करनेवाला मेरा परम प्रिय अर्जुन! मैं जानता हूं, कि तुझे मेरे वचनोंमें किसी प्रकारकी शंका नहीं है, तू मेरे कहनेके अनुसार ही इस आत्माको अज, अद्वैत, अविनाशी, और अव्यक्त इत्यादि गुणोंसे विशिष्ट मानता है, क्योंकि तू ज्ञानी है, विद्वान शास्त्रोंका वेत्ता है, तथापि इस समय अपने स्वजनोंको, बांधवोंको, तथा भीष्म और द्रोणको, अपनी विशाल भुजाओंसे युद्ध द्वारा हनन करने का अवसर देख तू कुछ चंचल चित्त होरहा है, तेरी बुद्धि शोकग्रस्त होरही है, इसलिये यह संभव है, कि तू इस समय थोडी देरके लिये इस आत्माको जन्म लेनेवाला और मरनेवाला मानरहा है । सो हे अर्जुन ! [**अथचैनं नित्यजातं वा मन्यसे मृतम्**] यदि तू

इस आत्माको सदा जनमते रहनेवाला वा मरते रहनेवाला भी मानता है अर्थात् बारम्बार एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेवाला मानता है [तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि] तो भी तू हे विशालबाहू अर्जुन ! शोक करने योग्य नहीं है। क्योंकि [जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः] जो जन्म लेता है उसकी तो अवश्य एक दिन न एक दिन मृत्यु निश्चय ही है, चाहे सहस्रों यत्न करके उसे परम रक्षित स्थानमें लोहकी शृंखलासे जकड़कर क्यों न बांध रखिये, पर मृत्यु तो उसे लेही जायेगी । तथा [ध्रुवं जन्म मृतस्य च] मरनेवालेके लिये जन्मलेना भी निश्चयही है जब तक कि वह मोक्षको न प्राप्त हो। श्यामसुन्दरके परम प्रिय पिता श्री वसुदेवजीने भी यही वचन कंसके प्रति कहा है, कि "मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते। अद्य वाऽब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥ " अर्थात् हे वीर कंस ! यह जो मृत्यु है सो जन्म लेने वालेके साथ ही साथ उत्पन्न होती है इसलिये आज अथवा सौ वर्ष पीछे प्राणियोंका मरजाना निश्चय ही है। अब भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि—

[तस्मादपरिहार्य्येऽर्थे नत्वं शोचितुमर्हसि] इसलिये हे वीर अर्जुन ! तुझको इस मृत्युके रोकनेके विषय शोक करना योग्य नहीं है । क्योंकि जो पदार्थ रोकने योग्य हो और न रोकाजावे तब अवश्य अपने बल, बुद्धि, वा पराक्रमकी अयोग्यता पर लज्जित होकर शोक करना चाहिये, पर जो बात अनिवार्य है न कभी रोकीगयी, न रोकी जासकती है, न रोकी जावेगी, ऐसी वस्तुके रोकनेका यत्न करना तथा उसकेलिये शोक करना तेरे ऐसे बुद्धिमान्के लिये अयोग्य है ।

इसलिये तू किसी प्रकारका शोक मत कर! अर्थात् अपने वन्धुवर्गोंके इस युद्धमें मारेजानेका शोक त्याग युद्ध सम्पादन कर!

शंका—यहां भगवानने जो अर्जुनके प्रति यों कहा, कि "तू इस आत्माको "**नित्यजात**" वा "**नित्यमृत**" अर्थात् सदा जनमता वा मरता रहनेवाला मानता है तौ भी तू शोक करने योग्य नहीं है" ऐसा क्यों कहा? ऐसे कहनेसे आत्माकी नित्यता जाती रहती है। क्योंकि क्षण-क्षणमें पुनः पुनः जीते मरते रहना तो देहका स्वभाव है आत्माका नहीं। फिर ऐसी बातको स्वीकार करलेनेकी आज्ञा क्यों दी?

समाधान—बहुतेरे मतवाले अपने-अपने मनगठत शास्त्रानुकूल इस आत्माको अनित्य मानते हैं—सुनो "**आत्माज्ञानस्वरूपः प्रतिक्षण विनाशी**" (इति सौगताः) अर्थात् आत्मा जो विज्ञानस्वरूप है वह क्षण-क्षणमें नाश होनेवाला है। अर्थात् अविनाशी नहीं है ऐसा सौगतवृन्द जो बौधमतावलम्बी हैं, मानते हैं। "**देह एव आत्मा स च स्थिरोप्यनुक्षण परिणामी जायते नश्यति चेति प्रत्यक्षसिद्धमेवैतदिति लोकायतिकाः**"। अर्थ—यह स्थूल देह ही आत्मा है सो स्थूल देह रूप आत्मा स्थिर रहतेहुए भी प्रतिक्षण परिणामको प्राप्त होता है, तथा जनमता है, नाश होता है, फिर यह प्रत्यक्ष प्रमाण करके सिद्ध है अर्थात् इन नेत्रोंसे देखाजाता है इस प्रकार आत्माको **लोकायतिक** जो चार्वाक मतवाले हैं मानते हैं।

देहातिरिक्तोऽपि देहेन सहैव जायते नश्यति चेत्यन्ये—अर्थात् यह आत्मा देहसे भिन्न होते हुए भी देहके साथ-साथ जनमता है

और मरता है ऐसा किसी दूसरे मतवाले मानते हैं । फिर "सर्गाधका एवाकाशवज्जायते देहभेदे प्यनुवर्त्तमान एवाकल्प स्थायी नश्यति प्रलये इत्यपरे ।" अर्थ—इस सृष्टिके आरंभमें जैसे आकाशकी उत्पत्ति होती है, ऐसे ही आत्माकी भी होती है । सो देहोंमें भिन्न भेद होने पर भी यह कल्प पर्य्यन्त स्थिर रहता है और कल्पके अन्तमें नाश को प्राप्त होजाता है । या प्रकारका आत्मा कोई दूसरे मतवाले मानते हैं । फिर " नित्य एव आत्मा जायते म्रियते चेति तार्किकाः ।" अर्थात् यह आत्मा नित्य है सो नित्य ही जनमता मरता रहता है इस प्रकार तार्किक लोग मानते हैं ।

इन भिन्न-भिन्न मतोंके दिखानेसे ऐसा स्पष्ट होता है, कि कोई इस आत्माको नित्य और कोई अनित्य मानता है। इसी कारण भगवान् ने अर्जुनको दोनों प्रकारसे आत्माको मानते हुए भी शोक करनेका कोई कारण नहीं है ऐसा उपदेश करनेके तात्पर्य्यसे इससे पूर्व २५ वें श्लोकमें आत्माकी नित्यताको स्वीकार कर अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य्य कहकर शोकरहित होनेका उपदेश किया।

अब इन २६ और २७ दोनों श्लोकोंके द्वारा आत्माको भिन्न-भिन्न मतावलम्बियोंके मतानुसार अनित्य मानते हुए भी बन्धुवर्गोंके हनन कियेजानेके शोकसे रहित होजानेकी शिक्षा अर्जुनको देरहे हैं। इसलिये यहां शंकाका स्थान नहीं है । क्योंकि अर्जुनके मिससे भगवान् संसारभरके मतावलम्बियोंको अपने सम्बन्धियोंके जन्म और मरणके हर्ष और शोकसे रहित होनेका उपदेश कररहे हैं ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि यह आत्मा नित्य हो वा अनित्य,

अविनाशी हो वा नाशवान, जन्म मरण रहित हो वा जन्म-मरण सहित हो, सूक्ष्म हो वा स्थूल, विकार-रहित हो वा विकारवान, चाहे कुछ भी क्यों न हो, पर इसके दोनों विभिन्न दशाओंमें शोक करने योग्य नहीं है ॥ २६, २७ ॥

हे अर्जुन ! यदि तू यह कहे, कि मैं इन अपने बांधवोंके आत्मा का शोक नहीं करता वरु केवल इनके शरीरके नष्ट होनेका शोक करता हूं। तो सुन !

मू०—अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत !
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

पदच्छेदः— भारत ! (हे भरतवंशावतंस अर्जुन !) भूतानि (शरीराणि आकाशादि महाभूतानि।) अव्यक्तादीनि (प्रागुत्पत्तेरदर्शनं येषां तानि. अथवा अव्यक्तमव्याकृतमविद्योपहितचैतन्यमादिः प्रागवस्थायेषां तानि।) व्यक्तमध्यानि (स्पष्टः मध्यः; जन्मान्तरं मरणात्प्रागवस्थायेषां तानि। जन्ममरणान्तरालस्थिति लक्षणं येषां तानि। अथवा व्यक्तं नामरूपाभ्यामेव विधकाभ्यां प्रकटीभूतं नतु स्वेन परमार्थे सदात्मनामध्यस्थित्यवस्था येषां तादृशानि। आकाशादि महाभूतानि।) अव्यक्त निधनानि (मरणादूर्ध्वं पुनरदर्शनं येषां तानि। अथवा अव्यक्ते स्वकारणे मृदीव घटादीनां निधनं प्रलयो येषां तानि। तत्र (तेषु।) [illegible] (यो[illegible] [illegible] दुःख[illegible]लापः) का ? (किम्

[illegible] गत। नासौ त[illegible] न [illegible] का परिदेवना ॥ " आदावन्तेच यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा।

र्थम् । किं तर्हि)॥

पदार्थः— (भारत !)हे भरतवंशभूषण अर्जुन ! (भूतानि) जितने शरीर हैं अथवा आकाशादि महाभूत हैं सब *(अव्यक्तादीनि) अव्यक्तादि हैं अर्थात् अपनी उत्पत्तिसे पहले शरीर रहित होनेके कारण नहीं देखेजाते । केवल (व्यक्तमध्यानि)मध्यमें थोडे कालके लिये व्यक्त होगये हैं अर्थात् शरीरवाले होकर देखेजाते हैं फिर (अव्यक्तनिधनानि) अन्तकालमें भी अव्यक्त होजाते हैं । इनमें एक भी कहीं नहीं देखेजाते । अर्थात् ये सब आदिमें भी अव्यक्त और अन्तमें भी अव्यक्त हैं, केवल मध्यमें व्यक्त होजाते हैं इस कारण (तेषु) इनके शोकमें (का परिदेवना) दुःख क्या करना ? ॥ २८ ॥

भावार्थः— अब श्री गोलोकविहारी जगतहितकारी अर्जुनसे कहते हैं, कि हे शुद्ध भरत वंशका भूषण अर्जुन ! पांचभूतोंके मेलसे चौरासी लक्ष योनियोंके शरीरोंके तथा तेरे संग युद्ध करनेवाले भीष्म और द्रोणके शरीरोंके नष्ट होनेका यदि तू शोक करता है तो सुन ! [+अव्यक्तादीनिभूतानि] ये जितने शरीरमात्र इस संसारमें हैं सबके सब आदिमें अर्थात् अपनी उत्पत्तिसे पहले अव्यक्त थे । इनका कोई भी शरीर नहीं था । इनका अदर्शन था । प्रत्यक्ष प्रमाणके विषय नहीं थे । अनुपलब्ध थे । ढूंढनेसे कहीं इनका पता भी नहीं लगता था । इन पुत्र, पौत्र, मित्र, श्वसुर, श्याला इत्यादिके शरीरोंका कहीं रूप रेख मात्र भी नहीं था । पर मायाकी गंभीर रचनाके प्रभावसे [व्य-

* अव्यक्तादीनि - अदर्शन, अनुपलब्धिरादिर्येषां ॥ शंकरः ॥

क्तमध्यानिभारत !] हे भरतवंशोत्पन्न अर्जुन ! ये केवल मध्यमें व्यक्त होगये हैं । अर्थात् प्रत्यक्ष होगये हैं, जिनको हमलोग इन आंखोंसे अपने सम्मुख देख रहे हैं । एवम् प्रकार देखते-देखते जिनके साथ हमलोगोंका गाढ स्नेह होगया है । इसी गाढ स्नेहके कारण इनके संग ममत्वका अभिनिवेश होरहा है । हमलोग इनको और ये हमको अपना-अपना कहकर पुकार रहे हैं। इसी कारण जो प्राणी अज्ञानताके कारण मायाजालमें पडकर इनसे स्नेह करता है वह मिलापसे हर्षित और वियोगसे दुःखित होता है । पर हे अर्जुन ! जो प्राणी तेरे समान ज्ञानी और बुद्धिमान हैं, माया जालसे रहित हैं, सच्चे तत्त्वको समझनेवाले हैं, वेतो जानते ही हैं, कि ये पहले कहीं न थे केवल मध्यमें प्रगट होगये हैं फिर कुछ काल अपनी आयुभर इस संसारमें रहकर [अव्यक्तनिधनान्येव] अन्तमें निश्चय करके अव्यक्त होजावेंगे। अर्थात मर कर लोप होजावेंगे । कालके गालमें पडजानेसे इनका फिर अदर्शन होजावेगा । ये कहीं नाममात्र भी नहीं देखे जावेंगे ये सब जल भुनकर भस्म हो वायुमें उडकर आकाशमें लय होजावेंगे । विचारकी दृष्टिसे देखोगे तो तुमको यही निश्चय होजावेगा, कि ये न पहले थे, न आगे रहेंगे । केवल मध्यमें हम इनको देखरहे हैं । जैसे स्वप्नसे पहले स्वप्नके पदार्थ स्वप्न देखनेवालेके पास नहीं रहते, स्वप्न लगनेतक देखेजाते हैं, फिर स्वप्न टूटनेके पीछे भी ये कहीं नहीं देखेजाते । इसी प्रकार जिन शरीरोंको तू देखरहा है उन शरीरों की प्रतीति पहले न थी, न आगे इनकी कहीं प्रतीति होगी, केवल मध्यमें इनकी प्रतीति होती है; सो मिथ्या है । यथार्थमें इनकी कही स्थिति नहीं है ।

प्रमाण श्रुति— "स यदा स्वपिति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति- चक्षुः सर्वैः रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति, मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति स यदा प्रबुध्यतेऽथैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणायथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवाः देवेभ्यो लोकाः" इति॥

अर्थ— जब प्राणी सोजाता है तब इसको वचन सब नामोंके साथ एक करदेता है। नेत्र सब रूपोंके साथ एक करता है। कान सब शब्दोंके साथ एक करदेता है। मन सब ध्यानोंके साथ एक करदेता है। फिर जब जगपडता है तब इस आत्मासे सब इन्द्रियां निकलकर अपने-अपने स्थानोंमें प्रतिष्ठित होजाती हैं। इन इन्द्रियोंसे इनके अधिष्ठातृ देव और उस देवसे लोक अपने-अपने ठौर परे प्रतिष्ठित होजाते हैं। जैसे दृष्टि-शक्ति चक्षुमें और चक्षु द्वारा सूर्य्य और सूर्य्य द्वारा सब लोक लोकान्तर अपने-अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित होजाते हैं। इसी प्रकार अन्तकालमें सब शरीर अपने उत्पत्ति स्थानमें जहांसे वे आये थे तहां लय होजाते हैं। तहां इनका रूप रेख कुछभी नहीं रहता है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि हे धनुर्धर ! मैं तुझसे यही कहूंगा, कि जब इनसे हमको सदाका नाता नहीं है तो [**तत्रका परिदेवना**] इनकेलिये शोकसे जर्जरीभूत होकर क्यों दुःखी होना ? पुराणका वचन है, कि अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः। नासौ तव न तस्य त्वं वृथाका परिदेवना ॥ अर्थ— जिसका पहले अदर्शन था सो मध्यमें आपडा है फिर तिसका अदर्शन होजाता है। न तेरा कोई है न किसीका तू है इसलिये तू वृथा क्यों इनके लिये दुःखसे दुखित होता है। बहुतेरे भाष्य करनेवालोंने इस श्लोकका यों भी अर्थ किया है, कि

ये जो आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी पांचों महाभूत हैं, ये अव्यक्तसे उत्पन्न होकर मध्यमें व्यक्त होजाते हैं फिर क्षणिक स्थिर रहकर उस अव्यक्तमें लय होजाते हैं। इसी कारण ऐसा कहाजाता है, कि न आदिमें कहीं इनका रूप रेख है न अन्तमें है। फिर जब ऐसा ही है तो तत्वज्ञानियोंको इनका शोक कुछभी नहीं करना चाहिये।

दूसरी बात यह है, कि " आदावन्तेच यन्नास्ति वर्त्तमानेपि-तत्तथा" अर्थात् जो वस्तु आदि अन्तमें नहीं है उसका बर्त्तमान कालमें होना भी मिथ्या ही समझाजाता है। फिर मिथ्या वस्तुके लिये शोक क्यों करना ? देखो जैसे स्वप्नमें प्राणीको धन सम्पत्ति तथा चक्रव-र्त्तिकी गद्दी प्राप्त होजाती है फिर उस स्वप्नके टूटनेके पश्चात् सब वस्तुओंका नाश होजाता है पर इनके नाश होजानेका शोक कोई भी नहीं कारता है। क्योंकि मिथ्या जानता है। इसी प्रकार इस संसारके वन्धु बान्धव स्वजन सहायक अपने पराये केवल मृगतृष्णा-वत भास-रहे हैं। इस कारण बुद्धिमान् तो इनके नष्ट होनेका कुछ शोकही नहीं करता।

शंका— बहुतसी श्रुतियों से यह सिद्ध होरेहा है, कि ये सब शरीर तथा ये पांचों महाभूत उसी एक नित्य, अविनाशी, अजन्मा आत्मासे वा ब्रह्मसे निकलते हैं। उसी करके वर्त्तमान रहते हैं। फिर उसी अपने नित्य स्वरूप आत्मामें लय होजाते हैं। प्रमाण श्रु० तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिंगः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः तथा अक्षाराद्विविधाः सोम्यभावाः प्रजायन्ते तत्रचैवापियन्ति। (मुण्ड० २ खण्ड १ श्रु० १) अर्थ—जैसे बलती हुई आगसे सहस्रों चिनगारियां निक-

ज्ञती रहती हैं ऐसे हे प्रिय दर्शन ! उस अक्षर ब्रह्मसे ये सब जीव निकलते रहते हैं फिर उसीमें लय होजाते हैं। यह सत्य है दूसरी श्रुति भी इसी बार्त्ताको पुष्ट करती है-"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यस्मिन् प्रयन्त्यभि संविशन्ति ।(तैत्ति० अ० ३ श्रुति १ में देखो) अर्थ-- जहांसे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं। जिससे सब पाले जाते हैं । फिर जहां जाकर सब अन्तमें प्रवेश करजाते हैं उसी को ढूंढ ! वही ब्रह्म है इसी श्रुतिको व्याससूत्र "जन्माद्यस्य यत ।" भी पुष्ट करता है । अर्थात इस सृष्टिका जन्म पालन और संहार जहांसे होते रहते हैं वही ब्रह्म है। ऐसी सैकडों श्रुतियां जो विस्तारके भयसे यहां नहीं लिखी गयी इसी वार्त्ताको सिद्ध करती हैं, कि उसी एक ब्रह्म से वा आत्मासे ये सब भूत वा सब शरीर उत्पन्न होते हैं, फिर उसीमें मिलजाते हैं। इन वचनोंसे सिद्ध होता है, कि इन शरीरों तथा पंचभूतों की स्थिति आदिमें भी है और अन्तमें भी है । क्योंकि जिसका कारण नित्य है उसका कार्य्य भी नित्य ही होना चाहिये। तब भगवान्ने इन भूतोंका आदि अन्तमें अदर्शन और अनुपलब्धि कह कर इनको मिथ्या क्यों कहा ?

समाधान—सच है। तुम्हारा कहना सांगोपांग यथार्थ है । पर यहां जो भगवान्ने इन भीष्म, द्रोण इत्यादिके शरीरोंको अव्यक्त कहा, इसका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि यह जो मानुषी आकार वा मानुषी पिण्ड है अर्थात् जिसे काला, गोरा, दुबला, मोटा, नाटा, लम्बा, कुमार, युवा, वृद्ध, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इत्यादिकोंके नामसे पुकारते हैं यह जैसा वर्त्तमान कालमें प्रत्यक्ष होरहा है ऐसा ज्योंका त्यों पहले

वा मरणसे पीछे नहीं प्रत्यक्ष देखा जाता है। केवल मध्यमें ही देखा जारहाहै।

भगवान्‌ने तो पहले ही अर्जुनके प्रति यों कहा है, कि यदि तू स्थूल दृष्टिसे इन शरीरोंके नष्ट होनेका शोक करता है तो तू आदि अन्तमें इनको अप्रत्यक्ष जानकर केवल मध्यमें प्रत्यक्ष मानकर इन का शोक मत कर! इससे सिद्ध होता है, कि यह श्लोक भगवान्‌ने स्थूल दृष्टि और स्थूल बुद्धि तथा अज्ञानियोंके समझानेके लिये कहा है।

हे बादी! तू जो शंका कररहा है वह परमार्थ दृष्टिसे शंका कर रहा है। इसलिये तेरी शंकाकी निवृत्ति निमित्त केवल इतना ही कह-ना योग्य होगा, कि सूक्ष्म विचारसे देखनेसे ये शरीर वा पांचों भूत नित्य हैं पर स्वरूप करके नित्य नहीं है प्रवाह करके नित्य हैं और यहां तो स्वरूप करके नित्य अनित्यका विचार है। अर्जुनको अपने सम्बन्धियोंके स्वरूपके ही नष्ट होनेका शोक होरहा है।

अब पाठकोंके बोधार्थ यहां यह दिखलाया जाता है, कि स्वरू-प क्या है? और प्रवाह क्या है? तहां स्वरूप कहते हैं उस आका-रको जिसमें लम्बाई, चौडाई, मोटाई, रंग तथा आंख, नाक, कान इत्यादि अवयव पायेजावें। इन स्वरूपोंके अनेक भेद हैं, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट पतंग इत्यादि तथा ये स्वरूप अण्डज, पिण्डज, उष्मज और स्थावर चार खान और चौरासी लक्ष योनियोंके नाम से इस पृथ्वी मण्डलमें प्रसिद्ध हैं।

इन स्वरूपोंमें विचित्रता यह है, कि कर्मानुसार सदा इनके आकार

स्थान और योनियोंमें रूपान्तर हुआ करता है इन रूपान्तरोंमें भी विशेष प्रकारकी विचित्रता यह है, कि एक बार एक मनुष्य जिस रंग रूपका होगा दूसरेवार फिर उसी प्रकारका नहीं होसकता। जैसे मान-लो, कि देवदत्त नामका एक मनुष्य सौ बार जन्मता मरता मनुष्य ही होता चलाजाता है, तो यद्यपि एकही प्राणी देवदत्तने कर्मानुसार १०० स्वरूप धारण किये हैं, तथापि इनमें एक भी दूसरेके साथ नहीं मिलता। यही इन स्वरूपोंमें विशेषता है जो अनित्य है। इसी प्रकार अन्य योनियोंको भी समझो! जैसे एकही अश्व सौ वार अश्व होवे तो एक दो भी एक ही सांचे और डौलका नहीं होगा--ऐसे ही बन-स्पतियोंमें भी यदि आमकी गुठली सौ वार पृथ्वीमें बोईजावे तो उन सौ वृक्षोंके रूपमें एकता कभी न होगी अर्थात् ऐसा कदापि नहीं होगा, कि एक वृक्षमें जैसे चार डालियां पूर्वकी दिशामें और दो डालियां पश्चिम दिशामें निकलगई थीं ऐसी सब वृक्षोंमें हों। इसीको स्वरूप कहते हैं। तिस स्वरूपके भेदसे यह प्राणी अनित्य है। भगवान्के कहने का यही तात्पर्य है, कि इन भीष्म द्रोण तथा दुर्योधन इत्यादिके स्वरूप जो अनित्य हैं वे पहले भी प्रत्यक्ष न थे और आगे भी प्रत्य-क्ष न होंगे, केवल वर्त्तमानमें भ्रम करके प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। अर्थात् स्वरूप करके ये आदिमें भी अव्यक्त थे और अन्तमें भी अव्यक्त ही होंगे।

अब प्रवाह क्या है? सो सुनो! किसी नदी वा नदमें उसके स्रोतके निकलनेके स्थानसे उसके अन्त तक, अर्थात् किसी बड़ी नदी में वा समुद्रमें मिलजाने तक, जो जलकी चालका वेग है उसे

प्रवाह कहते हैं। इसी प्रकार ये पांचों भूत तथा ये सब शरीर जिनको पहले दिखला आये हैं अपने आरंभके स्थानसे अपने अन्त तक जिस वेगके साथ चले जारहे हैं उसे प्रवाह कहते हैं। तहां हे वादी! तुम्हारे ही कहने के अनुसार इनका आदि और अन्त आत्मा ही समझा जा-ता है, जिस आत्मासे आकाशादिका प्रवाह चल निकला है सो नित्य है। इसकारण इनको भी नित्य कहना पडेगा, पर नित्य कहनेमें स्वरूपोंका कहीं भी लेशमात्र नहीं मिलेगा। अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके जो ये भिन्न भिन्न साकार स्वरूप हैं ये नित्य नहीं देखेजावेंगे, पर इसमें सन्देह नहीं कि इनका मूलकारण जो परमाणु है वह नित्य प्रवाह कर रहा है। जैसे किसी सागरमें जलका प्रवाह नित्य एक रस है, पर उसमें जो बुद बुद, फेण, शंख, मोती इत्यादि बनते रहते हैं ये नित्य नहीं है, अनित्य हैं। ज-लका प्रवाह सदा एक रस रहेगा, पर मोती शंख इत्यादिके स्वरूपों का बनना एक ही रंग रूपका न होगा। इसी प्रकार परमाणु तो सदा अप ने प्रवाहमें चला ही चला जारहा है। इसकी रोक नहीं होसकती। इनहीं परमाणुओंके संयोगसे सब तत्व और शरीर व्यक्त होते हैं और इनहीं के बियोग से अर्थात् विलग-विलग बिखड़ जाने से सब अव्यक्त होजाते हैं। ये परमाणु नित्य हैं। इस कारण सम्पूर्ण सृष्टि परमाणु-रूप करके नित्य और स्वरूप करके अनित्य कही जाती है। अर्थात् पृथ्वी इत्यादि जो पांचों भूत हैं ये परमाणुके प्रवाह करके नित्य हैं और स्वरूप करके अनित्य हैं। "नित्याऽनित्या च सा द्वेधा नित्यास्यादनुलक्षणा। अनित्यातु तदन्यास्यात् सैवावयवयोगि-नी॥ (भाषा परिच्छेद।) अर्थ—पृथ्वी नित्य और अनित्य करके दो

भेद वाली है। अणु रूप करके नित्य है और इससे इतर, “ जो अव-यवोंकी योगवाली द्व्यणुक और त्रसरेणु अर्थात् दो वा तीन अणुओं के मेलसे अथवा इससे अधिक अणुओंके योगसे बनती है ” वह स्वरूप करके अनित्य है । क्योंकि “ **एकस्य परमाणोरप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्व सम्भवात् । यथा एकस्य केशस्य दूरेऽप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वम्** ” ॥ अर्थ-- एक परमाणुके प्रत्यक्ष नहीं होनेसे भी अनेक परमाणुओंके समूहका तो प्रत्यक्षत्व होता ही है जैसे एक केशको दूरसे भी नहीं देख सक्ते हैं पर बहुतसे केशों के समूहका तो दूरसे भी प्रत्यक्ष होता ही है- मुख्य अभिप्राय यह है, कि ये सब पांचों महाभूत तथा इनके कार्य्य जो नाना प्रकारके शरीर हैं ये सब परमाणुओंके एकत्र अर्थात् घन होनेसे प्रत्यक्ष होते हैं । इसी कारण भगवान्ने इन शरीरोंको मध्यमें व्यक्त कहा और आदि अन्तमें केवल अणुरूप रहनेसे अव्यक्त कहा ।

परमाणु नित्य हैं यह न्याय-शास्त्रसे सिद्ध होचुका है और इसीसे ब्रह्माण्डकी रचना भी अनुमानमें आचुकी है । क्योंकि परमाणुओंका कभी नाश नहीं होना ऐसा मानागया है । तहां भाषा-परिच्छेद, कुसुमांजलि, प्राचीन-कारिका इत्यादि ग्रन्थोंमें इसपर विचार करते-करते यों कहा है, कि—

पृथिव्यादि भूत चतुष्टयानांद्व्यणुकानामवयवः प्रमाणुः स च नित्यः निरवयवः ततः किमपि सूक्ष्मं नास्ति । जलादि पर-माणुरूपस्य नित्यत्वम् ॥

तैरेव परमाणुभिराद्युपादानैर्द्व्यणुकत्रसरेण्वादिक्रमेणस्थूल

क्षिति जल तेजो मरुतः सृजति परमेश्वरः ।

प्रलयेऽतिस्थूलनाशानन्तरं परमाणुक्रियाविभाग पूर्वसंयोगनाशादिक्रमेण द्व्यणुकनाशात्तिष्ठन्ति परमाणव एवेति । यथा-**दोधूयमानास्तिष्ठन्ति प्रलये परमाणवः ।**

इन बचनोंसे सिद्ध होता है कि परमाणु-नित्य है और निरवयव है। इससे सूक्ष्म अन्य कुछ भी नहीं है। इसी प्रमाणुके दो-दो मिलादेनेसे द्व्यणुक और तीन-तीन मिलादेनेसे त्रसेरणु बनते हैं। एवम् प्रकार बहुतेरे असंख्य परमाणुओंके एक संग मिलजाने से वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी चारों तत्त्व बनजाते हैं तथा इन से चौरासी लक्ष योनियोंके शरीरोंकी उत्पत्ति होती है। फिर प्रलय कालके समय इन्हीं परमाणुओंके बिखरजानेसे सब तत्त्व तथा शरीर नष्ट होजाते हैं- केवल परमाणु ही परमाणु रहजाता है — यदि पूछो, कि इस परमाणुका परिमाण क्या है ? तो " **पारिमाण्ड ल्य नामक तत्परिमाणानन्तु** " इस वचनके अनुसार **पारिमाण्ड-ल्य** यही परमाणु परिमान है अर्थात खिडकियोंके छिद्र होकर जो सूर्य्यका बिम्ब घरमें पृथ्वी पर गिरता है उसके भीतर जो छोटे-छोटे कण दीख पडते हैं उन्हींको परमाणु कहते हैं। **पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम** (कारिकावली) ये स्वयम् सबके कारण हैं इनका कोई दूसरा कारण नहीं है। इनसे इतर जो कुछ है सबका कारण है। इनमें द्व्यणुक और त्रसरेणु भी होते हैं। ये परमाणु सब ठौर व्यापक हैं और सूक्ष्मतर नहीं वरु सूक्ष्मतम हैं। इन्हींके मेलसे सब भूत बनते हैं और इनके बिखडनेसे विनश जाते हैं। इसलिये

तत्त्वज्ञानियोंके लिये न्यायके मतसे इस शरीरको परमाणु रूपसे नित्य कहना उचित है पर शरीरोंके रूप करके तो सब अनित्य ही हैं। इसी कारण भगवान्ने यह श्लोक अर्जुनके प्रति कहकर स्थूलबुद्धि वालोंको अपने सम्बन्धियोंके शरीरोंके नष्ट होनेके शोकसे रहित करनेका यत्न किया है।

यह शंका मत करो ! वरु ऐसा ही कहो ! कि ये सब शरीर वा सब तत्त्व उत्पत्तिसे पहले तथा नाशसे पीछे अव्यक्त (अप्रत्यक्ष) ही हैं। केवल मध्यमें प्रत्यक्ष होगये हैं इस कारण इनका शोक करना निरर्थक है ॥ २८ ॥

उक्त प्रकार भगवान्के मुखसे आत्मज्ञानका उपदेश सुनकर अर्जुनके चित्तमें एक प्रकारकी घबराहट उत्पन्न हुई, और अचम्भेमें डूबगया जिसके मुखकी ओर देख भगवान् जानगये, कि यह आत्माके विशेषणोंको सुन अचम्भेमें डूबरहा है । इसलिये उसे सन्तोष देनेके तात्पर्य्यसे कहते हैं—

मू०— आश्चर्य्यवत्पश्यति कश्चिदेन
माश्चर्य्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्य्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

पदच्छेदः—कश्चित् (कश्चन्) एनम् (आत्मानम ।) आश्चर्य्यवत् (विस्मययुक्तमदृष्टनम् । स्वप्नमायेन्द्रजालादिकं तेनतुल्यम् ।) पश्यति (अवलोकयति ।) च तथा (तेन प्रकारेण) एव, अन्यः,

(इतरः ।) आश्चर्य्यवत (अद्भुतमिव ।) वदति (कथयति । सत्त्वेनासत्त्वेन वा निर्वक्तुमशक्यमपि अनिर्वचनीयेनैव लोकाप्रसिद्धेन रूपेणोपपादयति ।) च (तथा) अन्यत् (अन्यः पुरुषः ।) एनम् (इममात्मानम्) आश्चर्य्यवत (विस्मयकरः ।) शृणोति (निशम्यति । आकर्णयति ।) च (तथा) कश्चित (कश्चन ।) एनम (आत्मानम् ।) श्रुत्वा (निशम्य) अपि, न, एव, वेद, (जानाति)

॥ २९ ॥

पदार्थः – (कश्चित्) कोई (एनम्) इस आत्माको (आश्चर्य्यवत्) अलौकिक वा अद्भुत तत्त्वके समान (पश्यति) देखता है (च) और (तथा एव) वैसेही निश्चय करके (अन्यः) कोई दूसरा पुरुष इसको (आश्चर्य्यवत) विस्मयसे भरेहुए तत्त्वके समान (वदति) बोलता है (च) और (अन्यत) इससे भी इतर पुरुष (आश्चर्य्यवत्) आश्चर्य्यमयके समान (शृणोति) सुनता है (च) और (कश्चित्) कोई (एनम्) इसको (श्रुत्वा) सुन कर (अपि) भी (न एव) निश्चय रूपसे नहीं (वेद) जानता है ॥ २९ ॥

भावार्थः—अब यहां भगवान इस शरीर का वर्णन छोड फिर आत्माका ही वर्णन करने के अभिप्राय से अर्जुन के प्रति कहते हैं कि हे अर्जुन ! तेरे मनमें तो इस आत्माके जाननेकी अभिलाषा हुई है, पर मैंने तुझको इसका यथार्थ बोध न कराकर यह उत्तर देदिया, कि यह आत्मा अव्यक्त है अर्थात् देखा नहीं जाता है । अचिन्त्य है अर्थात चिन्ता नहीं किया जाता तथा अविकार्य्य है इसलिये ग्रहण भी नहीं

किया जाता और उसीके साथ मैंने तुझको यह भी कह दिया, कि यदि आत्माका अव्यक्त, अचिन्त्य इत्यादि गुणविशिष्ट होना तेरी समझमें न आवे तो तू इसको जन्म मरण वाला जान कर भी शोच करने योग्य नहीं है। (श्लो० २५, २६) इसलिये मैं जानता हूं, कि यह मेरा उत्तर सुनकर तेरे चित्तमें ऐसा भान हुआ होगा, कि कृष्णने आत्माके साक्षात्कार करानेमें कुछ आलस्य किया और मुझको मूर्ख जानकर आत्मज्ञानके प्रदान करने की दया मुझपर न की। सो ऐसा नहीं । तू अपने मनमें ऐसा मत ला ! तू मेरा परम प्रिय सखा है। इसलिये मैं कदापि आत्मानन्दके प्रदान करनेमें तनक भी आलस्य न करूंगा। क्योंकि यदि मेरे कहने से तुझको सन्तोष न हुआ, और तूने न समझा, तो इसमें मेरा ही दोष है, तेरा नहीं। क्योंकि शास्त्रोंका वचन है, कि "वक्तुरेवहि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुद्ध्यते" अर्थात् जिस वक्ताके वचनों से श्रोता को बोध न हो तो उसमें वक्ता ही की जडता (मूर्खता) जाननी चाहिये। सो हे अर्जुन ! मैं करूं तो क्या करूं? मैं तुझको सच्ची बात कहता हूं सो तू ध्यान देकर सुन! तू ने आत्माके देखने, जानने, सुननेकी अभिलाषा की है। सो हे अर्जुन ! [**आश्चर्य्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्**] इस आत्मा को कोई-कोई आश्चर्य्यवत् देखता है। जैसे इन्द्रजालका खेल दिखाने वाला अपना खेल दिखाकर बडे-बडे बुद्धिमानोंको आश्चर्य्यमें डालदेता है अथवा जैसे स्वप्नमें नाना प्रकारके आश्चर्य्यमय पदार्थ सच भासने लगजाते हैं। इन्द्रजालकी बनीहुई अथवा स्वप्नमें बनीहुई सुन्दर षोडशी, कन्यायें देखने वालोंके हृदयमें कामको उदय करदेती हैं, बडे-बडे

बुद्धिमान, विद्वान् और ज्ञानियोंके ज्ञानका ठिकाना नहीं लगता। इसी प्रकार यह आत्मा भी इन्द्रजाल तथा स्वप्नका खेल बना डालता है। जो लोग इसके देखनेके लिये चिरकाल पर्य्यन्त समाधि लगाये बैठे रहते हैं और शम, दम, तितिक्षा इत्यादिका साधन कर दूरदर्शी बनजाते हैं वे भी इस आत्माको आश्चर्य्यमय बाजीगरके समान देखते हैं। जब इनसे पूछाजावे, कि तुम यह बताओ! कि आत्मा कैसा है? तो ये उत्तर देते हैं, कि भाई क्या कहें? आश्चर्य्य ही है। इसके देखनेके लिये जो विविध प्रकारकी क्रियाओंकी साधना की है, ये सब भी आश्चर्य्यमय ही हैं। अर्थात् ज्योतिदर्शन (सहज-समाधि), अनाहत-ध्वनि-श्रवण (शून्य समाधि) अजपाजाप (ॐकार प्रणवका शुद्ध उच्चारण), शांभवी-मुद्रा (नेत्रोंको उलटकर त्रिकुटीमें लेजाना) तथा प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा इत्यादि जितनी क्रियायें इस आत्म-दर्शनके निमित्त कीगयी हैं, सब आश्चर्य्यमय ही हैं। फिर जो पुरुष इस आश्चर्य्यमय आत्माको देखनेके लिये पूर्वोक्त क्रियाओंका साधन करे वह भी आश्चर्य्यमय ही है। क्योंकि सब लोग अन्नसे जीवते हैं वह बिना अन्न ही पवनको आहार कर जीता है, तथा सहस्रों बरस निराहार रहकर आत्माके देखनेका यत्न करता है। इसलिये यह आत्मा, इसके देखनेकी क्रिया और इसको देखनेका यत्न करनेवाला तीनों आश्चर्य्यमय ही हैं।

भगवान्ने जो यह आश्चर्य्य शब्द इस श्लोकमें प्रयोग किया है वह कर्म, क्रिया, कर्त्ता, तीनोंके लिये किया है; अर्थात् कर्म जो आत्मा, क्रिया जो इसके देखनेका यत्न और कर्त्ता जो इसके देखनेका यत्न-

करने वाला तीनोंको आश्चर्यमय कहा है। फिर भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**आश्चर्य्यवद्वदति तथैव चान्यः**] कोई दूसरा पुरुष जो इसके झलकको तनक भी अपने हृदयके नेत्रोंसे देखता है वह आकुल होकर कहने चाहता है, पर इसके कहनेमें उसकी जिह्वा लटपटाती है और इसे आश्चर्य्य वस्तुके समान कहता है। श्रुतियां भी इसी प्रकार कहती हैं- श्रु० सन्तमप्यसन्तमिव । स्वप्रकाशचैतन्यरूपमपिजडमिव । आनन्दघनमपिदुःखितमिव । निर्विकारमपि सविकारमिव । नित्यमप्यनित्यमिव । ब्रह्माभिन्नमपि तदभिन्नमिव । मुक्तमपिबद्धमिव । अद्वितीयमपि सद्वितीयमिव ॥

अर्थ—यह आत्मा स्थिर रहने पर भी नहीं रहनेके समान है। स्वप्रकाश चैतन्य रूप होने पर भी एकबारगी जडके समान है। आनन्दघन होने पर भी दुःखितके समान कराहता और चिल्लाता है। सर्व पंचभूतोंके विकारोंसे निर्म्मल और निर्द्वन्द्व होने पर भी विकारवानके समान देख पडता है। अभिप्राय यह है कि अत्यन्त सुन्दर सोलह सालका राजकुमार बनाहुआ सब पापोंसे रहित ब्रह्मचर्य्यव्रतका पालन करनेवाला वेदाध्ययन करता हुआ भी नाना प्रकारके रोगोंसे ग्रस्त हो विकारों से भरा एक कोने में मस्तक झुकाये चिन्तित हो आह-आह कर रहा है। फिर नित्य होने पर भी अनित्य के समान देखा-जाता है। ब्रह्मसे भिन्न नहीं होनेपर भी उससे भिन्न देख पडता है। सदा मुक्त होनेपर भी बद्धके समान देखाजाता है। अद्वितीय होनेपर भी द्वितीय के साथ मोहाक्रान्त होरहा है। इसी तात्पर्य्यको लेकर भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन ! तू यह निश्चय जान, कि यह आत्मा आश्च-

र्य्य ही हैं । इसके कहने वाले ऐसा कहते हैं, और कहते-कहते अन्त तोगत्वा चुप होजाते हैं । श्रु० " यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्यमन-सासह" अर्थ—वचन मनके साथ दौडते-दौडते इसके अन्तको न प्राप्त होकर निवृत्त होजाता है । अर्थात् इसकी आश्चर्य्यमय लीलाको देख कर चुप हो जाता है ।

इसी प्रकार हे अर्जुन! [आश्चर्य्यवच्चैनमन्यः शृणोति] कोई दूसरा इसको आश्चर्य्यवत् सुनता है । जैसे विद्युतका पतन सुन कर प्राणी एकबारगी चौंक उठता है । चकित होजाता है। इसी प्रका-र इस आत्माकी लीला सुनकर प्राणी चोंकता है और चकित होता है ।

अब यह जानना चाहिये, कि इस आत्माके विषय कुछ श्रवण करनेका अधिकारी कौन है ? क्योंकि जो मूर्ख, विद्याहीन, सत्संग रहित और शिष्णोदरपरायण होकर मलीन-बुद्धि है वह इसके श्रवण करनेका अधिकारी नही है, पर हां ! जिसके तीनों प्रकारके प्रतिवन्ध छूटगये हैं वही इसके श्रवण करनेका अधिकारी है । सो तीन प्रकारके प्रतिवन्ध कौन हैं सो कहते हैं—

कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धिबंधपरिक्षयात् । असावपि भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथवा ॥ (वार्तिककारः) यह आत्मज्ञान कैसे प्राप्त होता है ? तो उत्तर यह है, कि प्रतिबंधोंके नाश होजानेसे । सो प्रतिवन्ध, तीन हैं, भूतप्रतिवन्ध, भावी-प्रतिवन्ध, और वर्त्तमान-प्रतिवन्ध ॥

१. भूतप्रतिवन्ध—उसे कहते हैं जो वक्ताके वचनके सुननेसे

पहले हीसे किसी विशेष प्रतिकूल बातोंका दृढ निश्चय श्रोताओंके चित्त में होरहा हो। सो इतना दृढ होरहा हो, कि वक्ता सहस्रों वार उसको अपने कथनकी सचाई दिखलावे पर उसका कुछ भी प्रभाव श्रोता पर न पडे। जैसे किसी व्यभिचारीके चित्त पर परस्त्री गमनके चित्तविकारों के कहनेवालेके वचनोंका प्रभाव कुछभी नहीं पडता। इसीको भूतप्रतिबन्ध कहते हैं।

२. भावी-प्रतिबन्ध—उसे कहते हैं, जो किसी प्रकारकी आगे होनेवाली बात अपनी प्रबलताके कारण श्रोताके चित्त पर किसी प्रकार के उपदेशका कुछ भी प्रभाव नहीं पडने देती—जैसे " सतीजीको श्री शंकरने पुनः पुनः समझाया, कि तुम अपने पिता दक्षके यज्ञमें मत-जाओ! पर सतीजीको तो यज्ञ-कुण्डमें हवन होकर दूसरा जन्म लेना था, इसलिये शिव भगवान्‌की बात सतीजीकी समझमें नहीं आई।" इसीको भावी-प्रतिबन्ध कहते हैं।

३. वर्त्तमान-प्रतिबन्ध— श्रोताका विषयोंमें आसक्त होना, मन्द बुद्धि होना, कुतर्की होना और वक्ताकी बातको विपरीत समझना इनही चार प्रकारकी रुकावटोंका नाम " वर्त्तमानप्रतिबन्ध " है।

जिसका चित्त इन तीनों प्रतिबन्धोंसे रहित है वही श्रोता आत्मज्ञानके विषय कुछ श्रवण करनेका अधिकारी है। वही एकाग्र-चित्त हो गुरु-वाक्यको श्रवण करता और जानजाता है, कि यह आत्मा श्रवण करनेमें भी आश्चर्य्यमय ही है। जैसे-जैसे इसके विषय श्रवण करते जाइये तैसे-तैसे आश्चर्य्यमें डूबते चलेजाइये। आश्चर्य्य होते-होते सुनने वालेकी दशा उन्मत्तके समान होजाती है क्योंकि श्रुतिका वच-

न है, कि "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। (काठ० अध्या० १ बल्ली २ श्रु० २३) "यह आत्मा वेद-वचनोंसे नही जानाजाता" और मेधा जो बुद्धि तिससे भी नहीं जाना जाता तथा "न बहुना श्रुतेन" बहुतसे वेद, पुराण, शास्त्रोंके सुननेसे भी नहीं जानाजाता। इसलिये भगवान्ने अर्जुनसे कहा, कि कोई इसको आश्चर्य्यवत् सुनता है।

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! अब और भी एक आश्चर्य्यमय वार्त्ता तुझे सुनाता हूं। सुन! [श्रुत्वाप्येनं वेद नचैव कश्चित्] "कोई पुरुष इसको सुनकर भी नहीं जानता" अर्थात् श्रोताको आत्मानन्द श्रवण कराकर उससे पूछिये, कि तुमने कुछ जाना हो तो कहो! तो वह यों कहपडेगा, कि भाई क्या कहूं? यह आत्मा आश्चर्य्यमय है। कुछ जाना नहीं जाता। इसका कुछ भी पता नहीं लगता।

हे अर्जुन! तेरे मनमें ऐसे आत्माके जाननेकी अभिलाषा उत्पन्न हुई है सो मैं तुझे आत्मसुखका अनुभव कराकर आत्मज्ञान अवश्य प्रदान करूंगा। पर तू इतना अवश्य ध्यान रख, कि इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें पातालसे लेकर ब्रह्मलोक पर्य्यन्त जितने पदार्थ बनेहुए हैं सब लौकिक हैं और आत्मा इनसे विलक्षण है। इस कारण कोई चाहे, कि जैसे मैं लौकिक पदार्थोंको देखता हूं, करता हूं, सुनता हूं, जानता हूं ऐसे इस आत्माको भी ज्योंका त्यों यथार्थ स्वरूपसे देखूं वा सुनूं तो ऐसा नहीं होसकता। पर फिर भी मैं तुझे इसके स्वरूपका अनुभव करवाता हूं। सुन! ॥२९॥

मू०--देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्व्वस्य भारत ! ।
तस्मात्सर्व्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

पदच्छेदः--भारत ! (हे भरतवंशोद्भवार्जुन !) सर्वस्य (ब्रह्माण्ड स्थित प्राणिजातस्य !) देहे (वध्यमाने शरीरे ।) अयम् देही (शरीरी । जीवात्मा । लिंगदेहोपाधिरात्मा ।) अवध्यः (स्थूलसूक्ष्मविलक्षणत्वात् प्राणवियोगव्यापाररहितः । न हन्यमानः ।) नित्यम् (सर्वाऽवस्थासु ।) तस्मात् (अतः) त्वम् सर्वाणि (सकलानिस्थूलानिसूक्ष्माणि । भीष्मादिभावापन्नानि ।) भूतानि (प्राणिजातानि ।) शोचितुम् (शोकंकर्त्तुम् ।) न (नैव) अर्हसि (योग्योभवसि ।) ॥ ३० ॥

पदार्थः--(भारत!) हे भरतवंशदिवाकर अर्जुन ! (सर्वस्य) सब प्राणियों के (देहे) देहमें (अयम्) यह (देही) जीवात्मा (अवध्यः) वध्य होने योग्य नहीं है तथा (नित्यम्) नित्य है (तस्मात्) इसकारण (त्वम्) तू (सर्वाणि) इन सब (भूतानि) जीवोंके लिये (शोचितुम्) शोककरने (न अर्हसि) योग्य नहीं है ॥ ३० ॥

भावार्थः--श्री वृन्दावन-विहारी मदन-मुरारीने अर्जुनको आत्मा और देह दोनोंके विषे विलग-विलग समझा दिया, कि यह आत्मा नित्य है और यह शरीर अनित्य है, और यह जान लिया, कि अर्जुनके चित्त में शरीर के अनित्य होने की चिन्ता नहीं रही है केवल आत्माके नित्य होनेमें किंचित् शंका रहगयी है, उसे अपने वचनों से नष्ट करडालनेके निमित्त ऐसे गूढ रहस्यका वर्णन करूं, जिससे अर्जुनको आत्माका अनुभव होजावे । यथार्थतः जो आत्मा नयनवि-

पयातीत, वचनातीत और वर्णनातीत है उसे अर्जुन अनुभव करलेवे तो अच्छा है। ऐसा विचार भगवान् कहते हैं, कि [देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत !] हे भरतवंशावतंस अर्जुन ! यह जो देही अर्थात् इस शरीर का स्वामी आत्मा है वह सब देहोंमें निवास करते हुए भी नित्य है और अवध्य है। इसलिये इस देहका नाश होनेसे आत्माका नाश नहीं होता। पाताल से ब्रह्मलोक पर्य्यन्त जितने दृश्य हैं सबोंका नाश होजाता है अर्थात् सब छिन्न भिन्न होकर परमाणुरूप हो पारिमाणडल्य होकर आत्मामें लय होजाते हैं, पर आत्माका नाश नहीं होता। सो भगवान् पहले भी कह आये है कि (अन्तवन्त इमे देहा ....श्लो०१८) सब स्थूल शरीर जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें हैं सब अन्तवन्त हैं पर आत्मा जो इन सबोंका स्वामी है, सदा एक रस रहता है, इस आत्माका नित्य होना भगवान्ने अर्जुनको अनेक भांतिके उदाहरणोंसे समझाया है और इसके पूर्ण-तत्त्वके बोध निमित्त अनेक प्रकारके यत्न बताये है। देखो इसी अध्यायके श्लो० २०में " न जायते म्रियते ०० " कहकर इसको जन्म मरणसे रहित बताया है तहां " न हन्यते हन्यमाने शरीरे " कह कर यह भी दिखलाया है, कि शरीरके नाश होजानेसे यह नाशको प्राप्त नहीं होता, फिर श्लोक २३ में " नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि ००० " इत्यादि कहकर इसे कटने गलने और सूखने इत्यादि विकारोंसे रहित बताया है- इसी अभिप्रायको लेकर फिर यहां ३० वें श्लोकमें कहते हैं, कि " अवध्योयम् " यह आत्मा अवध्य है। इससे समझना चाहिये, कि इस आत्माके अवध्य होनेके विषय बहुत कुछ बतादिया और

इसी वार्ताके दृढ करानेके लिये बार-बार अर्जुनके प्रति इसे अवध्य तथा अन्य सर्व विकारोंसे और क्लेशोंसे रहित बताया । पर इस सर्व विशेषण रहित आत्माको केवल अर्जुनके समझानेके लिये जो वाचारंभण विकार के कारण नाना प्रकारके विशेषणोंसे विभूषित किया है अर्थात् श्लोक २१ में अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय श्लोक २४ और २५ में अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य्य कह कर इसके सब १५ विशेषण दिखलाये पर इनमें ' अवध्य' रूप विशेषण पर अधिक बल दिया इससे ऐसा अवश्य बोध होता है, कि अर्जुनके हृदयमें इस विशेषण को पूर्ण प्रकार ठसाते हुए युद्धकी ओर प्रेरणा करनेका मुख्य अभिप्राय है । इसी कारण भगवान् इस आत्माको बार-बार अवध्य कहरहे हैं। जैसे स्वप्नकी गैया अवध्य है चाहे सहस्रों खड्ग उसके गले पर पटकते रहजावो, पर स्वप्नकी गाय न वध्य हुई है, न वध होती है, न वध होगी । पानीके प्रवाहको खण्ड किया चाहो तो नहीं होसकता । आकाश में वज्र प्रहार करो पर आकाशको चोट नहीं लगती । अपनी छाया अपने हाथसे मिटाना चाहो तो मिट नहीं सकती। इसी प्रकार इस आत्मा को अबध जानना । इसी कारण भगवान्ने इस अध्यायमें ऐसा यत्न किया है, कि अर्जुन सारी रचनाको स्वप्नवत् भ्रममात्र समझे, ऐसा समझते ही शोक इत्यादि सब निरर्थक होजावेंगे। इसी अभिप्रायसे भगवान अर्जुनके प्रति कहते हैं कि, [तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि] इसलिये सब भूतोंके लिये तथा भीष्म और द्रोणके लिये तुझको शोच करना योग्य नहीं है। मेरा तुझसे इतना ही कहना

है, कि "तू इनके मरनेका शोच त्यागदे" ! जब तक तू यह शोक न छोडेगा तेरा अन्तःकरण शुद्ध न होगा । जब अन्तःकरण शुद्ध न हुआ तो किसी प्रकारका आवरण उसपर रहगया तो निर्मल न होनेके कारण आत्मज्ञानका बिम्ब उसपर पड नहीं सकता । जैसे दर्पण पर जब तक भस्मका आवरेण है तब तक किसी वस्तुका बिम्ब पड नहीं सकता। दूसरी बात यह है, कि यदि दर्पण शुद्ध भी होजावे, भस्म हटा भी दियाजावे, पर जो वह दर्पण अँधेलेमें रखा रहे तबभी उसपर बिम्ब नहीं पडता, वा पडता भी हो तो अँधियालीके कारण देखा नहीं जाता । इसी प्रकार यदि तेरा चित्त सब ओरसे हानि लाभको त्याग कर शुद्ध भी होगया है, पर युद्ध नहीं करनेकी अज्ञानताका अंधकार जब तक तेरे चित्त पर छायाहुआ है तब तक आत्मज्ञानके उपदेशका प्रभाव तेरे चित्त पर नहीं पडेगा। मेरा सारा परिश्रम निष्फल जावेगा। इसलिये मै तुझसे बार-बार यही हठ कर कहता हूं, कि आत्माको नित्य और शरीरको अनित्य जान सर्व प्रकारका शोच परित्याग कर आनन्द पूर्वक युद्ध करनेकी अभिलाषा कर ! तो मैं युद्ध आरम्भसे पूर्व ही इसी रथ पर तुझको आत्मज्ञान समझा दूं और तेरी अभिलाषा पूर्ण करदूं । क्योंकि युद्ध करना तेरा प्रथम धर्म है, धर्मात्मा ही को आत्म-ज्ञान लाभ होता है। सुन ! ॥३०॥

अब भगवान् यहां आत्मज्ञानकी दृष्टिसे समझाना छोड केवल लौकिकधर्मसे भी युद्ध करना उचित है ऐसा समझाना आरम्भ करते हैं—

मू०—स्वधर्म्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते
॥ ३१ ॥

पदच्छेदः—च (तथा) स्वधर्म्मम् (क्षत्रियवंशस्य निज धर्म्मयुद्धपरांमुखत्वम् ।) अवेक्ष्य (शास्त्रतः पर्यालोच्य) अपि, विकम्पितुम (विचलितुम् । वेपितुम् । परिप्लवितुम ।) न (नैव) अर्हसि (योग्योभवसि) हि (यस्मात्कारणात) धर्म्यात् (पृथ्वीजयद्वारेण धर्मार्थं रक्षणार्थं चेतिधर्मादनपेतं परं धर्म्यं तस्मात् । न्यायाद्धर्मादनपेतात् ।) युद्धात् (संग्रामात्) ×क्षत्रियस्य (राजन्यस्य । पार्थिवस्य) अन्यत् (इतरम । भिन्नम ।) श्रेयः (प्रशस्यतरेकल्याणम्) न (नहि) विद्यते (भवति । ज्ञायते ।) ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(च) और (स्वधर्म्मम्) अपने क्षत्रिय धर्म्म को (अवेक्ष्य) देखकरे (अपि) भी (विकम्पितुम) कम्पायमान होने (न अर्हसि) योग्य तू नहीं है (हि) क्योंकि (धर्म्यात्) क्षत्रियों द्वारा सम्पादन कियेजाने योग्य न्याययुक्त धर्म्मसे अर्थात (युद्धात्)युद्धसे (अन्यत्) इतर (श्रेयः) कल्याणकारक कोई धर्म्म (क्षत्रियस्य) क्षत्रियोंका (न विद्यते) नहीं जानाजाता है ॥ ३१॥

भावार्थः— श्यामसुन्दर कहते हैं, कि हे अर्जुन ! एके तो मैंने तुझसे पहले यह कहा, कि यह आत्मा नित्य है । इसलिये तू युद्ध कर !

× क्षत्राद् घः४ । १ । १३८ = क्षदति रक्षति जनान् = क्षत्रः । क्षत्र-इव—क्षत्रियः । स्वार्थे इय ॥

(च) फिर मैं तुझसे यह कहता हूं, कि [**स्वधर्म्ममपिचावेक्ष्य नविकम्पितुमर्हसि**] तू युद्धको अपने क्षत्रियका धर्म्म जानकर भी शोक करने योग्य नहीं है । क्योंकि क्षत्रियोंके लिये धर्म्म युद्धसे वढकर कोई दूसरा धर्म्म कल्याण दायक नहीं । युद्धके समय सर्व प्रकारके अन्य वृत्तियोंका परित्याग कर युद्ध कलामें चतुराई दिखलाना क्षत्रियोंका स्वधर्म्म है तथा युद्ध द्वारा पृथ्वीका राज्य प्राप्त कर प्रजावर्गको सुख देना ब्राह्मणोंकी सेवा करनी, विद्वानोंका सत्कार करना और दुखियोंका दुःख निवारण करना क्षत्रियोंका धर्म है । इसलिये मैं तुझको केवल आत्मबोधकी दृष्टि ही से युद्ध करनेको नहीं कहता हूं । वरु धर्म्मदृष्टि-से भी कहता हूं। इसमें सन्देह नहीं, कि तू जो इन कौरवों पर दया करता है वह भी क्षत्रियका धर्म्म ही है, पर अनवसर दया करना हानिकारक है । देख गायका दूध पथ्य है, गुणदायक है, पर वही दूध यदि किसी ज्वरसे पीडित प्राणीको ज्वर लगेहुये शरीरमें दियाजावे तो अत्यन्त हानिकारक है । क्योंकि रोगको बढादेता है । इसी प्रकार तेरी यह अनवसरकी दया हानिकारक है । इसलिये तू इस समय अपने धर्म्म-का विचार कर यदि युद्ध करेगा तो इसमें तुझको तनक भी प्रत्यवाय नहीं होगा। जैसे राजमार्ग पर चलनेसे व्याघ्र इत्यादिका डर नहीं होता। नदी नालोंका क्लेश नहीं उठाना पड़ता । कंटकों से बेधे जानेका भय नहीं होता तथा चोर लुटेरोंसे प्राणी लूटा नहीं जाता। इसीप्रकार तेरे समान धर्म्मवेत्ता क्षत्रियोंके लिये युद्ध जो एक राजमार्ग है कदापि हानिकारक नहीं होसकता, वरु स्वर्ग जानेके लिये यह एक सुन्दर निर्भय सोपान है । सुन!—वह्निपुराणका वचन है-

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः
न तत् फलमाप्नोति संग्रामे यदाप्नुयात् ।
धर्म्मलाभोऽर्थलाभश्च यशोलाभस्तथैवच ।
यः शूरो वध्यते युद्धे विमृदन प्रवाहिनीम् ॥
यस्तु शस्त्रं समुत्सृज्य वीर्य्यवान् वाहिनीमुखे ।
सम्मुखो वर्त्तते शूरः स स्वर्गान्न निवर्त्तते ॥

यां यज्ञ संघैस्तपसा च विप्राः स्वर्गैषिणो यत्र न वै प्रयान्ति ।
क्षणेन तामेवगतिं प्रयान्ति महाहवे स्वांतनुं संत्यजन्तः ॥

अर्थ— अग्निष्टोमादि यज्ञोंसे और बहुत प्रकार दक्षिणा इत्यादिसे भी उतना फल प्राप्त नहीं होता जितना संग्राम करनेसे होता है । जो वीर बहुत बडी विशाल सेनाको दलन करता हुआ युद्धमें माराजाता है वह धर्म, अर्थ, यश इत्यादिको पूर्ण प्रकार लाभ करता है । जो वीर पराक्रमी गंभीर और विशाल सेनाके सामने शस्त्रोंको छोडता हुआ पिल पडता है वह अवश्य स्वर्गको पाता है । स्वर्गकी इच्छा करने वाले विप्रवृन्द असंख्य यज्ञोंके करनेसे तथा कठिन और कठोर तपस्यामें जिस गतिको नहीं पाते सो गति उस प्राणीको क्षणमात्रमें प्राप्त होती है जो संग्राममें अपने शरीरको छोडदेता है ।
" मनु " भी कहते हैं—

समोत्तमाधमैराजाचाहूतःपालयन्प्रजा ।
ननिवर्त्ततसंग्रामात्क्षात्रंधर्म्ममनुस्मरण ॥ १ ॥
संग्रामेष्वनिवर्त्तित्वंप्रजानांचैवपालनम् ।

शुश्रूषाब्राह्मणानांचराज्ञःश्रेयस्करंपरम् ॥ २ ॥

अर्थ— प्रजाका पालन करता हुआ राजा यदि अपने समान वा अपनेसे उत्तम वा अपनेसे नीचवालोंसे भी युद्धके लिये बोला-या जावे, तो अवश्य युद्धमें पहुंचकर संग्रामसे निवृत्त न होवे अर्थात् मुंह न मोरे। क्योंकि संग्रामसे मुंह नहीं मोरना, प्रजाका पालन कर-ना तथा ब्राह्मणोंकी सेवा करनी, यह तीनों धर्म्म राजाओंके लिये परम कल्याण कारक हैं १, २ ॥

शंका— जब बडे-बडे यज्ञ और तपस्या से भी उत्तम गतिकी प्राप्ति होनेमें शंका है तो युद्धसे जो कपूय कर्म है अर्थात देखनेमें बहुत ही क्रूर आचरण है, उत्तम गति कैसे प्राप्त होसकती है?

समाधान— यह वार्त्ता प्रसिद्ध है और सब जानते हैं, कि मरण-कालके समय यदि मनुष्यकी वृत्ति सर्वत्रसे सिमट कर एक क्षण मात्र भी भगवान्के चरणोंकी ओर लगजावे तो वह भगवत्-चरणोंमें जा पहुंचता है। सो युद्धका तो नाम सुनतेही प्राणी भगवत् को स्मर-ण करने लगजाते हैं। जबसे युद्ध उपस्थित होता है तबहीसे वीरोंके चित्तकी वृत्ति सर्वत्रसे सिमटकर भगवत्के चरणोंकी ओर होजाती है; क्योंकि प्राणपर संकट आपडता है, जो प्राण प्राणीको पुत्र, पौत्र, स्त्री और अन्य सब कुटुम्बियोंसे अधिक प्यारा होता है। अपने प्राणसे बढकर अन्य कोई पदार्थ प्राणियोंके लिये प्रिय नहीं है। तिस प्राणका भय उपस्थित होजाता है। इसलिये वीर-वृन्द अपने प्राणको भगवत् चरणारविन्दोंमें अर्पण कर युद्ध करते हैं, और युद्ध यात्रा करते समय भगवत्के शरण होजाते हैं। इसलिये युद्धमें मरनेसे शुभ गति पाते हैं।

इसलिये भगवान् कहते हैं, कि हे वीर अर्जुन ! विशेषकर [**धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते**] क्षत्रियोंके लिये तो मंगल-दायक धर्म्म युद्धसे बढकर कोई दूसरा नहीं है, । इसलिये तू अपने धर्म्म को देखकरे इन भीष्म और द्रोणके सम्मुख बाणप्रहार करनेमें किसीप्रकार कंपायमान न हो ।

प्रिय पाठको! यहां भगवान अर्जुनको लौकिकरीतिसे युद्ध सम्पादन करना क्षत्रियधर्म्म बताकर युद्ध करनेकेलिये अर्जुनका उत्साह बढा रहे हैं । अर्जुनने प्रथम अध्यायमें '**१. सीदन्तिममगात्राणि**' '**२. मुखञ्चपरिशुष्यति ।**' '**३. वेपथुश्चशरीरेमे ,**' '**४. रोमहर्षश्चजायते।**' '**५. गाण्डीवंस्रंसतेहस्तात् ।**' '**६. त्वक्चैवपरिदह्यते।**' '**७. न च शक्नोम्यवस्थातुम्**' **८. 'भ्रमतीवचमेमन:'** ॥ ये आठ बातें, जो युद्ध द्वारा कम्पायमान होकर कही थी, उनही वचनोंके उत्तरेमें श्री महाराज इस श्लोक द्वारा अर्जुनसे कहते हैं, कि युद्धसे तू कम्पायमान न हो, वरु तुझ क्षत्रिय जातिके लिये इस युद्धसे अधिक कल्याण-कारक दूसरा धर्म नहीं है। अर्जुनने जो कहा था, कि भिक्षा मांग कर जीवन व्यतीत करूंगा पर युद्ध नहीं करूंगा। इसी वचनके खण्डनमें भगवान् कहते हैं, कि भिक्षा तो सन्यासियोंका वा अपाहिजोंका धर्म है । तू राजा है क्षत्रिय है । इस कारण तू अपनी जातिके धर्मकी ओर अवलोकन कर! अपने धर्मको सम्पादन करते-करते मरजाना उत्तम है पर परायेका धर्म कदापि ग्रहण नहीं करना चाहिये । क्योंकि ऐसा करनेमें भलाई

नहीं है ।

तहां भगवान्‌का तात्पर्य्य केवल युद्धहीसे नही है वरु संसारके कल्याण निमित्त ज्ञानका भी उपदेश करना है । इसलिये इन वचनों के द्वारा भगवान् मनुष्य-मात्रको यह उपदेश कररहे हैं, कि संसारमें अपने धर्मके साधन करते समय चाहे कितनी भी अपनी वा अपने वन्धु-वर्गोंकी तथा इष्ट-मित्रोंकी हानि क्यों न देखपडे पर अपने धर्म्म साधन करनेसे पांव पीछे न धरे, न किसी प्रकारका भय करे ! अपने वर्णाश्रम तथा अपने मतके अनुसार धर्म्मोंके साधनसे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होती है, जिससे प्राणी आगे चलकर उपासना और ज्ञान का अधिकारी होकर परमपदको प्राप्त करता है । इसी कारण प्रत्येक प्राणीको अपने-अपने स्वाभाविक धर्म्मका प्रतिपालन करना उचित है । भगवान्‌ने क्षत्रिय धर्म्मके मिससे संसारभरके मनुष्योंको अपने-अपने स्वाभाविक धर्म्मके प्रतिपाल करनेका उपदेश करदिया ॥ ३१ ॥

जो मनुष्य अपने धर्म्मको छोड़ पराये धर्म्मको ग्रहण करता है उसे अवश्य नाना प्रकारके दुःख झेलने पडते हैं । क्योंकि जिसे एक धर्म्ममें विश्वास न हुआ वह जिस किसी धर्म्ममें जायगा किसी प्रकार का सुख नहीं पावेगा । क्योंकि चंचलचित्त होनेके कारण सदा डावांडोल रहेगा । मरण पर्य्यन्त उसकी यही दुर्दशा रहेगी । सब धर्म्मोंका सारतत्त्व एकही समान है इसलिये जो जिस धर्म्ममें है उसी धर्म्मको दृढताके साथ ग्रहण कियेरहे । यही भगवान्‌का मुख्य तात्पर्य्य है । सो भगवान् आगे भी कहेंगे (अध्या० ३ श्लो० ३५) ॥३१॥

इतना सुन अर्जुनके मनमें यह शंका उत्पन्न हो आयी, कि युद्ध

क्षत्रिय का विशेष धर्म्म तो अवश्य है, पर आचार्य्यों के तथा अपने पितामह इत्यादि गुरुजनोंके साथ युद्ध करना तो श्रेयस्कर नहीं जान पड़ता। इस अर्जुनके हृदयके इस प्रकार भ्रमकी बात सर्वज्ञ भगवान् जानगये, और इसके निवारणार्थ अर्जुनसे कहने लगे—

मू०—यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

पदच्छेदः— पार्थ ! (हे पृथापुत्र अर्जुन !) यदृच्छया (अप्रार्थिततया। स्वप्रयत्नव्यतिरेकेण।) च (तथा) अपावृतम (उद्घाटितम्) स्वर्गद्वारम् (सुरलोकमुखम्। वैकुण्ठमुखम्। नाकप्रतिहारम्।) ईदृशम् (एतादृशम्। एतत्तुल्यम्। एतत्समानम) युद्धम् (संग्रामम्) सुखिनः (धन्याः। कृतकृत्यः। राज्यस्वर्गादिसुखभाजः) क्षत्रियाः (राजानः) लभन्ते (प्राप्नुवन्ति।) ॥ ३२ ॥

पदार्थः— (पार्थ !) हे पृथाके पुत्त अर्जुन ! (यदृच्छया) विना अपनी इच्छा अर्थात् विना किसी प्रयत्नके (उपपन्नम्) आपसे आप प्राप्त हुए (च) और (अपावृतम्) सम्मुख खुलेहुए (स्वर्गद्वारम) वैकुण्ठके द्वारको अर्थात् (ईदृशम) इस प्रकारके (युद्धम्) युद्धको (सुखिनः) बडे सुखी विशाल भाग्यवाले (क्षत्रियाः) क्षत्रिय गण (लभन्ते) लाभ करते हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थः— अर्जुनने तो मनहीमन यह शंका की, कि युद्ध करना तो क्षत्रियका विशेष धर्म अवश्य है, पर अपने बडोंको और आचार्य्योंको मारना धर्म्मसे विरुद्ध है। अर्जुनके इस प्रकार भ्रमसे सनीहुई

मनकी बात सर्वज्ञ भगवान् जानगये और बोले, कि [यदृच्छया-चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्] हे अर्जुन ! यह युद्ध तो आप-से आप उपस्थित होगया है, इस युद्धके उत्पादन करनेमें तेरा तो कुछ दोष नहीं है। तूने तो इसका संकल्पमात्र भी नहीं किया, तेरी ओरसे तो सदा संधिकी ही बातें चलती रहीं। सहस्रों मनुष्योंने दुर्योधनको समझाया, कि युद्ध मत छेडो ? पर उसने एककी भी न मानी । इस-कारण इस युद्धके उपस्थित करनेका कारण तो दुर्य्योधन कहा जासक-ता है। तू तो इससे एकबारगी निर्लेप है, फिर जिस कार्य्यमें प्राणीका संकल्प ही नहीं उदय हुआ उसकी हानिसे वा उसके दोषोंसे वह दूषित नहीं कहा जासकता। इस कारण हे अर्जुन! तू मिथ्या चिन्ता करता है। जैसे तू इस युद्धसे संकल्परहित है तैसेही निराभिमान रह-कर केवल धर्म जानकर इस संग्रामका सम्पादन कर! क्योंकि यह युद्ध संयोगवशात् समयके प्रभावसे कालकी वरियाईसे आपसे आप उत्प-न्न होगया है। इसलिये यदि इसमें कुछ दोष भी हों तो वे तुझे नहीं लग सकते ।

दूसरी बात यह है, कि यह स्वर्गका द्वार तेरे सम्मुख विना प्रयास के आपसे आप खुलगया है । देखतो सही ! बडे बडे यत्नवान् पुरुष स्वर्गके लिये नाना प्रकारके यत्न करते हैं, अग्निष्टोम इत्यादि बहुतेरा यज्ञ करते हैं, तथापि उनके इन यत्नों और यज्ञसे स्वर्गका लाभ होना दुर्लभ होता है, सो स्वर्गद्वार आज तेरे सम्मुख बिना किसी प्रयत्न के आपसे आप प्राप्त होगया हैं। जैसे अत्यन्त पुण्यवान पुरुषको चलते-चलते मार्गमें चिन्तामणि आपसे आप पैरोंसे लगकर मिलजावे अथवा

जैसे जमहाई करते हुए पुरुषके मुंहमें आपसे आप अमृत पडजावे ऐसे यह युद्ध आज तुझको प्राप्त हुआ है। सो तू बडा भाग्यवान् क्षत्रिय है। इस अवसरको मत चूक! क्योंकि ऐसे अवसर पर चूकना बुद्धिमान्का काम नहीं है। इसलिये तू आज इस युद्धको " अपावृतं स्वर्गद्वारं " स्वर्गका खुलाहुआ द्वार जानकर संग्राम कर! देख! अग्निष्टोम इत्यादि यज्ञके करनेसे जो फल प्राप्त होते हैं वे चिरकालके पश्चात् होते हैं। क्योंकि जब शरीर छूटता है तब ही वे फल स्वर्गादि होकर लाभ होते हैं, पर इस युद्ध-यज्ञका फल शीघ्र ही लाभ होता है। क्योंकि बाणसे बेधेजानेके साथही प्राणी स्वर्गको गमन करता है। इस-लिये [सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्] हे पार्थ! जो क्षत्रिय बडे भाग्यशाली और सुखी हैं वे ही इस प्रकारका युद्ध लाभ करते हैं अथवा यों अर्थ करलो कि जो इस प्रकारका युद्धलाभ करते हैं वे ही बडे भाग्यवान् और सुखी क्षत्रिय हैं। अर्जुनने जो भगवानसे यह प्रश्न किया था, कि " स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव " (प्रथम अध्याय श्लो० ३६) अर्थात् स्वजनोंको मारकर हमलोग कैसे सुखी होंगे? तिस सुखी होनेका उपाय भगवान् यहां इस श्लोकमें यों बताते हैं, कि युद्ध करने ही से क्षत्रिय वृन्द सुखी होते हैं। स्मृतियां भी युद्धसे स्वर्गकी प्राप्ति दिखलारही हैं-

प्रमाण— आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः। युद्धमानाः परमशक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः। (मनु० अध्या० ७ श्लो० ८९)

अर्थ- युद्धमें एक दूसरेको हनन करनेकी इच्छा रखनेवाले जो क्षत्रिय राजा हैं वे अपनी पूर्ण शक्तिके अनुसार युद्धसे मुख नहीं

मोड़तेहुए, वरु परस्पर युद्ध करतेहुए, स्वर्गको पहुंचजाते हैं ॥ ३२ ॥

इतना सुन अर्जुनने यह कहा, कि हे भगवन् ! जो स्वर्गसुख अथवा राज्यसुखकी इच्छा करे उसको युद्ध करनेकी आज्ञा दो ! मैं तो तुमसे पहले कहचुका हूं, कि " न कांक्ष्ये विजयं कृष्ण०००० " (अध्याय १ श्लो० ३१) अर्थात् न मैं विजय चाहता हूं, न राज्य-सुख चाहता हूं और न स्वर्ग चाहता हूं फिर मुझसे युद्ध क्यों करवाते हो? इसके उत्तरमें भगवान कहते हैं—

मू०—अथ चेत् त्वमिमं धर्म्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्म्मं कीर्त्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

पदच्छेदः — अथ (अनन्तरम् ।) चेत् (यदि) त्वम् (अर्जुन !) इमम् (ईदृशम । एतत ।) धर्म्म्यम् (धर्म्म रूपम् । क्षात्रधर्म्मविहितम । हिंसादिदोषेणादुष्टम् । सतां धर्म्मादनपेतम्) संग्रामम् (युद्धम्) न (नहि) करिष्यसि (सम्पादयिष्यसि) ततः (तर्हि । तदकरणात ।) स्वधर्म्मम् (स्वजातीय विहितं धर्म्मम ।) च (तथा) कीर्त्तिम् (यशम) हित्वा (त्यक्त्वा । अननुष्ठाय ।) पापम् (शास्त्रनिषिद्धसंग्रामनिवृत्याचरणजन्यमघम् ।) अवाप्स्यसि (प्राप्स्यसि) ॥ ३३ ॥

पदार्थः— (अथ चेत्) फिर यदि (त्वम्) तू (इमम्) इस (धर्म्म्यम्) धर्म्ममय (संग्रामम्) युद्धको (न करिष्यसि)

नहीं करेगा (ततः) तो तू (स्वधर्म्मम्) अपने क्षत्रिय धर्म्मको (च) और (कीर्त्तिम्) अपनी कीर्त्तिको (हित्वा) छोडकर (पापम्) पाप ही को (अवाप्स्यसि) प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो यह कहा, कि मैं किसी प्रकारका लौकिक वा स्वर्गीय सुख नहीं चाहता इसलिये मैं संग्राम क्यों करूं? इसके उत्तरमें श्री कृष्ण भगवान् अर्जुनका हाथ अपने हाथसे पकड कर समझाते हैं, कि हे अर्जुन! देख! [**अथ चेत् त्वमिमं धर्म्म्यं संग्रामं न करिष्यसि**] यदि तू इस क्षत्रिय धर्म्ममय युद्धको करने से मुंह मोडेगा तो तू निश्चय कर जान, कि तू अपने हाथों अपनी भलाईके मूलमें कुठार मारेगा। यह संग्राम धर्म्ममय संग्राम है इसलिये इस संग्राममें कहीं भी पापका लेश नहीं है। जो संग्राम धर्मसे विरुद्ध अपने स्वार्थवश परम कुत्सित व्यवहारोंके साथ सम्पादन कियाजाता है उस संग्राम का करनेवाला पापी समझा जाना है। वह संग्राम धर्म्मसंग्राम नहीं कहाजाता। इसलिये यदि तू इस संग्रामसे मुंह मोडेगा तो तेरे सब पूर्वार्ज्जित पुण्य नाश होजावेंगे। तेरे सब धर्म्म और तेरी पहलेकी सब कीर्त्तियां जो तूने बडे परिश्रमसे लाभकी हैं एकबारगी तुझको छोड दूर भागजावेंगी और धर्म्म और कीर्त्तिके एवम्प्रकार रूठजानेसे सर्व प्रकारके पातक तुझको घेरलेवेंगे। जैसे शरीरसे प्राण निकलजाने से कागले, कुत्ते, श्याल इत्यादि उस मृतक शरीरको घसीट-घसीट कर, फाड-फाडकर और नोच-नोच कर खाजाते हैं, ऐसे तेरा धर्म्म तुझसे निकलजाने पर तुझे शवके समान जान नाना प्रकारके पाप तुझको अपनी ओर घसीट-घसीट कर फाड खावेंगे और तेरी अपकीर्त्ति सर्वत्र फैल

जानेसे सम्पूर्ण संसारमें निन्दा होगी । जैसे किसी स्त्रीके पतिके नाश होजानेसे उसके मुखकी शोभा जाती रहती है, वह स्त्री श्रीहत होजाती है, इसी प्रकार धर्म्म छूटजानेसे तेरी भी दशा होजावेगी । देख ! इस युद्धमें भीष्म और द्रोण ऐसे धर्म्म-संयुक्त युद्ध करनेवाले वीर उपस्थित हैं इसलिये यह युद्ध धर्म्य है अर्थात धर्म्म संयुक्त है । स्मृतियोंके वचन हैं— "नकूटैरायुधैर्हन्यात् युद्ध्यमानो रणेरिपून् । न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः । न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृतांजलिम् । न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वा दिनम् । न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् । नायुध्यमान म्पश्यन्तं न परेण समागतम् । नायुधव्यसनप्राप्तं नार्त्तं नाति परिक्षतम् । न भीतं न परावृत्तं सतांधर्म्ममनुस्मरन् (मनु० अध्या० ७ श्लो० ६० से ६३ तक) इन श्लोकों द्वारा मनु धर्म्म युद्धका वर्णन करते हैं " अर्थात कपट भरेहुए शस्त्रोंसे शत्रुओंको नहीं हनन करना चाहिये । न गांठ भरेहुए बाणोंसे । न विष भरेहुए बाणोंसे । न ऐसे बाणोंसे जिसके अग्रभागमें अग्नि जलरहा हो । न ऐसे शत्रुको मारना चाहिये जो अपने वाहनसे पतन होकर पृथ्वी पर गिरगया हो, नपुंसकको भी रणमें नहीं मारना चाहिये । जो हाथ बांधकर सामने आवे उसे भी नहीं मारना चाहिये । जो केश खोलकर सामने आवे उसे भी नहीं मारना चाहिये । जो लडते-लडते बैठगया हो तथा जो ऐसे कहे, कि मैं तुम्हारा हूं । जो निद्रामें हो । जो सन्नाहसे तथा वस्त्रोंसे हीन होकर नग्न होगया हो । जो शस्त्र से हीन हो । जो लडने वालोंकी युद्धकला देखने आया हो ।

शस्त्रोंके निरर्थक प्रहार करनेका जिसको व्यसन होगया हो अथवा जिसके हाथसे शस्त्र गिरगये हों वा टूटगये हों। जो आर्त हो। जिसके बहुत घाव लगे हों। जो डरगया हो और युद्धसे भागचला हो। ऐसोंको धर्म्मात्मा राजा हनन न करें। यही श्रेष्ठ पुरुषोंका धर्म्मयुद्ध है। जो पुरुष इस प्रकार धर्म्म-युद्धका करनेवाला है वही पुरुषयुद्धमें मरनेकेसाथ ही स्वर्गकी यात्रा करेता है।

हे अर्जुन! तू तो धर्म्मयुद्ध करेगा, फिरे तेरेको क्या भय है? देख! जो वीर रणसे मुंह मोड़ भागता है और शत्रुओंसे घेरा जाकर माराजाता है, उसकेसब पुण्य मारनेवालेके पास चलेजाते हैं।महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है, कि " राजा सुकृतमाधत्ते हतानां विपलायिनाम्" अर्थात् रण से पलायमान हुएको फिर घेरकर जो मारता है वह राजा मरनेवाले के सब पुण्योंको लेलेता है। इसलिये हे अर्जुन! यदि तू रणसे भागेगा तो ये दुर्योधन इत्यादि वीर तुझको घेरकर मारेंगे और तेरे सब पुण्य लेलेवेंगे। इसी कारण मैं तुझसे बारम्बार कहता हूं, कि युद्धकर! जो पुरुष पहलेसे सुकीर्त्तिके भाजन होचुके हैं तथा बडे-बडे प्रसिद्ध वीरोंके साथ युद्धका सम्पादन कर यश-लाभ करचुके हैं। जिनकी वीरताके नामका डंका संसारमें बजचुका है। जो किसी रणभूमिमें किसी वीरसे परास्त नही हुए। ऐसे वीरोंका रणसे भागजाना सारी बनी बनायी बातोंको धूलमें मिलादेनेवाला है। ऐसा करनेसे तेरी भी गणना निलज्जोंमें होगी॥ ३३॥

अब इससे भी अधिक दुःख और लज्जाकी बात तेरेलिये क्या है सो सुन !

मू०—अकीर्त्तिं चापि भतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥

॥ ३४ ॥

पदच्छेदः— च (तथा) भूतानि (देवर्षिमनुष्यादीनि ।) ते (तव) अव्ययाम् (दीर्घकालाम् । शाश्वतीम ।) अकीर्त्तिम् (न-धर्मात्माऽयं न शूरोऽयमित्येवंरूपम्) अपि, कथयिष्यन्ति (अन्योन्यं कथाप्रसंगे वदिष्यन्ति ।) च (तथा) संभावितस्य (बहुमानितस्य ।) अकीर्त्तिः (अयशः) मरणात (देहत्यागात् ।) अतिरिच्यते (अधिकतरा क्लेशकारिणी भवति ।) ॥ ३४ ॥

पदार्थः–(च) और (भूतानि) सब लोग तेरी (अव्ययाम्) बहुकालीन (अकीर्त्तिम्) अकीर्तिको अर्थात् महा घोर अयशको (कथ-यिष्यन्ति) कथन करेंगे (च) फिरतो '(संभावितस्य)' श्रेष्ठ और आदरणीय पुरुषोंके लिये उसकी (अकीर्त्तिः) अकीर्त्ति उसके (मरणात्) मरनेसे भी (अतिरिच्यते) अधिक दुःखदायी है ॥३४॥

भावार्थः– श्री जगत्-हितकारी गोलोक-बिहारी रणछोड भग-जानेके अन्य दुःखदायी फलोंको स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि हे अर्जुन ! यदि तू रण छोड कर भाग जावेगा तो [अकीर्त्तिं चापि

भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्] सब छोटे, बडे, बाल और वृद्ध परस्पर संभाषण करते समय तेरी अपकीर्त्ति और अपयश को तथा तेरी कादरताको कहकर तेरी निन्दा करेंगे। तेरी अपकीर्त्ति और निन्दाकी सरितायें " अव्यय " अखण्ड प्रवाह करेंगी अर्थात् सदाके लिये तू निन्दनीय होजावेगा और यह अपयश तेरे मस्तक से कभी भी नहीं उतरेगा। यहां ' च ' और ' अपि ' दोनों शब्दों का प्रयोग इसलिये किया है, कि पहले जो कथन कर आये हैं, कि तू युद्ध नहीं करनेसे धर्म्मरहित तो हो ही जावेगा पर उसीके साथ-साथ तेरी अपकीर्त्ति भी होगी ' अपि ' फिर जो लोग तेरा यश गाते हैं वे भी तेरी निन्दा करेंगे। सो हे वीर अर्जुन ! तेरी गणना जो संभावितोंमें है अर्थात् वीरोंकी सभामें तू श्रेष्ठ कहाजाता है, बडे-बडे वीरोंसे जो तू आदरणीय है सो [संभावितस्यचाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते] तेरे ऐसे माननीय पुरुषके लिये अकीर्त्ति मरनेसे भी अधिक दुःखदाई है, इस कारण जो तू भागकर अपनी अपकीर्त्ति करावेगा इससे तो उत्तम यही है, कि तू यों भी अपना प्राण इस युद्धमें देदे ! मरजा ! यदि तू युद्धका फल स्वर्ग नहीं समझता हो तो भाग कर अपनी अपकीर्त्तिके दुःख से तेरा कहीं जा मरनेसे उत्तम है, कि इसी रणमें अपना प्राण देदे ! अपनी अकीर्तिका भाजन मत हो ! ॥ ३४ ॥

यदि तू ऐसा कहे, कि साधारण लोग मेरी निन्दा करें, तो करें पर भीष्म, द्रोण इत्यादि जो महारथी हैं वे तो ऐसा कहेंगे, " कि अर्जुन दयावान है। इसलिये हम लोगोंको मारना उचित न जान कर रण से

लौट गया"। सो ऐसा मत समझ ! वे क्या कहेंगे सो सुन !

मू०-- भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्
॥ ३५ ॥

पदच्छेदः—**महारथाः** (भीष्मद्रोणदुर्योधनादयः ।) **त्वाम्** (अर्जुनम् ।) **भयात्** (संग्रामे कर्णादिभयात् ।) **रणात्** (युद्धात् **उपरतम्** (निवृत्तम् । परावृत्तम्) **मंस्यन्ते** (चिन्तयिष्यन्ति) **च** (तथा) **येषाम्** (भीष्मादीनाम् ।) **त्वम्**, **बहुमतः** (बहुभिर्गुणैर्युक्तः । बहुमान्यः ।) **भूत्वा**, **लाघवम्** (लघुभावाम् । अनादरविषयत्वम् ।) **यास्यसि** (प्राप्स्यसि । अवाप्स्यसि)

पदार्थः—भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! (**महारथाः**) ये जो भीष्म, द्रोण, दुर्योधन इत्यादि महारथी हैं ये लोग (**त्वाम्**) तुझको (**मंस्यन्ते**) ऐसा मानेंगे, कि (**भयात्**) कर्णादि वीरोंके भय से अर्जुन (**रणात्**) संग्रामसे (**उपरतम्**) उपरामको प्राप्त होगया है अर्थात् डरकर भागगया है । (**च**) और (**येषाम्**) जिनकी दृष्टि में (**त्वम्**) तू (**बहुमतः**) बहुत माननीय (**भूत्वा**) होकर भी (**लाघवम्**) बहुत ही लघुताको (**यास्यसि**) प्राप्त होगा ॥३५॥

भावार्थः—अर्जुन जो अपने मनमें यह समझ रहा है, कि केवल दो-चार साधारण-लोग निन्दा करें तो करें, पर भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुर्योधन इत्यादि तो मुझे दयावान् समझेंगे। अर्जुनके मनके इस

भ्रमको निवृत्त करनेके तात्पर्य्यसे भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! तू ऐसा मत समझ ! वे क्या कहेंगे ? सो सुन ! [**भयाद्रणादुपरतम् मंस्यन्ते त्वां महारथाः**] वही महारथी लोग अर्थात् भीष्म द्रोण इत्यादि कभी भी भूलकर प्रतीति नहीं करेंगे, कि अर्जुनने हमलोगों पर दया करकेह में छोडदिया और युद्धसे मुँह मोर लिया है, वरु वे तो ऐसा समझेंगे, कि अर्जुनने हम महारथियोंके बाहुबलके प्रभावको समझ कर भयसे रण छोड़ कर भाग गया है। फिर हे अर्जुन ! विचार तो सही, कि [**येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्**] जिनकी दृष्टिमें तू वीर-शिरोमणि समझा जाता था अर्थात् निवातकवच राक्षसको धूलमें मिलादेना, शंकरको भी युद्धमें जय लाभ न होने देना इत्यादि तेरी अलौकिक वीरताके कारण तू जिनकी दृष्टिमें "**बहुमतः***" बडाही आदर और सन्मानवाला वीर मानाजाता था, वे तेरेको अत्यन्त लघु समझेंगे। (च) शब्द कहकर यह जनाया, कि केवल साधारण लोग ही नहीं वरु महारथी लोग भी तुझको तुच्छ समझेंगे, परस्पर मिलकर तेरी इस क्लीवता पर ठट्ठे मार-मार हंसेंगे और यही कहेंगे, कि यह अर्जुन डरपोक है। हम लोग वीरोंको देख मारे भयके रण छोडकर भागगया है । क्योंकि '**वादी भद्रं नपश्यति**' जो विरोधी है वह कभी भद्र नहीं देख-

---

* बहुमतः— सन्मान योग्य मानाजावे ऐसेको बहुमत कहते हैं ।

प्रमाण—त्वत्संभाविमात्मानं बहुमन्यामहेवयम् (कुमारसंभव ६- २०)

ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव ॥ (शकुन्तला ४- ६)

ता। तूने हठकर पहले मुझसे यह कहा, कि " सेनयोरुभयोर्मध्ये रथंस्थापयमेऽच्युत " दोनों सेनाओंके मध्यभागमें हे अच्युत ! मेरा रथ लाकर खडा करदो, कि मैं अपने संग लडने वाले वीरोंको देखूं। जब तेरे कहनेसे मैंने वीरोंके सन्मुख रथलाकर खडा करदिया, तब तू कहता है, कि युद्ध नहीं करूंगा। तू तो दयाके कारण ऐसा कहता है, पर तेरे शत्रु तो यही कहेंगे, कि देखो ! देखो! अर्जुन हम लोगोंको देखते ही रणसे भाग गया। वेतो अकडते हुए मोछोंको मरोडते हुए और शस्त्रो-पर हाथ फेरते हुए यही अभिमान करेंगे, कि हम लोगोंके समान वीर कौन है जिसको देखते ही अर्जुन भाग गया। यदि तुझको यही करना था और विन मृत्यु मरना था, तो तूने रथको आगे क्यों बढाया ? अपने देवदत्त शंखको क्यों बजाया? और अपने धनुषको क्यों ऊपर उठाया ? यदि तू प्रथम ही युद्धको स्वीकार न करता तो तेरी लज्जा बनी रहती और तेरी वीरता पर धब्बा नहीं लगता। अब तू युद्धको स्वीकारे कर रणभूमि में आकर हाथसे गांडीव-धनुष उठाकर, मुझे रथवान् बनाकर, मुझसे रथ हंकवाकर, सेनाके मध्यलाकर और वीरोंको रुचिपूर्वक सम्मुख देखकर जो युद्ध नहीं करेगा, तो अब क्या ये तेरे शत्रु तुझको दयावान् समझेंगे ? कदापि नहीं! हे अर्जुन ! ऐसा करनेसे तेरी ही निन्दा न होगी वरु मेरी भी निन्दा होगी और गांडीव धनुषके पराक्रमको भी तू धूलमें मिला देगा। ऐसा करनेसे तेरी अपकीर्त्ति होगी ॥३५॥

ले और सुन !

मू०— अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरन्नु किम्
॥ ३६ ॥

पदच्छेदः—च (तथा) तव (ते) अहिताः (शत्रवः ।) तव (त्वदीयम्) सामर्थ्यम् (लोकप्रसिद्धमसाधारणम्बाहुबलम् ।) निन्दन्तः (कुत्सयन्तः) बहून् (अनेकप्रकारान्) अवाच्यवादान) (पराड-तिलादिरूपान वक्तव्यवचनान्) वदिष्यन्ति (कथयिष्यन्ति ।) ततः (निन्दाप्राप्तेर्दुःखात्) दुःखतरम् (कष्टतरदुःखम । अधिकं-दुःखम ।) नु किम (न किमपि) ॥ ३६ ॥

पदार्थः— हे अर्जुन ! (तव) तेरे (अहिताः) शत्रुलोग (च) भी (तव) तेरे (सामर्थ्यम्) लोकप्रसिद्ध असाधारण बाहुबलके विषय (निन्दन्तः) निन्दा करतेहुए (बहून्) बहुत प्रकारके (अवाच्यवादान्) नहीं बोलने योग्य अश्लील बचनोंको (वदिष्यन्ति) बोलेंगे (ततः) तिससे बढकर (दुःखतरम्) अधिक दुःख (नुकिम) कौनसा है ? ॥ ३६ ॥

भावार्थः--और भी इससे अधिक हे अर्जुन! तुझको कौनसा घोर क्लेश सहना पडेगा सो सुन ![अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति नवाहिताः] तेरे अहित अर्थात् हितके नहीं चाहनेवाले कर्ण

दुःशासन, जयद्रथ इत्यादि जो तेरे प्रबल शत्रु हैं, वे अपने संगियोंमें तथा वीरोंकी मण्डलीमें बैठकर ठहाका लगातेहुए तेरे विषे अश्लील बचनोंको बोलेंगे। कैसे बोलेंगे? सो सुन! (निन्दन्तस्तव सामर्थ्यम्) तेरी अपूर्व वीरताकी निन्दा करते हुए, नाना प्रकारके दुर्वचन रूप बाणोंसे तेरे यश और तेरी कीर्त्तियोंको वेधेंगे। तेरी वीरताकी प्रशंसा जो तीनों लोकमें फैलीहुई है और सब देशके नरेश जो तेरी स्तुति कररहे है, इन सबों पर पानी पडजायगा। देखतो सही! जितने वीर इस रणभूमिमें आकर उपस्थित हैं उनको तेरी वीरताका यहांतक भय है, कि तेरे हाथसे अपना मरना निश्चय करचुके हैं। जैसे गरुडसे सर्प डरता है, ऐसे ये तुझसे डररहे हैं। सो जैसेही तू रण छोडेगा ये सब दुर्वचन कहना आरम्भ करदेंगे। कोई तुझको कादर कहेगा, कोई नंगा हिजडा कहेगा, कोई निर्लज्ज कहे गा, कोई कुविचारी और कोई मूर्ख कहेगा। एवम् प्रकार तेरे शत्रु तेरी सामर्थ्यकी निन्दा करतेहुए यही कहेंगे, कि जैसे स्त्रियोंके आभूषणों पर सिंह, व्याघ्र, सर्प इत्यादिकी मूर्त्तियां बनी रहती हैं पर उन मूर्त्तियोंसे स्त्रियोंको कुछभी भय नहीं होता, इसी प्रकार अर्जुनके हाथ में गांडीव, खड्ग, नाना प्रकारके बाण, तीर, तरकश, वर्म्म, कवच इत्यादि शस्त्रोंकी मानों जड मूर्त्तियां बनीहुई हैं। इन शस्त्रोंसे किसी वीरको कुछभी भय नहीं होसकता। इसीके साथ यों भी कहेंगे, कि आज तक जो इस डरपोक अर्जुनने जहां तहां विजय पाया है वह कादरों परे विजय पाया है। किसी वीरसे युद्धका संयोग इसको नहीं पडा, सो आज इस कुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें हमवीरोंको देखकर यह भागा जाता है। अब तू ही अपने मनमें विचार कर, कि [ततो दुःख

तरन्नुकिम्] इससे बढकर दुस्सह दुःख तेरे ऐसे संभावित पुरुषों के लिये और क्या होसक्ता है ?॥ ३६ ॥

इतना सुन अर्जुन अपने मन ही मन विचारने लगा, कि यदि रण छोड़ कर भागजाऊंगा तौ भी ये मेरे शत्रु मेरी निन्दा करेंगे और जो रणमें इनसे माराजाऊंगा तौ भी ये मेरी निन्दा करेंगे। इसलिये युद्ध करना और युद्धसे भागजाना दोनों पक्षमें निन्दाका दुःख समान ही है। अथवा युद्धमें मारेजानेसे प्राण भी चलाजावेगा और निन्दा भी होगी और भागजानेसे केवल निन्दा ही होगी प्राणतो बचेगा। इसलिये युद्ध करनेसे युद्ध छोडकर भागजाना उत्तम पक्ष है।

भगवान् अर्जुनके मनका भाव समझगये और बोले--

मू०—हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चयः॥
॥ ३७॥

पदच्छेदः— कौन्तेय ! (हे कुन्तीपुत्र !) हतः (निहिंसितः। विशसितः। प्रतिघातितः। मारितः। वधितः। आलम्भितः। घातितः।) वा, स्वर्गम् (वैकुण्ठम्। सुरालयम्।) प्राप्स्यसि (अवाप्स्यसि।) वा, जीत्वा (शत्रून् परांमुखीकृत्वा।) महीम् (महिपालानां सुखम्) भोक्ष्यसे (प्राप्स्यसि) तस्मात् (तस्मात कारणात) कृतनिश्चयः (कृतनिर्णयः।) युद्धाय (संग्रामाय।) उत्तिष्ठ !

(सज्जीभव । अविलम्बेन उद्यतो भव !) ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(कौन्तेय) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! यदि तू (हतः) मारागया तो (स्वर्गम्) स्वर्गको (प्राप्स्यसि) प्राप्त करेगा (वा) अथवा (जित्वा) जय पावेगा तो जय पाकरे (महीम्) पृथ्वीके राज्यको (भोक्ष्यसे) भोगेगा (तस्मात्) इसलिये (कृतनिश्चयः) दृढ निश्चय कर (युद्धाय) युद्धके लिये (उत्तिष्ठ) खडा होजा ! ॥ ३७ ॥

भावार्थः— अर्जुनके मनमें जो यह भाव उत्पन्न हुआ था, कि रणसे भागजानेसे केवल निन्दा ही होगी और मारेजानेसे तो प्राण भी जावेगा और निन्दा भी होगी । इससे भाग ही जाना उत्तम है, प्राणतो बचजावेगा । अर्जुनके मनकी यह बात भगवान् जानगये और बोले, कि [**हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जीत्वा वा भोक्ष्यसे महीम्**] हे अर्जुन ! यदि तू रणमें माराजावेगा तो स्वर्गका सुख लाभ करेगा और जो जीतजावेगा तो पृथ्वीका राज सुख भोगेगा । इस कारण तुझे युद्ध करना ही उचित है । जो युद्धसे मुह मोड भागजाना ही उत्तम समझ रहा है और प्राण बचजाना श्रेष्ठ समझरहा है यह तेरी समझ बच्चोंकीसी है । तेरी ऐसी मन्द-बुद्धि और कातरतासे भरेहुए विचार पर मुझे आश्चर्य भी होता है और हंसी भी आती है । भला तेरे समान वीरको ऐसी निरर्थक बातें क्या उचित हैं ? कदापि नहीं । देख ! मैं तेरा रथवान् क्या इसी तात्पर्य से बना हूं, कि तू इन भीष्म, द्रोण इत्यादि साधारण वीरोंसे माराजावे। क्या ऐसा कभी होसकता है ? इसको तो तू निश्चय रख ! कि सुर्य्य

पश्चिम दिशासे उदय होवे तो होवे, अग्नि शीतल होजावे तो होजावे, परे तेरे समान वीर युद्धमें कभी नहीं माराजासकता। तू न जाने क्यों इस समय अपनी वीरताको भूल रहा है ! हां! यदि तुझको इस रणके जीतने और हारनेमें शंका है और जो तू ऐसा ही निश्चय रखता है कि इस-युद्धमें कदाचित् मारागया तो निन्दा होगी तो सुन ! मेरी बात सुन! यदि तू प्रारब्ध वश रणमें मारा जावे तो तू स्वर्ग-सुख लाभ करेगा नहीं जो जीतगया तो पृथ्वीका राज्य भोग करेगा। तू विचारकर देख ! तेरे दोनों हाथोंमें मोदक हैं। तेरी हानि कुछ भी न होगी। यह युद्ध नहीं है, यह तो स्वर्ग जानेका राजमार्ग है। क्या राजमार्ग पर चलते हुएको ठोकर कभी लग सकती है ? वा धोखा खाकर किसी गडहेमें गिर सकता है ? कदापि नहीं ! हां ! जो चलनेवाला स्वयं पागल हो वा आंखें बन्द कर अकड़ताहुआ चले, तो क्यों नहीं ठोकर खायगा ? सो तू यदि धर्मसे रहित युद्ध करेगा तब निःसन्देह तुझको दोष लगेगा। इस कारण मैं तुझसे कहता हूं, कि [**तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चयः**] ऐसा मनमें युद्धहीका निश्चय करके हे अर्जुन ! तू खडा होजा। ले और सुन ! तू यह क्यों नहीं निश्चय करलेता है, कि "मैं ही जीतूंगा" यदि ऐसा न करे तो इतना ही निश्चय करले, कि मारूंगा वा मरूंगा। क्योंकि दोनों दशाओंमें तुझको लाभ ही है। इसलिये हार जीतको समान करके युद्ध कर ॥ ३७ ॥

अब भगवान् यथार्थ आत्मतत्त्वका उपदेश करनेके तात्पर्य्यसे

इस युद्धका बहाना लेकर कहते हैं:—

मू०—सुख दुःखे समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततोयुद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि
॥ ३८ ॥

पदच्छेदः— सुखदुःखे (हर्षविषादौ । प्रमोदखेदौ । आनन्दशोकौ ।) लाभालाभौ (प्राप्त्यप्राप्ती ।) जयाजयौ (विजयपराजयौ ।) समे (तुल्ये) कृत्वा । ततः (तदनन्तरम् । युद्धाय संग्रामाय ।) युज्यस्व (घटस्व ।) एवम् (अनेन प्रकारेण ।) पापम् (अघम् ।) न (नैव) अवाप्स्यसि (प्राप्स्यसि) ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(सुखदुःखे) सुख दुःखको, (लाभालाभौ)लाभ और हानिको (जयाजयौ) रणमें जीत और हारको(समे)एक समान(कृत्वा) करके (ततः) तिसके पश्चात (युद्धाय) युद्धके लिये (युज्यस्व) अपने मनोयोगको जोडदे! अर्थात् एकाग्र चित्त हो संग्रामका सम्पादन कर ! (एवम्) इस प्रकार करनेसे (पापम्) पापको (न) नहीं (अवाप्यसि) प्राप्त होगा ॥ ३८ ॥

भावार्थः—प्रिय पाठको ! यहां भगडा फूटता है । गुप्त रहस्य प्रगट होता है । इस गीताके अध्याय प्रथम में जो कहा गया है, कि अर्जुन भी अवतार है और वह केवल संसारके कल्याण निमित्त अज्ञानीका बहाना करके भगवानसे ज्ञानतत्त्वका उपदेश करवाया चाहता है, सो यहां प्रत्यक्ष देखनेमें आरहा है । क्योंकि

अब तक संसारी मनुष्योंके समान अर्जुन भी दुःख रोताआया और भगवान् भी संसारी व्यवहारोंको लेकर उसे उपदेश करते रहे, पर अब यहांसे मुख्य बात प्रगट होती है। केवल युद्धका बहानामात्र है। प्रत्येक मनुष्यके साथ जो उसका अपना संसार है, अर्थात् घरद्वार, कुटुम्ब लेन, देन, आय, व्यय, धन, सम्पत्ति, कुल, परिवार, मरना, जीना, दुःख-सुख इत्यादि हैं वे ही उसके लिये महाभारत युद्ध है। तहां बहुतेरे प्राणी इस अपने घरबारके झंझट रूप महाभारतके दुःखसे व्याकुल हो इससे भाग सन्न्यासी होजाना चाहते हैं, पर यह ऐसा जकड कर उनको बांधेहुआ रहता है, कि उनको तनक भी दायें, बांयें हिलनें नहीं देता। इसकारण भयंकर कष्ट देखकर उनका पुरुषार्थ रूप गांडीव उनके हाथसे गिरजाता है। उनकी शान्ति मारे भयके कांपती रहती है। उनकी बुद्धि दिन-दिन शुष्क होती जाती है। इसलिये अर्जुननें उनके कल्याणनिमित्त इस गीता शास्त्रको भगवान्के मुखसे प्रगट करवाने का यत्न किया है, जिससे ये संसारी मनुष्य अपने संसार रूप महाभारत युद्धको छोड न भागें वरु शान्ति-पूर्वक धीरजके साथ अपने वर्णाश्रमके धर्मोंको पालन करते हुए अपनी शरीर यात्रा समाप्त करें अर्थात् संसार रूप महाभारत युद्धको विजय कर जीवन्मुक्त लाभ करतेहुए भगवत् चरणारविन्दोंमें जामिलें। इसीलिये भगवान् भी युद्ध का बहाना ले अर्जुनके द्वारा संसारियोंको परम तत्त्वका उपदेश करते हैं।

यद्यपि श्यामसुन्दरने बारंबार अर्जुनको यह कहा, कि जो तू युद्ध नहीं करेगा तो तेरे यश और कीर्ति तथा तेरे धर्मका नाश होजाएगा।

पर अर्जुन केवल संसारियोंके कल्याण निमित्त अपनेको अज्ञानी वनाए हुए " युद्धको छोड भागजाना " अपनी भ्रमात्मक बुद्धि प्रगट करता रहा ।

अर्जुनके इस भ्रमको दूर करनेके लिये और यथार्थ तत्त्व समझानेके लिये श्री कृष्ण भगवान कहते हैं, कि [* **सुखदु:खे समे· कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ**] हे अर्जुन ! सुख और दु:ख तथा इन दोनोंकी प्राप्तिका कारण जो लाभ और अलाभ, तिस लाभ और अलाभका कारण जो जय और पराजय, इनको समान करले ! तात्पर्य यह है, कि जब युद्धमें जय होगा तो राज्य लाभ होगा और उस राज्यके लाभसे सुख होगा इसी प्रकार अजय होगा तो उस अजयके कारण राज्य छिनजानेसे दु:खकी प्राप्ति होगी, इन दोनोंमें, जबतक तेरी राग और द्वेषकी कामना बनी है तब तक जो तू युद्ध करेगा तो तू इन गुरु और ब्राह्मणोंको मारनेके पापका अवश्य भागी होगा और जो तू इस युद्धको अपना धर्म जानकर निष्काम होकर करेगा तो तुझे पापका लेशमात्रभी न लगेगा । इसी लिये तू सुख, दु:ख, लाभ, अलाभ, जय और अजयकी कामना छोड [**ततोयुद्धाय युज्यस्व**] युद्धके लिये उद्यत होजा। मैंनेजो तुझको युद्धका फल पहले यों कहसुनाया है, कि "**हतोवा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्**" यह फल आनुषंगिक है । आनुषंगिक फल उसे कहते हैं जो प्रधान फलके साथ-साथ लगा हो, अर्थात् एक आध गौणफल प्रधानके साथ बिना बोलाये

* सुख दु:खके विषय इसी अध्यायके श्लोक ५६ में स्पष्ट रूपसे वर्णन है देखलेना।

आजावे, जैसे "--आपस्तम्ब:--"तद्यथाम्रे फलार्थे निर्मितेच्छाया गन्ध इत्यनुपद्यते एवं धर्म्मचर्य्यमानमर्था: अनूत्पद्यन्ते न धर्म्महानिर्भवति " इत्याम्रदर्शनेन प्रतिपादयति " अर्थात् जैसे कोई प्राणी आमृवृक्षकी इच्छासे आमके वृक्षके नीचे पहुंचा तो आमके फलका प्राप्त होना प्रधान फल है, पर फोकटमें जो उसको वृक्षकी छायाकी ठण्डकसे उसके घर्म (पसीना) की निवृत्ति होगयी और सुन्दर सुगन्धका भी लाभ होगया। येही आनुषंगिक फल कहे जाते हैं। इसी प्रकार धर्म करनेमें जो अर्थकी प्राप्ति होजाती है वह आनुषंगिक है। उससे धर्म जो प्रधान फल है तिसकी हानि नहीं होती। षट्रस भोजन से क्षुधाकी निवृत्ति प्रधान फल है और जिह्वा स्वादका लाभ होना आनुषंगिक फल है। मनुष्योंके विवाह संस्कारका प्रधान फल पितरों के पिण्डके लिये पुत्रका प्राप्त होनाहै और मध्यमें कामसुखका लाभ होना आनुषंगिक फल है। इसी प्रकार इस युद्धका प्रधान फल केवल धर्म्म है और राज्य इत्यादि का लाभ होना आनुंषगिक फल है। सो हे अर्जुन! तू निश्चय कर जान! कि तू केवल अपना धर्म जानकर युद्ध कर! राज्य-सुख इत्यादि की परवा मतकरे [नैवं पापमवाप्स्यसि] ऐसा करनेमे तुझको पाप नहीं लगेगा।

अर्जुनने जो पहले यह कहा था, कि "पापमेवाश्रयेदस्मान् " युद्ध करनेसे हम लोगोंको पाप ही लगेगा। श्यामसुन्दरने इसका खण्डन इस श्लोक से किया और समझा दिया, कि धर्म जानकर युद्ध कर! फलकी कामना मतकर! दुख, सुख, लाभ, अलाभ, जय और अजयको समान जान! मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो लोग सुख

दुःख, लाभ, अलाभ और जय अजयको एक समान जान केवल धर्म समझकर कार्य्य करते हैं वेही सब पापों से मुक्त होजाते हैं । उनहीं को उनका संसाररूप महाभारत दुखदायी नहीं है ॥

प्रिय पाठको ! श्यामसुन्दरने तो अर्जुनके प्रति करुणाकी दृष्टि से अवलोकन करे बडी शीघ्रतासे कहदिया, कि सुख-दुःख लाभ-अलाभ इत्यादिकोंको एकसमान समझ ! परे विचारकी दृष्टिसे तो देखिये, किइस प्रकार इन द्वन्द्वोंको समझना क्या किसी सामान्य पुरुषका काम है ? कदापि नहीं । जबतक अनेक जन्मोंके शुभ संस्कार का उदय न हो, सत्पुरुषोंका संग न हो, अनेक शास्त्रोंका अवलोकन न हो और गुरुजनोंका उपदेश न हो, तब तक इस समता रूप ज्ञानके अमूल्य अंगका साधन दुर्लभ है । कहनेमें तो सहज है, पर करनेमें अत्यन्त कठिन है । सहस्रोंमें किसी भाग्यवान् पुरुषको यह समरूप रत्न हाथ लगता है । विचारिये तो रही आज देवदत्तके पुत्रका विवाह हुआ है और कल वह पुत्र कालके गालमें पहुंचता है । तो क्या देवदत्तके चित्तकी वृत्ति दोनों दशामें एक समान रहेगी ? कदापि नहीं । कैसा भी बज्र हृदयका मनुष्य होगा पुत्रवियोगके दुःखसे अवश्य व्याकुल होजावेगा । उसकी बृत्ति कदापि वैसी हर्षित नहीं रहेगी जैसी विवाहके दिन थी । इसी प्रकार कल्ह जो दरिद्र था आज करोडपति होजावे तो क्या जो दुःख उसे दरिद्रताके समय अनुभव होता था एकबारगी भूल-न जावेगा ? अवश्य भूलकर मूछोंको मरोडता हुआ कह पडेगा, कि "मदग्रे कोऽपि नास्ति" मेरे सामने कोई दूसरा नहीं है जो मेरा सामना करसके ।

इन दोनों दशाओंके एक समान करनेकी आज्ञा जो श्री महाराज देरहे हैं, मानो ज्ञानके कपाटके ताला खोलनेकी प्रथम और सबसे श्रेष्ठ कुंचिका (कुंजी) है, जिसे यह तत्त्व लाभ होता है उसको अन्तः-करणकी शुद्धिसे ही उपासना और उपासनासे ज्ञानका अधिकार प्राप्त होता है - इस कर्मयोगके अधिकारी होनेका भी प्रथम उपाय यही दुख सुख इत्यादिकी समताका साधन है, जिससे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होती है ॥ ३८ ॥

अब भगवान् अर्जुनके तथा सम्पूर्ण विश्वके जीवोंके कल्याण निमित्त अगले श्लोकसे कर्मयोगका उपदेश आरम्भ करते हैं—

मू०— एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि
॥ ३९ ॥

पदच्छेदः— पार्थ ! (हे पृथापुत्र!) ते (तुभ्यम्) एषा पूर्वोक्ता) बुद्धिः (संसारनिवर्तकं ज्ञानम् । साक्षाच्छोकमोहादिसहेतु दोषनिवृत्तिकारणं ज्ञानम्) सांख्ये (ज्ञानयोगे । ब्रह्मणिविषये । विहित औपनिषदे । परमार्थवस्तुविवेकविषये ।) अभिहिता (उक्ता) [तद नन्तरम्] तु योगे (अन्तःकरणशुद्धिद्वारा आत्मतत्त्वप्रकाशार्थं कर्मयोगे । निःसंगतया द्वन्द्वप्रहाण-पूर्वकं ईश्वराराधनार्थे कर्मानुष्ठाने । समाधियोगे ।) इमाम् (अनन्तरोच्यमानम्) [कर्मयोग बुद्धिम्] शृणु (श्रयताम्) यया (योगविषया) बुद्ध्या (ज्ञानेन) युक्तः (अन्वि-

तः । सम्लितः) कर्मबन्धम् (धर्माख्यं संसारबन्धम् । कर्मनिमित्तं बन्धमाशया शुद्धिलक्षणं ज्ञानप्रतिबन्धम् । जन्ममरणबन्धम्) प्रहास्यसि (प्रकर्षेण त्यक्ष्यसि ।) ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(पार्थ !) हे पृथाका प्रिय पुत्र ! (ते) तेरेलिये (एषा) यह (बुद्धिः) जो यहां तक कही गई है वह (सांख्ये) ज्ञानयोग अर्थात् आत्मज्ञानको जाननेवाली (अभिहिता) मेरेद्वारा कथन कीगयी है । (तु) तो अब तू निश्चय करके (योगे) कर्मयोग की बतानेवाली (इमाम्) इस बुद्धिको (शृणु) सुन ! (यया) जिस कर्मयोगकी (बुद्ध्या) बुद्धिसे (युक्तः) युक्त होकर तू (कर्म बन्धम्) सर्व प्रकारके कर्मबन्धनोंको विशेष कर जन्म-मरण रूप संसार-बन्धनको (प्रहास्यसि) छोडदेगा । अभिप्राय यह है, कि कर्म-बन्धनसे मुक्त हो परम-तत्त्वको प्राप्त होजावेगा ॥ ३९ ॥

भावार्थः—यहांतक अर्जुनके तथा सम्पूर्ण पृथ्वी-मण्डलके मनुष्यों के विषाद दूर करनेके निमित्त श्री आनन्दकन्द बृजचन्द अर्जुनके प्रति सांख्य अर्थात् आत्मज्ञानका उपदेश आरम्भ करते हैं-- इसी कारण कहते हैं, कि [एषातेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमांशृणु] हे अर्जुन ! यह जो मैंने तुझे तेरा शोक निवृत्ति करनेके तात्पर्य्यसे उपदेश किया है वह मैंने केवल सांख्य-योगका तत्त्व लेकर उपदेश किया अर्थात् आत्मज्ञानकी प्राप्तिद्वारा प्राणी कैसे संसार मोहसे तरता है ? उसी बुद्धिको दिखलादी, अर्थात् आत्मज्ञानकी बुद्धि दिखलायी ।

भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि “ अशोच्या-

नन्वशोचस्त्वम " से " देही नित्यमवध्योऽयं " तक अर्थात् इस अध्यायके श्लोक ११ से ३० तक २० श्लोकोंमें जो कुछ कथन किया वह सांख्य * अर्थात् आत्मज्ञानके विषय कथन किया । अब कर्म-योग कथन करेंगे । इतना कहनेसे पाठकोंको ऐसी शंका उत्पन्न न होजावे, कि इनकी बीस श्लोकोंमें भगवानने ज्ञानकी समाप्ति करदी । ऐसा नहीं । क्योंकि इस गीता शास्त्रके छो अध्यायोंमें (१३.से १८ तक)केवल ज्ञानही ज्ञान उपदेश करेंगे । इधर जो भगवानने २० श्लोक कहे उनके द्वारा केवल आत्मज्ञानका दिग्दर्शन मात्र कराया, अर्थात् जैसे कोई कलकत्तेका जानेवाला प्राणी पटना स्टेशनपरे जब प्लेटफार्मके ऊपर आता है तब वह पहले कलकत्ते की ओर की लाइन और सिगनल इत्यादि को देखता है: अर्थात् जिधर उसको जाना है उसी ओर थोडी देर तक अवलोकन करता है और अपने संगियों को भी उसी ओरकी लाइनको बताता है, कि इधर जाना है । बस ! पश्चात् पीछेकी ओर जिधर से गाडी आवेगी देखता है । जब तक गाडी स्टेशन परे पहुंचती है तबतक उसी ओर देखता रेहता है, फिरे

* सांख्य— सम्यक् ख्यायते सर्वोपाधिशून्यतया प्रतिपाद्यते परमात्मतत्त्वमनयेति सांख्योपनिषन्यैव तात्पर्य्य परिसमाप्त्या प्रतिपाद्यते यः स सांख्य औपनिषद पुरुष इत्यर्थ ।

अर्थ-- जिनके द्वारा सर्वोपाधि शून्य परब्रह्म परमेश्वर परमात्म-तत्त्वका ख्यात कियाजावे अर्थात् प्रतिपादन कियाजावे उसे सांख्य अर्थात् उपनिषद् कहते हैं । तिसके तात्पर्य्यकी समाप्ति द्वारा जो प्रतिपादन कियाजाता है वही सांख्य है तथा उसीको उपनिषद्-पुरुष भी कहते हैं ।

गाडी पहुंच जानेके पश्चात् उस गाडी पर चढकर कलकत्तेके स्टे-शन पर जब पहुंच जाता है तब गाडीको छोड देता है और कल-कत्ता नगरकी शोभा देखता हुआ अपने विश्राम-स्थान तक पहुंच जाता है। इसीप्रकार कर्म और ज्ञानके दोनो लाइनोंको समझना चाहिये।

प्राणीको ज्ञान-रूप कलकत्ते तक पहुंचना है। इसलिये पहले ज्ञानकी ओर भगवान्ने २० श्लोकोंमें केवल दिग्दर्शन मात्र कर-वादिया है। इस कारण अब कर्मयोग-रूप पीछेवाली गाडीको, जिसके द्वारा सहस्रों यात्री ज्ञानतक पहुंचे हैं और पहुंचेगे, दिखलाते हैं; अर्थात् यहांसे कर्म-योगका वर्णन करना आरंभ करते हैं। जिसे छठवें अध्याय तक समाप्त करेंगे।

इसी कारण भगवान कहते हैं, कि अबतक हे अर्जुन! आत्म-ज्ञानका दिग्दर्शन करायागया अब तू कर्म-योग वाली बुद्धिको श्रवण कर! [बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि] जिस बुद्धिसे तू युक्त होकर कर्मबंधनको त्यागेगा अर्थात् जिस कर्मकाण्डके भेद और यथार्थ मर्मोंको जानकर तू कर्मबन्धनसे छूटनेका अधिकारी होजावेगा।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि अब भगवान कर्मयोगके अनुष्ठान से अन्तःकरणकी शुद्धि बताते हुए ज्ञानका अधिकारी बनाते हैं। यह जीव् कबतक कर्म करनेका अधिकारी रहता है? सो श्रुति कहती है-

ॐ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः एवं त्वयि नान्यथे

तोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ (ईश० श्र० २)

अर्थ—हे जीव ! यदि तुझको १०० वर्ष जीवनेकी इच्छा है तो तू कर्मोंको सम्पादन करता रह ! क्योंकि इससे इतर कोई उपाय नहीं है, जिससे [न कर्म लिप्यते नरे] कर्मोंका फल मनुष्योंमें नहीं लिपटता, कर्मबन्धन छूटजाता है ।

शंका— जिन कर्म्मोंके बन्धन छूटनेसे प्राणी शुद्ध आत्मज्ञान लाभ करता है उनहीं कर्म्मोंके करनेकी आज्ञा श्री कृष्णभगवान् क्यों देते हैं ?

समाधान—अग्निहोत्र, संध्या, यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, इत्यादि कर्म केवल अन्तःकरणकी शुद्धि निमित्त है और अन्तःकरण की शुद्धि ज्ञानके अधिकारके निमित्त है। ज्ञान उत्पन्न होनेसे भगवत् स्वरूपका साक्षात्कार होता है । भगवत्-स्वरूपके साक्षात्कार होनेसे प्राणीको किसी प्रकारके साधनकी आवश्यकता नहीं रहती । इसलिये मलीन अन्तःकरण वालोंके लिये कर्म ही का साधन योग्य है, पर इस में काम्यकर्म बन्धनके कारण होते हैं और निष्काम-कर्म बन्धनोंसे छुडा देते हैं । इसलिये भगवान् आगे कहेंगे, कि " कर्मण्येवाधि कारस्ते माफलेषु कदाचन ।" हे अर्जुन ! कर्म करनेका ही अधि-कार तुझको है, पर उनके फलमें कभी भी तथा कुछभी तेरा अधिकार नहीं है अर्थात् कर्म कर! पर फलोंकी इच्छा मत रख! मैंने तुझको पहले सांख्य उपदेश किया, पर मैं देखता हूं, कि तेरी बुद्धि अभी तक सांख्य तत्त्वमें घुसी नहीं। इसलिये तेरी बुद्धि बिना साधनके सिद्धान्तको नहीं

पहुंचेगी, अतएव अब अपनी बुद्धि कर्मकी ओर लगाकर सुन ! क्योंकि जिस कर्म-बुद्धिमें युक्त होनेसे तू कर्म बन्धनसे छूटजावेगा, कर्म ही कर्मको छुडावेगा । जैसे लोहा लोहेको काटता है । कांटा कांटे को निकालता है । कर्म करने ही से कर्मकी समाप्ति होकर प्राणी निष्कर्म होजाता है । जैसे किसीने काशीसे प्रयागराज जानेकी इच्छासे चलनेका कर्म आरम्भ किया, जबतक वह प्रयाग नहीं पहुंचता है तब ही तक चलनेका कर्म उसके साथ लगा है, पर जिसी समय वह प्रयाग पहुंचगया चलनेका कर्म समाप्त होगया । अब वह निष्कर्म होगया । इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति निमित्त प्रथम कर्मकाण्डकी आवश्यकता है । जब कर्मकी सिद्धि प्राप्त होनी हैं तब मनुष्य कर्मबन्धनोंसे छूटजाता है । सो कर्म श्रौत और स्मार्तके भेद से नाना प्रकारके हैं, जिनका वर्णन आगे किया जावेगा। और यह भी दिखलाया जावेगा, कि "योगः कर्म्मसु कौशलम्" कर्ममें कुशलता अर्थात् निपुणता वा पूर्ण चातुर्य्यताको ही "योग" कहते हैं । अथवा यों कहलीजिये, कि कर्ममें जो फलोंके द्वारा बांधलेनेकी एक विशेष शक्ति है उसे तोडदेनेकी युक्तिको योग कहते हैं । एवम प्रकार कर्मोंमें कुशलता, निपुणता और चातुर्य्यताके लिये बुद्धि ही की आवश्यकता है । इसी लिये गोविन्दने इस श्लोकमें बुद्धि-शब्द का प्रयोग किया है । क्योंकि सुःख दुःख, लाभ, अलाभ इत्यादिमें बुद्धिकी समता होजानेसे कर्म करनेवालोंको किसी प्रकारके कर्मबन्धन में फंसना नहीं पडता ॥३९ ॥

अब श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे अर्जुन !

यदि तुझको यह शंका हो, कि " यदि तू कर्मयोगकी समाप्ति कर निष्कर्म न होसका तो कर्मोंके फल तुझे बन्धनमें डाल तेरी दुर्दशा करेंहींगे " तो सुन !

मू०—नेहाभिक्रमनाशोस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥
॥ ४० ॥

पदच्छेदः —इह (निष्कामकर्मयोगे । मोक्षमार्गे ।) अभिक्रमनाशः (प्रारम्भस्य नाशः । कर्म्मानुष्ठानारोहणस्य नाशः) न (नहि) अस्ति [तथा] प्रत्यवायः (अङ्गवैगुण्यम्) न (नैव) विद्यते (ज्ञायते ।) अस्य (प्रसिद्धस्य) धर्म्मस्य (कर्मयोगस्य ।) स्वल्पम् (किंचित् । अत्यल्पम् ।) अपि, महतः (अपरात् । विशालात् । भयात (जन्म-मरणादि लक्षणात् संसारभयात् ।) त्रायते (भगवत्प्रसादसम्पादनानुष्ठातारम् रक्षति ।) ॥ ४१ ॥

पदार्थः— हे अर्जुन ! (इह) इस योगके (अभिक्रमनाशः) अभिक्रम अर्थात् प्रारम्भका नाश (नास्ति) नहीं है और इसके सम्मुख जानेमें किसी प्रकारका (प्रत्यवायः) प्रत्यवाय (अपि) भी नहीं है क्योंकि (अस्यधर्मस्य) इस धर्म्मका (स्वल्पम्) थोडा

अभिक्रमः— प्रारम्भ । सम्मुखगमनम् । प्रारम्भे कर्म्मणां विप्र- पुण्डरीकं स्मरेद्धरिम् ।

अंश भी (महतः) बहुत बडे (भयात्) भयसे अर्थात् अधोगति से (त्रायते) रक्षा करलेता है ॥ ४० ॥

भावार्थः—श्यामसुन्दर अर्जुनसे कहरहे हैं, कि यदि तुझको यह शंका हो, कि कर्म्म आरम्भ करूं और उसकी समाप्ति न होसकी तो अधोगति होगी । तो हे अर्जुन ! तू मेरी बातपर ध्यान दे ! [नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते] इस कर्मयोगके अभिक्रम अर्थात आरम्भ मात्रकी भी हानि नहीं है और न इसमें किसी प्रकारका प्रत्यवाय है । क्योंकि इसका आरम्भ मात्र भी मंगलदायक है, जिसी दिनसे प्राणी कर्म आरम्भ करता है उसी क्षणसे उसपर चारों ओरसे मंगलकी वृष्टि होने लगती है और ब्रह्मज्ञान छिपकर उसे देखने लगता है, अर्थात दूरसे झांकने लगता है, कि मुझको इसके समीप जाना पडेगा । पर यहां भेद इतना है, कि यज्ञ, हवन, सन्ध्या इत्यादि कर्म यदि किसी कामनासे कियेजावें तो बन्धनके कारण हैं । बन्धन ही के नहीं वरु नास्तिक होजानेके भी कारण होते हैं । क्योंकि यदि कामनाकी पूर्ति होगयी तो मनुष्य उस कामनामें फँसकर ज्ञानसे वंचित रहा और यदि कर्मोंमें किसी प्रकारकी विगुणता होनेसे कामना की पूर्त्ति न हुई तो मनुष्य नास्तिक होजाता है । क्योंकि कर्म करने वालेके चित्तमें अविश्वासका अंकुर उदय होजाता है और वही अविश्वास नास्तिक होनेका कारण होता है । फिर नास्तिक बुद्धि होजानेसे प्राणी नाशको प्राप्त होता है ।

जो कर्म्म निष्काम होकर कियाजाता है वह कर्म नित्यकर्ममें गिनाजाता है और बन्धनका कारण नहीं होता । इसलिये हे अर्जुन! जो प्राणी

निःसंग होकर केवल ब्रह्मज्ञान तथा भगवत्प्रसाद वा भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति निमित्त कर्म करता है और उस कर्म करनेको अपना कायिक, वाचिक वा मानसिक धर्म्म समझता है वही श्रेष्ठ है । उसीके कर्मका प्रारम्भ मात्र भी मंगलदायक है तथा प्रारम्भ करनेके लिये जो इस कर्मयोगके सम्मुख भी जाता है उसे किसी प्रकारका प्रत्यवाय नहीं होता ।

यदि कहाजावे, कि ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति वा आत्मज्ञानकी प्राप्ति तथा भगवत्-स्वरूपकी प्राप्ति जो निष्काम कर्मसे होती हैं क्या ये कामना नहीं है? तो उत्तर इसका यों है, कि नहीं! ये कामना नहीं हैं। क्योंकि कामना उसे कहते हैं जो उपभोगसे शान्ति होजावे । किसी प्रकारकी कामना क्यों न हो जब तक उसका भोग नहीं होजाता है तबही तक उसकी इच्छा बनी रहती है । भोग प्राप्त होजानेके पीछे उस कामनाको कोई लौट कर भी नहीं देखता, वरु जो कामना किसी समय अत्यन्त रमणीय जान पडती थी वह भोग होते ही फीकी पडजाती है । पर भगवत् स्वरूपकी कामना इसलिये कामना नहीं कहीजावेगी, कि जितना ही इस कामनाका भोग होताजावे अर्थात् जितना ही भगवतस्वरूपकी प्राप्तिका आनन्द लाभ होताजावे उतनी ही श्रद्धा बढती जाती है । इसकी समाप्ति कभी भी नहीं होसकती ।

दूसरी बात यह है, कि कामना उसी बस्तुकी होती है, जो बस्तु प्राणीको पहलेसे प्राप्त नही है अर्थात इच्छा करनेवालेसे बहुत दूर है, नाना प्रकारके यत्न करनेसे जिसकी प्राप्ति होती है। पर ब्रह्मज्ञान, आत्म-ज्ञान तथा भगवत् स्वरूप तो अपने ही सर्वस्व हैं, अपने पुरातन धन हैं,

सदा अपने साथ-साथ हैं और सदाके संगी हैं, क्योंकि जीव और ईश्वर दोनों परस्परके सखा सदा एक साथ हैं। तहां श्रुतिका वचन है, कि " द्वासुपर्णा सयुजासखाया समानं वृत्तं परिषस्वजाते " (मुण्डकोपनिषद् प्रथम खण्ड श्रु० ४४) जिसका तात्पर्य्य यह है, कि जीव और ईश्वर दो सुन्दर पत्ती, जो परस्परके सखा है, एक समान वृत्त पर अर्थात् शरीर-रूप वृत्त पर आकरे मिलेहुए हैं । दोनोंमें सदाकी मित्रता है इसलिये दोनों अनादि कालसे एक साथ हैं और सदा साथ रहेंगे । इस श्रुतिके वचनसे सिद्ध होता है, कि जीव और ईश्वरकी मिताई नवीन नहीं है। इस कारण इस जीवको ईश्वर स्वरूपकी प्राप्ति की कामना तो कामना नहीं कही जासक्ती, केवल थोडी देरके लिये इस जीवके अन्तःकरण पर द्वन्द्वोके आवरण पडनेसे अपने सखाकी विस्मृति होगयी है, जो निष्काम-कर्मोंके द्वारा दूर होजाने से फिर इसे अपने सखाके स्वरूपका स्मरण होआता है । जैसे किसी प्राणीके गले में जो मोतीकी माला है वह उलटकर पीठकी ओर जालटके तो वह प्राणी आगे अपनी छातीकी ओर कुछ काल तक ढूंढना आरम्भ करेगा । इतनेमें किसीने कहदिया, कि क्या ढूंढरहे हो? तुम्हारे गले हीमें तो माला पडी हुई है। इतना सुनते ही उसने चारों ओरसे गला टटोलकर कहा, कि हां ! हां ! मेरे गलेमें ही तो है। यहां प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि मोतीकी मालाकी प्राप्तिकी कामना उस प्राणीको नहीं है केवल परोक्ष होगया है इसलिये थोडी देरके लिये वह घबराकर ढूंढने लगा है । इसी प्रकार यह जीव केवल प्राप्ति वस्तुके परोक्ष होजानेसे अप्राप्तिकी नाईं मृगकस्तूरिका न्यायसे अपने ही शरीरके गन्ध

को शरीरमें न ढूंढकर भूरीमें ढूंढरहा है। इसलिये निष्काम कर्मको थोडी देरके लिये साधन करनेकी आवश्यकता है, जिससे अपने सखाको यह प्राणी आप पहचानले।

इस निष्काम-कर्मयोगका परम विशाल महत्व यह है, कि [स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्] इस धर्म का अत्यन्त न्यून अंश भी बहुत विशाल भयसे अर्थात् नाना प्रकार की नीच योनियोंमें आने जानेसे रक्षा करता है। क्योंकि सकाम-कर्म के फल जो स्वर्गादि के भोग हैं ये भोग होजानेके पश्चात् नष्ट होजाते हैं, पर अन्तःकरणकी शुद्धि जो निष्काम-कर्मका फल है ब्रह्मतत्त्वके साक्षात कार होने तक बनीरहती है। जबतक तत्त्वका साक्षात्कार होकर अज्ञानकी निवृत्ति तथा परम पदकी प्राप्ति न होजावे तबतक अन्तः-करणकी शुद्धि कही नहीं जाती, ब्रह्म-तत्त्वको साक्षात्कार करही देती है। इसलिये कहते हैं, कि कर्मयोगका अंशमात्र भी संसार बन्धनसे रक्षा करता ही है। इसीसे गोविन्द कहते हैं, कि हे अर्जुन! तू अब योगकी बुद्धि सुन। अर्थात् उस कर्मको सुन जिसके करनेसे भगवत्-स्वरूपकी प्राप्ति होती है। जिसका लवलेश मात्र प्राणियोंको संसार-बन्धनके भयसे रक्षा करलेता है अर्थात् जिसे आरम्भ करही देनेसे कल्याण होता है और इसके सामने जानेसे किसी प्रकारका प्रत्यवायभी नहीं होता॥ ४०॥

इतना सुन अर्जुनने कहा— "भगवन्!" तुम्हारी आज्ञानुसार मैं कर्म करनेकी इच्छातो करता हूं पर शास्त्रोंके देखनेसे सहस्रों प्रकारके कर्म देखे जाते हैं जैसे यज्ञ, तप, जप, दान व्रत, तीर्थ, अहिंसा

सत्य, स्नेह, ब्रह्मचर्य्य इत्यादि। यह देखकर बुद्धि घबराती है, कि किसे करूं, किसे न करूं। इस कारण कृपाकर हे भक्तवत्सल! तुम यह बतादो, कि मैं क्या करूं? दूसरी बात यह है, कि तुम सांख्य और योग दोनों तत्त्वोंका उपदेश कररहे हो। इसलिये बुद्धि चंचल होरही है। इन दोनोंमें कौन विशेष है? इसका कुछ निश्चय न हुआ। तीसरी बात यह है, कि जो प्राणी कर्म में रुचि न रखता हो एकबारगी आत्मज्ञान ही की ओर श्रद्धा रखता हो, तो ऐसा प्राणी आत्मज्ञान लाभ कर सकता है वा नहीं?

इन प्रश्नोंके उत्तरमें भगवान् कहते हैं

मू०—व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्
॥ ४१ ॥

पदच्छेदः— कुरुनन्दन! (हे कुरुकुलानन्दवर्द्धन!) इह (श्रेयोमार्गे) व्यवसायात्मिका (निश्चयस्वभावा। तत्त्वनिश्चयात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिः। समस्तविपरीतबुद्धीनां बाधिका। अन्वयव्यतिरेकाख्येनानुमानेनागमेन च पदार्थपरिशोधन--परिनिष्पन्नाविवेकात्मिका। विधाविधानां समस्तवृत्त्यन्तरबाधेन सम्यगभ्युदिता) बुद्धिः (प्रज्ञा। मनीषा। मेधा) एका, हि, अव्यवसायिनाम् (अज्ञानिनाम्। वहिर्मुखानाम्) बुद्धयः (मतयः। मेधाः) बहुशाखाः (बहवोऽनुपरत संसारप्रदाः शाखा यासां ताः।) च (तथा) अनन्ताः

(कामानामनन्त्यादसंख्याः ।) ॥ ४१ ॥

पदार्थः—हे (कुरुनन्दन) हे कुरुकुलका आनन्द बढानेवाला अर्जुन ! (इह) इस कर्मयोगके करनेमें (व्यवसायात्मिका) निश्चयात्मिका (बुद्धिः) बुद्धि (एका) एक ही होती है और (अव्यवसायिनाम्) नाना प्रकारकी कामनाओंके कारण अज्ञानियों तथा चंचल व्यवहार वालोंकी (बुद्धयः) बुद्धियां (बहुशाखाः) बहुत शाखावाली तथा (अनन्ताः) अनगिनत होती हैं, वे एक ठिकाने स्थिर होकर नहीं ठहरतीं ॥ ४१ ॥

भावार्थः— श्री कमलनयन कमलापति श्रीकृष्णचन्द्रके मुखारविन्दसे सांख्य और कर्म दोनोंका वर्णन सुनकर जो अर्जुनने पूछा है, कि भगवन् ! इन दोनों अपने कथन कियेहुए तत्त्वोंमें तुमने किसी की विशेषता नहीं वर्णन की, इससे मेरी बुद्धि चंचल होरही है, कि किस ओर जाउं ? यदि मैं कर्मयोगकी ओर अपनी बुद्धि लगाऊं तो एकप्रकारकी चंचलता प्राप्ति होती है ! क्योंकि कर्मशास्त्र में भी अनेक ऋषि महर्षियोंके विचारानुसार सहस्त्रों प्रकार के भेद देखेजाते हैं । प्रत्येक कर्मके निश्चय करनेवाले अपने अपने कर्मकी बहुत बडी स्तुति करते हैं और श्रेष्ठता बताते हैं।

कोई दर्श पौर्णमासादि कर्मोंको श्रेष्ठ कहता हे, कोई अग्निष्टोम, अश्वमेधादि यज्ञोंकी श्रेष्ठता कथन करता है। कोई कृच्छ्र, चांद्रायण, मौन इत्यादि तपके अंगोंको श्रेष्ठ बतलाताहै। कोई ॐकार इत्यादि प्रणवों के जप को श्रेष्ठ जनाता है । कोई वेदाध्ययनको ही सर्वोत्तम कहता है । कोई सत्य, कोई असत्य, कोई अहिंसा, कोई ब्रह्मचर्य्यके

ही महत्त्वोंका वर्णन करता है । कोई वापी, कूप, तडाग, वाटिका, देवालय तथा अन्नदानादि पूर्त्तकर्मोंको उत्तम बताता है । कोई तीर्थ, कोई व्रतको ही मानता है । सो हे भगवन्! ऐसे ऐसे अनगिन्त कर्मों को अपने सम्मुख देख मेरी बुद्धि चकरा रही है । इस कारण इस समय मेरे लिये जो कुछ कल्याण-कारक हो उसी एक कर्मका निश्चय कर उसके अनुष्ठान करनेकी आज्ञा करो !

अर्जुनके मुखसे इतना सुन वा उसके मनकी बात जान, श्रीआनन्दकन्द कहते हैं, कि [**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !**] हे कुरुकुलके आनन्द तथा गौरवका बढानेवाला अर्जुन! इस कर्मके साधन करनेके लिये अर्थात् कर्मयोगके अनुष्ठान करनेके लिये जो निश्चयात्मिका बुद्धि है वह एकही होती है । भगवान्के कहनेका तात्पर्य यह है, कि "**तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्**" इस भगवान्के वचनानुसार प्राणीकी बुद्धि पूर्व जन्ममें जहां तक सांख्य वा कर्मयोगके विचारमें पहुंची रहती हैं अगले जन्ममें उसकी बुद्धि उसी ओर रहती है । अर्थात पूर्वजन्मार्जित साधन किये हुए कर्मोंकी ओर झुकती है । तहां उसीके साधन द्वारा वह ईश्वर तक पहुंचनेका अधिकारी होता है । इसलिये उसकी जो निश्चयात्मिका बुद्धि है अर्थात् तत्त्वके निश्चय करलेने वाली जो अन्तःकरण की वृत्ति हैं उसके ध्यानसे सम्पूर्ण विपरीत बुद्धियोंको दूर भगा देती है। क्योंकि अन्वय व्यतिरेक सहित अनुमान तथा शब्द-प्रमाण द्वारा तत्त्वोंको संशोधन कर ब्रह्मज्ञानको जनानेवाली जो विवेकात्मिका बुद्धि है सो एकही होती है। अर्थात् निष्काम कर्मोंके साधन द्वारा जिसके

अन्तःकरणसे मल, विक्षेप और आवरण दूर होजाते हैं उसीकी बुद्धि निश्चयात्मिका होकर एक होजाती है और एक किसी विशेष कर्मकी ओर अपनी निष्ठा बांधलेती है। कर्म कैसा भी क्यों न हो? यदि उसमें पूर्ण निष्ठा बांधलीजावे तो प्राणी उस पूर्ण परमतत्त्वको पहुंच भगवत् चरणारविंदोंमें लीन होसकता है। इसी कारण भगवान् अर्जुनको कहते हैं, कि निश्चयात्मिका बुद्धि एकही है। चाहे कर्म कोई भी क्यों न हो? इसी लिये आगे चौथे अध्यायमें नाना प्रकारके यज्ञोंका अर्थात् कर्मोंका वर्णन करेंगे। तहां अपनी-अपनी रुचि अनुसार एक किसी कर्मकी निष्ठामें किसी व्यक्तिकी निश्चयात्मिका-बुद्धि होनी चाहिये।

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! तेरा अधिकार कर्मयोगमें है। इसलिये तू कर्मयोगमें तत्पर होजा! अर्थात् निष्काम कर्मोंका सम्पादन कर! तू अपनी रुचि अनुसार किसी भी कर्ममें अपनी निष्ठा कर ले! पर वर्णाश्रम-धर्म्म तो पहलेसे ही शास्त्रों द्वारा निर्णय कियेहुए है। इस कारण इस समय तू अपनी निश्चयात्मिका बुद्धि युद्ध-कर्म्ममें लगादे! फिर इसके सम्पादनके पश्चात् युद्ध समाप्त होते ही मेरे कथन कियेहुए नाना प्रकारके कर्मोंमें जिस कर्म पर तेरी रुचि होगी तहां तू निष्ठा लगाकर अपनी बुद्धिका संयोग करे डालना।

श्यामसुन्दर योगेश्वर भगवान् श्री कृष्णचन्द्रने अर्जुनको यहां कुरुनन्दन कहकर पुकारा! इसका तात्पर्य्य यह है, कि 'कुरु' अर्जुन के पूर्वज हैं। स्वायम्भुव-मनुके परपौत्र प्रियवर्त्त महाराजके पौत्र और अग्निध्र-राजके पुत्र हैं। जिन्होंने कुरुदेशमें राजशासन किया है।

सम्पूर्ण कुरुवर्ष जिनके अधिकारमें था। पाण्डु और धृतराष्ट्रके पूर्वज हैं, पर साधारण पुरुषोंके मुखसे पाण्डवों और कौरवोंकी लड़ाई महाभारत के नामसे पुकारी जाती है, इससे ऐसा नहीं समझना चाहियें, कि धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधन इत्यादि ही कौरव कहेजावें वरु दोनोंदल कौरव कहे जासकते हैं, पर दोनोंकी पहचानके निमित्त एक ओर कुरु के नामसे कौरब रखलिया है और दूसरी ओर पाण्डुके नामसे पाण्डव रखलिया है । दूसरी बात यह है, कि महाराज कुरु निष्कामकर्म्ममें बडे निपुण थे, अपनी आयुभरमें जो कुछ किया सब निष्कामकर्म ही का सम्पादन किया। इसलिये भगवान् "कुरुनन्दन" कहकर अर्जुनको स्मरण दिलाते हैं, कि हे अर्जुन ! देख तू कुरुमहाराजके वंशमें है । इसलिये निष्कामकर्म्म-योगका साधन करना तो तेरे वंशकी परिपाटी चली आरही है। अतएव तू अपनी बुद्धिको व्यवसा- यात्मिका बनाकर भगवत् स्वरूपकी प्राप्तिका निश्चयकर निष्काम-कर्म का आरंभ कर ! जैसे दीपकी ज्योति छोटीसे छोटी क्यों न हो वहुत दूर तक प्रकाश करती है और अंधेरे घरमें खोई-हुई वस्तुको दिखलादेती है, इसीप्रकार यह सद् बुद्धि संसारकी सकल कामनाओंको दूरकर केवल भगवत्-स्वरूपको दूरसे दिखला देती है। जैसे पारस-मणि का मिलना सहज नहीं है, किसी भाग्यवान पुरुषको ही लाभ होता है। ऐसे यह निश्चयात्मिका-बुद्धि किसी भाग्यवान्को ही लाभ होती है। जैसे गंगा बहते-बहते केवल समुद्रमें जामिलती है और कीसी नद वा नदीमें नहीं मिलती, इसी प्रकार निष्काम कर्म करनेवाले विवेकियोंकी बुद्धि निश्चयात्मिका होनेसे केवल भगवत्-स्वरूपमें जामिलती है।

पर इसके प्रतिकूल जो अज्ञानी हैं उनकी बुद्धिकी क्या दुर्दशा है! सो सुन! – [बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्] ऐसे अव्यवसायी मनुष्योंकी बुद्धियां बहुत शाखा वाली होती हैं और अनन्त होती हैं। जैसे बानरी एक शाखासे दूसरी शाखा पर दौडती फिरती है ऐसी ही इस अव्यवसायी पुरुषकी बुद्धि भी एक कर्मसे दूसरे कर्म तथा एक धर्मसे दूसरे धर्मको दौडती फिरती है। ऐसे निर्बुद्धियोंको भगवत्-स्वरूप वा आत्म-स्वरूप तो कदापि लाभ नहीं होता। स्वर्ग, संसार और नर्क यही तीनों क्रमशः लाभ होते रहते हैं। भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है कि कर्मोंके करने वाले इस संसारमें दो प्रकारके हैं- एक व्यवसायित्मका बुद्धि वाले और दूसरे अव्यवसायित्मका बुद्धिवाले, अर्थात् एक निश्चल अन्तःकरण वाले और दूसरे चंचल अन्तःकरण वाले। तहां जिन लोगोंकी कामनाओंकी निवृत्ति होगयी है, वे निश्चल बुद्धिवाले हैं क्योंकि सब कामनाओंके मिटतेही चित्त एकाग्र होजाता है। यदि चाहता है तो केवल एक ब्रह्मकोही चाहताहै सो ब्रह्म दोचार नहींहै एकही है इसलिये उनकी बुद्धिभी एक ही है और एकही ओर मुखकरती है। सर्वप्रकारके उपद्रवोंसे रहित होकर शान्तिको प्राप्त होतीहै। पर कामनाओंके अनेक होनेके कारण कामासक्त पुरुषोंकी बुद्धि बहुशाखावाली और अनन्तहोतीहै। क्योंकि संसारमें कामनाओंका कहीं भी अन्त नहींहै। एककी शान्तिके पश्चात् दूसरीकी उत्पत्ति होती चली जातीहै। जैसे किसी वृक्षके फूलको तोडते जाइये फिर उसमेंसे कलियां निकलतीही जावेंगी। इसीप्रकार कामनायें सदा मानुषी अन्तःकरणसे उत्पन्न होतीही चलीजाती हैं। इसीकारण कामना करनेवाले अर्थात् स-

काम कर्म करनेवाले निन्दितहैं और अव्यवसायी कहेजाते हैं ॥ ४१॥

इतनासुन अर्जुनने शंका की । भगवन् ! वेदोंमें भी तो सकाम कर्मोंको पुष्ट करनेवाले मंत्र हैं । जैसे " * पश्येमशरदः शतंजीवेम-शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम्" (शु० यजु० अ० ३६ मंत्र २४)

तब हे भगवन्! तुम सकामकर्म करनेवाले महात्माओंकी निन्दा कैसे करते हो ! इतना सुन भगवान् बोले-

मू०—यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताःपार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥४२॥
कामात्मानःस्वर्गपरा जन्मकर्म्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य्यगतिंप्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिकाबुद्धिःसमाधौ न विधीयते ॥४४॥

पदच्छेदः- पार्थ! (हे पृथाहृदयानन्दवर्द्धन!) अविपश्चितः (ज्ञानशून्यमूढाः । अल्पमेधसः । अविवेकिनः।) वेदवादरताः (बह्वर्थ-वादफलसाधनप्रकाशकेषु वेदवाक्येषु रताः ।) अन्यत् (अतःपरम् ईश्वरतत्त्वंप्राप्यं कर्म्मणोन्यत् आत्मज्ञानं तत्फलंमोक्षश्च । अन्यत् सुखप्राप्तिरुपायः ।) न (नैव) अस्ति (विद्यते) इति (अ-

* अर्थ- हे भगवन् । हमलोग सौ बरष तक देखें. सौ वरष तक जीवें और सौ वरष तक सुनें इत्यादि इत्यादि ।

नेनरूपेण) वादिनः (वदनशीलाः) कामात्मानः (कामपराः । कामाग्रस्तचित्ताः) स्वर्गपराः (सुरलोकसुखपरायणाः) जन्मकर्मफलप्रदाम् (जन्मरूपं यत्कर्मफलं तत्प्रदाम्। जन्मकर्मणां फलानि प्रददातीति ताम्) भोगैश्वर्य्यं गतिंप्रति (भोगैश्वर्य्ययोःयत्प्राप्तिः) क्रियाविशेषबहुलाम् (फललोभादत्यन्तायाससाध्येष्वपि कर्मसु बहुप्रयासकुर्वताम्) यम्, इमाम् (वक्ष्यमाणाम्) पुष्पिताम् (पुष्पितवृक्षमिव शोभमानाम् । पुष्पितद्रुमवत् रमणीयाम् ।) वाचम् (वचनम्) प्रवदन्ति (कथयन्ति ।) तया (क्रियाविशेषबहुलयावाचा । पुष्पितया वाचा वा) अपहृतचेतसाम् (आच्छादितविवेकप्रज्ञानाम् । आकृष्टमन्तःकरणं येषां तेषां पुंसाम् ।) भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानाम् (भोगैश्वर्य्ये लिप्तचित्तानाम् ।) समाधौ (समाध्यनुष्ठानकाले । समाध्यनुष्ठानार्थम् वा) व्यवसायात्मिका (ज्ञानात्मिका शुद्धचिन्मात्राकारा। निश्चयात्मिका) बुद्धिः (मेधा । प्रज्ञा ।) न (नैव) विधीयते (चिन्मात्राकारा भवति) ॥ ४२, ४३, ४४ ॥

पदार्थः— (पार्थ !) हे पृथाके हृदयका आनन्ददेनेवाला अर्जुन ! जोलोग (अविपश्चितः) पण्डित न होकर ज्ञानशून्य मूढ हैं इसकारण जो (वेदवादरताः) वेदके केवल अर्थवादहीमें रत रहते हैं और (इतिवादिनः) ऐसे कहाकरते हैं, कि इन अर्थवादोंको छोड (अन्यत्) दूसरोकोई उपाय सुखप्राप्तिका (न अस्ति) नहीं है इसीलिये (कामात्मानः) नानाप्रकारकी कामनाओंसे जिनका चित्त भराहुआहै तथा(स्वर्गपराः) स्वर्गके ही सुखको श्रेष्ट मानकर उसीकी प्राप्ति

करनेमें अपना सारा पुरुषार्थ लगादेतेहैं वे (जन्मकर्मफलप्रदाम्) जन्म और कर्मोंके फलकीदेनेवाली (भोगैश्वर्य्यगतिंप्रति) भोग और ऐश्वर्य्यकी प्राप्तिनिमित्त (क्रियाविशेषबहुलाम्) यज्ञ दान इत्यादि बहुतेरी क्रियाओंको करतेहुए जो (इमाम्) इस (पुष्पिताम्)पुष्पोंके समान वेदके रमणीय (वाचम्)वचनको अर्थात् अप्सरा इत्यादि के सुखको (प्रवदन्ति) बोलाकरतेहैं (तया) और उसी पुष्पित वचनसे (अपहृतचेतसाम्) जिनका चित्त हरा गया है ऐसे (भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानाम्) भोग और ऐश्वर्य्यसे लिप्तचित्तवालोंकी (समाधौ) समाधिसाधनमें (व्यवसायात्मिका) निश्चयात्मिका (बुद्धिः) बुद्धि (न विधीयते) नहीं होती,। अर्थात् ईश्वर-प्राप्तिकी ओर कभी नहीं जाती ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

भावार्थः—पूर्व श्लोकमें जो व्यवसायात्मिका और अव्यवसायात्मिका दोनों प्रकारकी बुद्धियोंका वर्णन योगेश्वर भगवानने किया, जिसे सुनकर अर्जुनको यह शंकाहुई, कि कामनाओंमें रत रहनेवाले पुरुषोंके स्वर्गादि सुखकी प्राप्ति निमित्त नाना प्रकारके जो सकाम कर्म हैं वेभी तो वेद ही द्वारा वर्णन कियेहुए हैं, फिर ऐसे कामात्मावाले पुरुषोंकी निन्दा क्यों? इसी शंकाके निवारणार्थ दोनो प्रकारकी बुद्धियोंमें अन्तर दिखानेके तात्पर्य्यसे श्री गोलोकविहारी जगतहितकारी कहतेहैं, कि हे पार्थ! [यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः] जो लोग अविपश्चित अर्थात् पूर्ण विद्वान न होनेके कारण विद्याका तत्त्व नही

अविपश्चितः—विपश्चित पण्डितको कहते है इस कारण नहीं है जो विपश्चित अर्थात् पण्डित उसे कहिये अविपश्चित ।

जानते और वेदोंका सार नहीं ग्रहण करते केवल उपर ही उपर वेदों के पुष्पित वचनकोही कथन कियाकरते हैं; वे केवल वेदके रमणीय बच-नोंमें ही फँसे रहते हैं, सारभागका साधन उनके चित्तमें नहीं प्रवेश करता जैसे किसी पुष्पके वृक्षमें पुष्पोंके खिलजानेसे वह वृक्ष सुन्दर सुहा-वना दीख पडता है। अथवा यों कहलो, कि जैसे नाना प्रकारके चित्र विचित्र रंगोंसे चित्रित नासिका सुखावह विविध प्रकारके गन्ध युक्त पुष्पोंके देखनेसे मनको प्रसन्नता प्राप्त होती है। इसी प्रकार वेदोंमें जो स्वर्गकी सुन्दर-सुन्दर अप्सराओंके साथ भोग विलासके सुख तथा बिमान इत्यादि चढनेके सुखोंके वर्णन हैं वे पुष्पित वाक्य कहे जाते हैं। क्योंकि ये वाक्य सामान्य मनुष्योंके चित्तको खींचलेते हैं। इसी कारण भगवानने इनको पुष्पित वाक्य कहा है। जो अत्यन्त सामान्य बुद्धिके मनुष्य हैं वे भगवत्प्राप्तिकी इच्छा न करके इन पुष्पित वचनोंसे मोहित हो स्वर्गादि सुखकी इच्छा किये रहते हैं। ऐसे लोग इन पुष्पित वाक्योंको कैसे कहा करते हैं? सो सुनो? [**वेदवादरताः पार्थ नान्यद-स्तीति वादिनः**] हे पार्थ! जो प्राणी सदा वेदके वादहीमें रत रहते हैं, वे मतवालोंके समान यों बका करते हैं, कि इन यज्ञ, हवन, दान इत्यादिको छोड और कोई दूसरा मार्ग सुख और आन-न्दकी प्राप्तिका नहीं है। इसी कारण वे [**कामात्मानः स्वर्ग पराः**] नाना प्रकारकी कामनाओंमें ही सदा लिपटेहुए हैं। अर्थात् क्षेत्रोंमें अन्नोंकी वृद्धिके लिये वृष्टिकी कामना तथा पुत्र; धन, सम्प-त्तिकी प्राप्तिद्वारा नानाप्रकारके भोगविलास इत्यादिकी कामनासे

स्वर्गपरायण हैं, भगवत परायण नहीं है; अर्थात् स्वर्गकी उर्वसी इत्यादि अप्सराओंके मुख देखनेकी लालसा, देवताओंका अधिकार और विभव पाकर नन्दनबनमें विहार करनेकी लालसा तथा अमृत पीनेकी लालसा जिनके हृदयमें वनी हैं, वेही प्राणी वेदके पुष्पित वाक्योंमें रत रहते हैं। भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! यदि तुझको यह शंका हो, कि ऐसे लोग केवल स्वर्गपरायण ही क्यों होते है भगवत्-परायण क्यों नहीं होते? तो उसका कारण यह है, कि [जन्मकर्मफलप्रदां क्रियाविशेषबहुलाम्] जन्म और कर्मके फल देनेवाली नाना प्रकारेकी क्रियाओंको ही ये मुख्य जानकर कियाकरते हैं, अर्थात बारम्वार अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णामास इत्यादि क्रियाओका साधन किया करते हैं। उनको परम तत्त्वकी प्राप्ति हो नहीं सकती। क्योंकि ऐसे करने वाले इन क्रियाओं के फलकी इच्छा करते हैं। इसलिये उन फलोंके भोगनेके लिये इन को बारम्बार स्वर्गमें जाना, फिर फल समाप्त होजाने पर संसारमें आ-जन्म लेना वना रहता है। इसलिये हे अर्जुन! ये लोग सब सकाम होनेके कारण स्वर्ग परायण होते हैं। इनसे कर्मका फल त्याग कर निष्काम होना बनता नहीं। यही विशेष कारण है, कि इनको भगवत्का स्वरूप अथवा ब्रह्मज्ञान वा आत्मज्ञान लाभ नहीं होता। क्योंकि [भोगैश्वर्यगतिं प्रति] इनकी क्रियाका फैलाव भोग और ऐश्वर्य्य हीमें अधिक है। इनको सचमुच अविपश्चित ही अर्थात बिचारहीन ही जानना चाहिये। क्योंकि आत्मसुख, ब्रह्मानन्द तथा

भगवत्-स्वरूपकी प्राप्तिके सुखका इनको विचार नहीं है । जैसे कोई कर्पूर अथवा किसी सुन्दर मौलसरी, चम्पा, चमेली इत्यादि पुष्पोंको एकत्र कर उनमें आग लगादे अथवा नाना प्रकारके पक्वान बनाकर उनको भस्म करदे अथवा किसी को अमृत भराहुआ कटोरा पीनेको मिले उसे मुहके समीप लेजाकर उलट देवे अथवा जैसे कोई बहु-मूल्य हीरे रत्नजडित स्वर्णके घरको बना कर उसमें मल-मूत्र करदेवे ऐसे ये कर्म-फलके चाहनेवाले मूर्ख इतने वडे वेदविहित कर्मोंको कर स्वर्गादि भोगोंकी कामनाद्वारा सबमें आग लगा देते हैं । प्रमाण— श्रु० असूर्या नाम ते लोका अंधेन तमसावृता । तांस्ते-प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनोजनाः ॥ (यजुर्वेद अध्याय ४० मंत्र ३) " अर्थ— जोलोग आत्म हत्यारे हैं, कर्मोंका फल न त्यागकर निष्काम न होकर आत्मज्ञानको नहीं चाहते, वे स्वर्ग सुख भोगनेके पीछे " अन्धेनतमसावृताः " महाघोर जो अविद्या तिससे लिपटेहुए नानाप्रकारके जन्मरूप निन्दित लोकोंको प्राप्त होते हैं । जैसे वानर बिलमें रखेहुए अन्नको अपने हाथसे पकड कर अपनी मूठी बांध आप फंस जाता है और वानर पकडने वाले नटकी छडियोंकी मार सहता है, पर अपने हाथसे अन्नको नहीं छोडता है। इसी प्रकार ये मूर्ख कर्मके फलोंको न छोडदेनेसे वार-वार जन्म कर्ममें फंसे रहते हैं और संसार दुःख सहते रहते हैं। एवमप्रकार [भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम्] भोग और ऐश्वर्य्य में आसक्त होनेके कारण मोहित होकर छिन गया है चित्त जिनका उनको चाहे कितना

भी समझाओ पर ये अपना हठ नहीं छोडते। इसी कारण [व्यवसायात्मिकाबुद्धिः समाधौ न विधियते] उनकी व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधिके योग्य नहीं होती। अर्थात् भगवत्स्वरूपमें मग्न होनेके योग्य नहीं होती। कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि आत्मज्ञान नहीं प्राप्त होनेसे वे शोक मोह में फंसे रहते हैं। क्योंकि जो भोग और ऐश्वर्य्य उनको प्राप्त होते हैं वे सदा स्थिर रहने वाले नहीं, किसी न किसी दिन हाथसे निकल जाते हैं। जब निकल गये अर्थात् स्वर्गसे पतन हुए अथवा शत्रु ने आक्रमण कर राज्य छीन-लिया तो मारे शोकके और मोहके जरजरीभूत होजाते हैं। इस लिये हे अर्जुन ! मैं इनको अविपश्चित कहता हूं। ये अपने मनसे अपनेको विद्वान समझकर दूसरोंको भी अपने साथ अंधेलेमें लेचलते हैं। प्रमाण श्रु० "ॐ अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पंडितं मन्यमानाः॥ दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथा अन्धाः" (मुण्ड० १ खंड २ श्रु० ८) अर्थ- ये मूर्ख अविद्या के भीतर अर्थात् मायामें बर्तमान रहने वाले, अपनेको बहुत महान और पण्डित माननेवाले, अनेक प्रकारकी कुटिल गतिको प्राप्त होने वाले संसार दुःख में जा पडते हैं। जैसे कोई अन्धा अन्धों को अपने पीछे लेचले ऐसे ये मूर्ख आप भी दुर्दशाको प्राप्त होते हैं और अपने पीछे चलने वालोंकी भी दुर्गति करवाते हैं। सो हे अर्जुन ! तुम निष्काम होकर राज-पाटके सुखको परित्याग कर युद्ध करो ! क्योंकि तुम्हारे ऐसे विद्वानको आत्मज्ञानी होना चाहिये। जब तुम इस आत्मा को पूर्ण प्रकार जानोगे तो तुमको शोक मोह

कुछ भी न व्यापेगा। क्योंकि वेद कहता है " यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्रको मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः (यजु०अ०४०मं०७) जब प्राणी सर्वत्र सब भूतोंमें आत्माही आत्मा जानकर एकत्वको प्राप्त होता है अर्थात् सर्वत्र आत्मा एक है, ऐसा देखता है तब उसको क्या शोक वा क्या मोह है ? कुछ भी नहीं। वह तो संसार-बन्धनसे छूटकर व्यवसायात्मिका बुद्धिसे समाधिको प्राप्त होता है अर्थात भगवत स्वरूपको पाजाता है ॥४२॥ ॥४३॥ ॥४४ ॥

शंका-- विद्वानोंके वा कर्मकाण्डियोंके चित्तमें यदि यह शंका उत्पन्न हो, कि वेदोंमें तो जितने कर्म हैं अधिकांश सकाम देखे जाते हैं। जैसे वही वेद एक स्थानमें कहता है, कि सुमित्रिया न आप औषधय स्सन्तु दुर्मित्रियातस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यंचवयं-द्विष्मः " (शु० यजु अ० ३८, मंत्र २३) अर्थात जो जल और भिन्न-भिन्न औषधियां इस हमारे यज्ञमें लायी गयी हैं सब हमारे श्रेष्ठ मित्र होवें और जो लोग हमसे शत्रुता करते हैं अथवा जिनके साथ हमलोग द्वेष करते हैं इन दोनों प्रकारके शत्रुओंके लिये ये जल और औषधियां शत्रुरूप होकर उनको हानि पहुंचावे। फिर वही वेद कहता है, कि "तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत पश्येम शरदः-शतम् जीवेम शरदः शतं॥०० (शु० यजु० अ० ३६ मंत्र २४) अर्थ—परमेश्वरके चक्षुरूप सब देवताओंके हित करनेवाले जो सूर्य्यदेव हैं वे हम लोगोंको कृपा कर ऐसा करदेवें, कि हम लोग सौ बरस तक देखें, सौ बरस तक जीवें, इत्यादि।

इन दोनों प्रकारके सकाम मंत्रोंको तो वेदही कहता है फिर इन कर्मोंका तिरस्कार करनेसे हमलोग नास्तिक क्यों नहीं कहेजावेंगे?

इसी शंकाके निवार्णार्थ भगवान् कहते है, कि—

मू०—त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥
॥ ४५ ॥

पदच्छेदः— अर्जुन ! (हे धनञ्जय !) वेदाः (ऋक्, यजुः सामादयः) त्रैगुण्यविषयाः (गुणत्रयकार्यमूर्ध्वमध्याधोगतिरूपं संसरणं तदेव प्रकाश्यत्वेन विषयो येषां तादृशाः कर्मकाण्डात्मकाः) [सन्ति] [तस्मात्त्वम्] निस्त्रैगुण्यः (त्रिगुणातीतः । निष्कामः । ऊर्ध्वगतावपि विरक्तः ।) निर्द्वन्द्वः (सुखदुःखहेतूसप्रतिपक्षौ पदार्थौ ततोनिर्गतः । शीतोष्णादि द्वन्द्व सहिष्णुः निर्गतानि सुखदुःखादीनि यस्य सः) नित्यसत्त्वस्थः (सर्वदा सत्त्वे धैर्य्ये स्थितिर्यस्य सः । नित्यसत्त्वे शुद्ध ब्रह्मणि स्थितिर्यस्य सः) निर्योगक्षेमः (अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगः, प्राप्तसंरक्षणंक्षेमः ततोऽपिनिर्गतः ।) [तथा] आत्मवान् (अप्रमत्तः। जितचित्तः । निश्चिन्तः ।) भव ! ॥ ४५ ॥

पदार्थः— (वेदाः) यह जो ऋक्, यजुः, सामादि वेद हैं ये (त्रैगुण्यविषयाः) त्रैगुण्य विषयी हैं अर्थात् सत्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी तीनों प्रकारके मनुष्योंके सांसारिक विषयोंके सिद्ध करनेवाले कर्मोंको जनानेवाले हैं। इसलिये (अर्जुन !) हे अर्जुन ! तू (निस्त्रैगु-

गुण्यः) तीनों गुणोंसे रहित (भव) होजा । ऐसे रहित होकर (निर्द्वन्द्वः) सांसारिक दुःख सुखादिसे विलग (नित्यसत्त्वस्थः) सदा सत्त्व जो ब्रह्म तिसमें स्थित (निर्योगक्षेमः) योग क्षेमकी चिन्तासे रहित अर्थात् अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिको योग और प्राप्त वस्तुकी रक्षा करनेको क्षेम कहते हैं सो तू इन दोनोंका कुछ भी परवाह न कर ! तथा (×आत्मवान्) अप्रमत्त और जित-चित्त होरह ! अर्थात् जैसे संसारी जीव संसारी कामनाओंमें फंसकरे मतवाले और अपने आत्मा की सुधि भूल जाते हैं ऐसे मत हो ! ॥ ४५ ॥

भावार्थः—पूर्वमें जो ये शंकायें हुई हैं, कि वेद वाक्योंका तिरस्कार कैसे कियाजावे ? तथा व्यवसायात्मिका बुद्धिकी प्राप्ति कैसे हो ? इनके उत्तरमें योगेश्वर भगवान कहते हैं कि **[त्रैगुण्यविषया-वेदा निस्त्रैगुण्योभवार्जुन !]** हे अर्जुन ! ये जो चारों वेद हैं वे त्रैगुण्यविषयी हैं, क्योंकि "त्रैगुण्यं संसारो विषयः प्रकाशयितव्यो येषां ते त्रैगुण्य विषयाः" (शंकरः) अर्थात् ब्रह्माश्रय जो माया है उसने सत्व, रज और तम इन तीनो गुणोंको स्वीकार करके ब्रह्मलोक से पाताल पर्य्यन्त जितने भूत मात्र हैं तथा देवगण से लेकर कीट पर्य्यन्त जितने जीव हैं सबको त्रैगुण्यात्मक बनायी है । इनमें कोई सत्वगुणी हैं कोई रजोगुणी और कोइ तमोगुणी हैं । जैसे गौ, अजा

× **आत्मवान्**—अप्रमत्तः (शंकरः)

आत्मवान्— जितचित्तः । सर्वास्वप्यापत्सुनिराकुलः नित्यतृप्ततयानिरुद्यमः

(नीलकण्ठः)

इत्यादि सत्वगुणीहैं । अश्व, हस्ति इत्यादि रजोगुणी है । तथा व्याघ्र श्याल, कूकर इत्यादि तमोगुणी हैं । इसी प्रकार मनुष्य में भी हैं । इन तीनों प्रकारके मनुष्योंके दुःख सुख इत्यादि विषयोंको जो प्रतिपादन करे उसे त्रैगुण्यविषयी कहते हैं । अथवा यों कहिये, कि "**त्रैगुण्य गुणत्रयकार्य्यमूर्ध्वमध्याधोगतिरूपं संसरणं तदेव प्रकाश्यत्वेन विषयो येषां तादृशाः कर्मकाण्डपरा वेदाः** " । (नीलकण्ठः) अर्थात् यह जीव चौरासी लक्ष योनियोंमें भ्रमण करता हुआ अपने कर्मानुसारे अर्थात शुभ अशुभकी प्रेरणासे कभी ऊपर गन्धर्व-लोक, पितर-लोक, देवलोक, इत्यादि लोकोंको गमन करता है । फिर शुभ कर्मोंके समाप्ति हुए मध्यमें अर्थात अन्तरिक्षलोकमें गिरकर आकाश, वायु और जलमें कुछ काल पडा रहता है ।फिर तहांसे गिरता गिरता मातृ-गर्भमें प्रवेश करता है तथा अशुभ कर्मोंकी प्रेरणासे नीच योनियोंको प्राप्त होता है। एवमप्रकार इसकी ऊर्ध्व, मध्य और अधोगति होती रहती हैं । वेद इनहीं विषयोंके वर्णन करनेवाले हैं अर्थात नाना प्रकारके कर्मोंका वर्णन-कर मनुष्योंसे कर्म करवा उनको ऊपरसे नीचे और नीचेसे ऊपरके लोकोंमें भेजा करते हैं । जो सत्त्वगुणी होनेके कारण देवलोक इत्यादि की इच्छा करते हैं, जो रजोगुणी होनेके कारण संसारसुखकी इच्छा करते हैं तथा जो तमोगुणी होनेके कारण अपने शत्रु और विरोधियोंकी हिंसा करनेकी इच्छा करते हैं सबोंको ये वेद विलग विलग कर्म बता देते है । इसलिये यह प्रत्यक्ष होता है, कि ये वेद त्रैगुण्यविषयी हैं । अतएव तीनों गुणों से मिश्रित कर्मोंका सम्पादन

करते हैं। हे अर्जुन ! तू ऐसा न समझ, कि मैं वेदकी निन्दा करता हूं। नहीं ! नहीं ! यह मेरा तात्तपर्य्य नहीं है। तू नहीं जानता, कि भगवान् बुद्धदेवने अपने मुखसे देवासुर-संग्रामके समय वेद की निन्दा की इसलिये यह आज्ञा देदी, कि मेरा मुख कोई न देखे तो ऐसा भी कभी हो सकता है, कि मैं भी वेदकी निन्दा करे मुख दिखाने योग्य न रहूं। कदापि नहीं! ऐसा करनेसे फिर मेरी बात कौन सुनेगा ? वेद आर्य्य-पुरुषोंका श्रेष्ठ और मुख्य ग्रन्थ स्वतः प्रमाण है। क्या कोई इसका खण्डन करसकता है ? कदापि नहीं। जो ऐसा समझे वह मूर्ख है।

में तो तुझसे केवल यह कह रहा हूं, कि जैसे किसी प्राणीको चलते चलते मार्गमें नदी मिलजाती है तो प्राणी उससे पार होनेका यत्न करता है। जबतक वह पार होता है तब तक कर्णधार, पतवार मस्तूल, पानीका प्रमाण, नदीकी उँचाइ नीचाई, जलकी गहराई तथा लहरोंके वेग इत्यादि का विचार करता है, पर जब पार होजाता है तब नावको पीछे छोडदेता है और अपने घरका बाट लेता है। इसी प्रकार ये वेद मांझीके समान संसारी पथिकोंको एक किनारेसे नउकापर चढा दूसरेकिनारे पहुँचा लौट आते हैं। तात्पर्य्य यह है, कि जन्म लेनेके समयसे जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, मुण्डन, कर्णवेध, यज्ञोपवीत, विवाह इत्यादि संस्कारोंको बतातेहुए अन्तमें प्रेतकर्मका भी विधान बता देते हैं। इनमें सात्विक, राजस और तामस सर्व्व प्रकारके विषयोंका समावेश है।

यहां त्रैगुण्य शब्द कहनेहीसे वेदके कर्मकाण्ड-भागका तात्पर्य है। सम्पूर्ण वेदका नहीं। कामनाग्रस्त प्राणियोंके लिये उपासना और ज्ञानतत्त्वका समझना कठिन है। क्योंकि अनेक विधि कामनाओंके झमेलोंसे उनका अन्तःकरण मलीन रहता है। इसकारण उनके लिये तो कर्म हीका उपदेश उचित है।

शंका— ये वेद ऐसा क्यों करते हैं ? वेदोंको उचित है, कि यथार्थ उपदेश करे।

समाधान—ये वेद भी अधिकारी समझ कर उपदेश करते हैं। जिसे जैसा अधिकारी समझते हैं तिसे तैसा उपदेश करते हैं। जैसे किसी अत्यन्त छोटे बालकको जो पुनः पुनः खेलनेके तात्पर्य्यसे रात्रिको घरसे बाहर निकल जाया करता है, उसके मा बाप कहते हैं, कि बेटा! रातको घरसे बाहर मत निकलाकर! एक भयंकर घोघर बैठा है, वह तुझको पकडलेगा। पर जब वही बालक युवा होजाता है और मा बाप उसको रात्रिके समय किसी विशेष कार्य करनेको कहीं घरसे बाहर जानेकी आज्ञा देते है और कभी-कभी वह जवान अति गम्भीर अंधियालीको देखकर कुछ भय खाकर बोलता है, कि बाबा कैसे जाऊं ? इस घोर अन्धकार रात्रिमें डर लगता है, तब वही मा बाप झुंझलाकर कहते हैं, कि कैसा डरपोक है ? अबे क्या घोघर बैठा है ? जो काटखावेगा। जा कोई डर नहीं!

अब बुद्धिमान विचारें तो सही, कि जिसी माता पिताने बचपनमें घोघर-घोघर कहकर उसके अन्तःकरण पर भय जमादिया था वही माता पिता अब उसको निर्भय करनेके लिये घोघरका निषेध

करते हैं। इसीप्रकार ये वेद अज्ञानी कर्मकाण्डीको पहले नरकका भय दिखला कर पाप कर्मोंसे बचाते हैं। जैसे किसी रोग-ग्रस्त छोटे बालकको कड़ुई दवाई पीनेके लिये मा बाप कहते हैं, कि बेटा! आखें बन्द कर झट पीजाओ तो लड्डू देंगे। इसी प्रकार ये वेद स्वर्ग का लालच दिखाकर दर्श, पौर्णमास इत्यादि क्लिष्ट कर्मोंका अभ्यास करवा देते हैं। एवम् प्रकार वेद धीरे-धीरे "अरून्धती-दर्शन-न्याय" से राजस तामस कर्मोंको वर्जित कर सात्विक कर्मोंके करनेकी आज्ञा देते हैं। जब मनुष्य कुछ दिन इन सात्विक कर्मोंका अभ्यास कर लेता है तब उसका अन्तःकरण शुद्ध करनेके लिये निष्काम कर्मों का उपदेश कर पूर्व कथन कियेहुए मांझीके समान जीवको पार उतार फिर औरोंके लिये पीछे अपनी नउका लेकर अर्थात कर्म-कथा लेकर संसारी जीवोंकी ओर लौट आते हैं। एवम् प्रकार निष्काम कर्मोंके अभ्याससे जब अन्तःकरण निर्मल, स्वच्छ और सब प्रकारकी वासनाओंसे रहित होजाता है, तब वह प्राणी ज्ञान और उपासनाका अधिकारी होकर आत्मज्ञान तथा भगवत्-स्वरूपके पानेका पात्र बनजाता है। इसी कारण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि वेद त्रैगुण्यविषयी हैं। तू निस्त्रैगुण्य होजा! अर्थात् राजस, तामस, और सात्विक, तीनों प्रकारके कर्मोंसे रहित होकर [**निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्**] निर्द्वन्द्व होजा अर्थात शीत, उष्ण, दुःख सुख, हानि, लाभ, जय और अजयको समान समझकर नित्य सत्त्व जो धैर्य्य तिसे अवलम्बन कर अथवा सत्त्व जो परब्रह्म जगदीश्वर उसमें स्थिर होजा; अर्थात उसी भगवत्-स्वरूपमें अपनी बुद्धिको निश्चया-

स्मिका करले ! तथा *योग-क्षेमकी परवाहसे रहित आत्मवान् अर्थात् अप्रमत्त, निश्चिन्त और दत्तचित्त होजा ! जैसे नाना प्रकार की कामनाओंके करनेवाले अपनी कामनाओंकी पूर्त्तिमें पागलोंके समान प्रमत्त रहते हैं ऐसा तू मत हो ! वरु कामना रहित होकर परमेश्वरके आराधनमें चित्त लगा ! तथा सब बखेडोंसे निश्चिन्त होजा !

शंका— वेदके कर्मकाण्ड-भागका त्याग क्यों किया जावे ?

समाधान— वेदोंमें एक लक्ष ऋचायें हैं, जिनमें ८०००० तो कर्म और उपासनाके विषयोंको सम्पादन करती हैं और २०००० ऋचायें साक्षात् ब्रह्मानन्दकी प्राप्ती वा भगवत्-स्वरूपकी प्राप्तिका यत्न बनाती हैं। इसलिये वेदोंका अन्तिम भाग वेदान्त कहाजाता है। इसीके व्याख्यानमें **उपनिषद** तथा **उत्तर-मीमांसा**को जानना चाहिये। जबतक प्राणियोंको संसारकी कामनायें तथा स्वर्गादिकी इच्छा बनी रहती है तब तक ये ८०००० ऋचायें उपयोगी होती हैं। पर जब प्राणी भगवत्के सम्मुख होना चाहता है और सर्व लौकिक वा परलौकिक सुख को तिलांजलि दे भगवत कोही चाहता है तब ये २०००० ऋचायें उसे भगवत्सम्मुख होनेके उपायको बताती हैं। इसी कारण भगवान् अर्जुनको संसार बन्धनसे रहित करनेके तात्पर्य्यसे इन ८०००० ऋचाओंको त्रैगुण्य-विषयी बताकर इनसे रहित

* अनुपात्तस्योपादानं योग, उपात्तस्य रक्षणं क्षेमः (शङ्कर) जो वस्तु नहीं प्राप्त है उसकी प्राप्तिका उपाय करनेको "योग" कहते है और जो प्राप्त है उसकी रक्षा करनेको "क्षेम" कहते हैं।

होनेकी आज्ञा देते हैं ॥ ४५ ॥

ज्ञानभिलाषियों और भगवतप्रेमियोंको वेदारंभ और वेदमध्यको त्यागकर वेदका अन्तिम भाग क्यों ग्रहण करना चाहिये? इसका कारण भगवान् अगले श्लोकमें दृष्टान्त द्वारा वर्णन करते हैं।

मू०— यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।

तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

॥ ४६ ॥

पदच्छेदः—सर्वतः (सर्वस्मात् । सर्वेभ्यः । समन्ततः) **संप्लुतोदके** (विविधनिर्भर तथा प्रजन्यधाराभिः परिपूरिते ।) **उदपाने**+ (कूपतडागादि जलाशये ।) **यावान्** (यत्परिमाणम् ।) **अर्थः** (स्नानपानादिकं प्रयोजनम् । घटमात्रजलनिर्वर्त्यम् ।) **तावान्** (तत्परिमाणम्) [**अर्थः**] **सर्वेषु** (चतुर्षु) **वेदेषु** (यजुः सामादिषु ।) **विजानतः** (व्युत्पन्नचित्तस्य । ज्ञाननिष्ठाधिकारप्राप्तस्य । व्यवसायात्मिकाबुद्धियुक्तस्य ।) **ब्राह्मणस्य** (ब्रह्मबुभूषोः । ब्रह्मनिष्ठस्य) [प्रयोजनीयम्] ॥ ४६ ॥

पदार्थः— (**सर्वतः**) चारों ओरसे (**संप्लुतोदके**) नाना प्रकारकी झरनाओं तथा वर्षाकी धाराओंसे परिपूरित (**उदपाने**) कूप तडाग, बावली इत्यादि छोटे-छोटे जलाशयोंमें (**यावान**) जितने

+ उदपानं— उदकं पीयते यस्मिन्निति उदपानम् ।

जलकी, (अर्थः) स्नान पानादिके प्रयोजन निमित्त, आवश्यकता होती है (तावान्) उतनेही जलका ग्रहण कियाजाता है । सम्पूर्ण जल का नहीं किया जाता । इसीप्रकार (विजानतः) परम तत्त्वके जाननेकी इच्छाकरनेवाले (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मनिष्ठकेलिये भी अपने ब्रह्मज्ञानकी पूर्त्ति निमित्त (सर्वेषुवेदेषु) चारों वेदोंमेंसे केवल ब्रह्मज्ञानको संपादन करनेवाले भागका ही प्रयोजन होता है। सम्पूर्ण वेदका नहीं ॥

भावार्थः— वेदोंमें सम्पूर्ण वेदका ग्रहण न करके केवल थोडेसे अंशका क्यो ग्रहण कियाजावे ? इस तात्पर्य्यको दृष्टान्त द्वारा उपदेश करते हुए श्री कृष्ण भगवन् कहते हैं, कि [**यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके**] हे अर्जुन ! जैसे वर्षाकालमें चारों ओरके वर्षाकी धाराओंसे भरजानेवाले छोटे छोटे कूप, तडाग, वावली, चहवच्चे, इत्यादिकोंसे जितने जलके ग्रहण करनेकी आवश्यकता होती है उतने ही जलको प्राणी स्नान पानके प्रयोजन से घटादि पात्रों द्वारा ग्रहण करता है अर्थात इनके पेटमें पूर्ण जल भरजानेसे भी स्नान पान करने वाले पुरुषोंको तो उतनेही जल की आवश्यकता है, जिसमेसे उनका प्रयोजन साध्य होसकता है; अधिकका नहीं। इसीप्रकार [**तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।**] तत्त्वका जाननेबाला ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण जो भगवत्स्वरूपकी इच्छा करनेवाला है, वेदोंके सर्व प्रकारके उपदेशों वा मंत्रोंसे केवल वेदोके एक भाग वेदान्तसे ही अपना प्रयोजन सिद्ध करलेता है, अर्थात् अनेक जन्मोंके निष्काम कर्मोंसे जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो उपासना

के साकार निराकारके भेदोंको भली भांति समझ ज्ञानका तथा परम-पद के आनन्दलाभ करने का अधिकारी होरहा है वही वेदोंमें से उसके सारभाग वेदान्तके ग्रहण करनेका अधिकारी होसक्ता है ।

अब इस श्लोकका अर्थ दूसरे प्रकार किया जाता है [**यावानर्थ उदपाने सर्वतः संपुल्तोदके**] जैसे वर्षाकालमें सर्वत्र जलके बाढ आनेसे छोटी-छोटी बावली इत्यादि अपनी विस्तारके अनुसार जलको ग्रहण कर भरजाती है चाहे प्रलय कालकी भी वृष्टि क्यों न हो और सारे समुद्र उमड कर पृथ्वीमण्डलको क्यों न भरदें, पर ये छोटे-छोटे कूपादि उतनेही जल से भरेंगे जितना इनके पेटमें अटेगा हां ! यह तो होसकता है, कि अधिक बाढ होनेसे इनका मूंह भरकर दोचार हाथ जल मूंहके उपर भी वहता रहे पर उस जलसे इन बावली, तडाग, कूपादिकोंको कुछ भी लाभ नहीं। इसी प्रकार "तावा-न सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः" जिस बुद्धिमान चतुर ब्राह्मण को अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ प्राणी को चारों वेदोंसे जितने उपदेशोंकी आ-वश्यकता है उतना ही ग्रहण करे । अधिक ग्रहणसे उसे कुछभी लाभ न होगा ।

भगवान्‌ने जो अर्जुनको त्रैगुण्य-विषयी वेदोंका परित्याग कर निस्त्रैगुण्य होनेकी आज्ञा दी है, इसका कारण यह है, कि अर्जुन श्रेष्ठ नरका अवतार है। इसकारण त्रिगुणात्मक विषयोंको छोड गुणा-तीत होनेका अधिकारी है ।

किसी-किसी टीकाकारने इस श्लोकका यों भी अर्थ करदिया है, कि स्नान पानादिके प्रयोजन जितने छोटे-छोटे उपादानसे निकलते

हैं वे सबके सब एक ही ठौर बहुत बडे समुद्रके समान महान् जल राशिके अन्तर्गत हैं। तात्पर्य्य यह है, कि स्वर्गादिके अथवा नाना-प्रकारके इतर लौकिक विषयोंके सुख जो भिन्न-भिन्न कर्म इत्यादिके करनेसे प्राप्त होते हैं वे सबके सब सुख ब्रह्मानन्दके सुखके अन्तर्गत हैं। इसलिये भिन्न कर्मोंको त्यागकर एक ही ठौर केवल ब्रह्मानन्द सुखकी प्राप्तिका यत्न करना चाहिये ! प्रमाण श्रु०

ॐ एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ( )

अर्थ—इस ब्रह्मानन्दके एक छोटे अंशमें इस संपूर्ण ब्रह्माण्डके जीवों का आनन्द खपजाता है। इस श्रुतिके अनुसार इस अर्थको भी यहां स्वीकार करलेनेसे बहुत असंगति नहीं होगी क्योंकि अन्य जितने आनन्द हैं सब उसी ब्रह्मानन्दके बिम्ब हैं। जैसे घरमें बिखडे हुए जल के ऊपर सुर्य्यका बिम्ब पडता है तिससे घरके दीवारों पर जो घूमता हुआ तथा चक्कर खाताहुआ प्रकाश दीखपडता है उसे देख अज्ञानी तथा छोटे-छोटे बच्चे तालियां बजाते हैं और आनन्द होते हैं। इसी प्रकार विषयों पर ब्रह्मानन्दके बिम्ब पडननेसे जो एक प्रकारका आनन्द अनुभव होता है उसे देख अज्ञानी मनुष्य परम प्रसन्नताको प्राप्त होते हैं और उसमें फँसजाते हैं। इसीसे सिद्ध होता है, कि ब्रह्मानन्दके एक अंशमें सर्व प्रकारके विषयानन्द खपेहुए हैं ॥ ४६ ॥

इतना सुन अर्जुनने यों शंकाकी, कि जब वेदके सार भाग ब्रह्मज्ञान ही से हमलोगोंका प्रयोजन है, तो कर्म्मके पीछे क्यों पडना ? फिर हे भगवन् ! मुझे युद्धके लिये क्यों प्रेरित करते हो ?

इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

मू०—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म्मफलहेतुर्भूर्म्मा ते संगोस्त्वकर्म्मणि ॥
॥ ४७ ॥

पदच्छेदः — ते (तव) अधिकारः (योग्यता) कर्म्मणि (उद्यमे । तत्त्वज्ञानार्थिन आचारे) एव (निश्चयेन) [अस्ति] फलेषु (अर्थेषु) कदाचन (कस्यांश्चिदवस्थायाम्) मा (नैव) कर्म्मफलहेतुः (फलकामनयाहि कर्मकुर्वन्फलस्यहेतुरुत्पादकः) मा (नैव) भूः । अकर्मणि (निषिद्धकर्मणि ।) ते (तव) संगः (आसक्तिः । निष्ठा) मा (न) अस्तु (भवतु) ॥ ४७ ॥

पदार्थः— हे अर्जुन ! अब हाँ तो (ते) तेरा (अधिकारः) अधिकार (कर्म्मणि) कर्म्ममें ही है, पर (फलेषु) उसके फल ग्रहण करनेमें (कदाचन) कभी भी तेरा अधिकार (मा) नहीं है । इस लिये तू (कर्मफलहेतुः) कर्म्म फलका हेतु (मा भूः) मत हो ! अर्थात् स्वर्गादि कर्म्म-फलकी इच्छासे कर्म्म करताहुआ फलोंकी उत्पत्तिका कारण मत हो ! फिर (अकर्मणि) अकर्म्ममें भी (ते) तेरी (संग) आसक्ति (मा अस्तु) मत होवे ! तात्पर्य्य यह, कि कर्म्म तो तू सब कर ! पर उसके फलकी इच्छा मतकर और निषिद्ध कर्म्म भी मत कर ! ॥ ४७ ॥

भावार्थः—अर्जुनको जो ऐसी शंका हुई, कि जब आत्मज्ञान वा ब्रह्मज्ञान ही से हमलोगोंका मुख्य तात्पर्य है तो फिर कर्म करने में क्यों वृथा परिश्रम करना ? इस शंकाके निवारणार्थ श्री कृष्ण भगवान कहते हैं, कि [कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन] हे अर्जुन ! अभी तेरा अधिकार कर्म ही करनेमें है । क्योंकि जबतक अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त न हो तबतक प्राणीका कर्म हीमें अधिकार है ज्ञानमें नहीं, हां ! इतना अवश्य है, कि तू कर्म फलकी इच्छा मत कर ! क्योंकि फलमें तेरा अधिकार कदापि नहीं होना चाहिये । तू दृढ निश्चय रख, ! कि जब तू कर्म आरम्भ करे अर्थात् जब तू तीर्थ, व्रत, दान, दर्श, पौर्णमास, हवन, जप इत्यादि कुछ भी आरम्भ करे तब उन कर्मोंको केवल अपना मानव-धर्म जानकर कियाकर ! मैं तुझे यही उपदेश करता हूं, कि तू कर्मोंके फलकी इच्छा कर्मोंके आरम्भ करते समय भी मतकर ! मध्य में भी मतकर ! तथा कर्म समाप्तिके पश्चात् भी मतकर ! क्योंकि निष्काम कर्मोंसे बन्धन न होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है । सकाम कर्मोंसे मोक्ष लाभ नहीं होता । इसलिये [मा कर्म्मफल हेतुर्भूः] तू कर्म्मफलका कारण मत हो ! क्योंकि फलकी इच्छा होने ही से प्राणी कर्म्मफल भोगनेका कारण होता है, अर्थात् अपने हाथोंसे अपने गलेमें छूरी लगाता है और कर्म-बन्धन में पड कल्पांत पर्य्यन्त आवागमनके दुःखसे दुःखी होता रहता है ।

यदि तुझको यह शंका हो, कि " मै कर्मफलको चाहूं वा न चाहूँ कर्ममें तो फल देनेकी सामर्थ्य स्वाभाविक बनीहुई है । जब

जहां जैसा कर्म होता है वैसा फल आपसे आप ही उत्पन्न होजाता है” तो हे अर्जुन ! तू यह निश्चय जान ! कि जबतक तू स्वयम् फलकी इच्छा करता रहैगा तब ही तक कर्मफल तुझे घेरेंगे । पर जब तू कर्म के फलोंकी इच्छा न करके उनको मुझमें अर्पण करदेगा तो वे फल तुझे छोडदेवेंगे और तू आनन्दसे विचरेगा ।। क्योंकि कर्म-फलमें जब तू आसक्त न हुआ तब कर्म क्या करसकते हैं ? कुछ भी नहीं। इसलिये मैं तुझसे कहता हूं, कि तू कर्मके फलका हेतु मत हो !

यदि तू यह कहे, कि जब कर्मके फलों ही की इच्छा न हुई तो कर्म करनेमें वृथा क्लेश क्यों उठाना ? तो मैं तुझसे इतना ही कहता हुं, कि ऐसी शंका मत कर ! ऐसा मनमें लाने ही से तू अधोगति को प्राप्त होजावेगा । क्योंकि प्रकृति तुझको चुप चाप वैठने न देवेगी। जबतक तू ब्रह्मवेत्ता नहीं हुआहै, और तेरा अन्तःकरण शुद्ध नहींहुआहै, तबतक तू चुप वैठकर कैसे रहसकता है ? प्रकृति कुछ न कुछ तो तुझसे करावेहीगी । तो ऐसा न होजावे, कि विहित कर्मके छोडदेनेसे तू अविहित कर्म अर्थात् अकर्म्मका पात होजावे। सर्व सम्मति तो यही है, कि अकर्म्मियों की अपेक्षा कर्म्म करनेवाला सदा श्रेष्ठ है। प्रमाण-“भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीवनः बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाःस्मृताः ॥ ब्राह्मणेषु च विद्वांसः विद्वत्सु कृतबुद्धयः। कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः” ॥ अर्थ—इस सृष्टिमें जडपदार्थोंसे चैतन्य अर्थात् प्राणवाले श्रेष्ठ हैं उन प्राणियों में भी बुद्धि रके जीवन निवाहनेवाले श्रेष्ठ हैं। उनमें भी मनुष्य श्रेष्ठ हैं। उन मनुष्योंमें भी ब्राह्मण श्रेष्ठ मानेगये हैं । उन ब्राह्मणोंमें भी विद्वान

श्रेष्ठ समझे जाते हैं। उन विद्वानोंमें भी कृतबुद्धि श्रेष्ठ हैं। अर्थात् जिनकी बुद्धि निश्चयात्मिका है वे श्रेष्ठ हैं। इन निश्चयात्मिका बुद्धि-वालोंमें भी कर्ता (कर्मकरनेवाला) श्रेष्ठ है। इन कर्म करने वा-लोंमें भी ब्रह्मवादी, जिनने कर्मके फलोंको भगवतमें अर्पण कर केवल भगवत्-स्वरूपकी अभिलाषाकी है, श्रेष्ठ हैं। अतएव हे अर्जुन! मैं तुझको पुनः पुनः यही कहताहूं कि[मा ते संगोस्त्वकर्मणि]तेरासंग अकर्ममें भी न होने पावे ॥ इसलिये तू निष्काम कर्म करता चलाजा!

प्रश्न——सकाम कर्म करनेसे क्या हानि होती है?

उत्तर——" न जातु कामानां उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते " (मनु० अ० २श्लो०६४)
अर्थ— कर्मोंके फल जो स्वर्ग, तथा सुन्दर रमणी इत्यादि नाना प्रकारके भोग हैं उनसे कभी तृप्ति नहीं होती; किन्तु और भी अ-धिकसे अधिक कामना ऐसी बढती जाती हैं जैसे अग्निमें घृत डालने से अग्निकीज्वाला। यदि प्राणी कामनाके पीछे पडेगा तो कभी शांति न होगी। मिथ्या इन्हीं कामनाओंके झमेलेमे लिपटता चला जावेगा॥ प्रमाण श्रु०- कामान्यःकामयते मन्यमानः सकामभिर्जायते तत्रतत्र पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्विहैव सर्वे प्रविलयन्ति कामाः (मुण्ड० ३ खं० २ श्र० २) अर्थ—विषयोंकी कामना करनेवाला जिन-जिन कामना-ओंको करता है उन्हीं-उन्हीं कामनाके अनुसार तहां-तहां जाकर जन्म लेता है। पर जो सर्व प्रकार आप्त काम हैं अर्थात् जिसकी सारी कमनायें भगवतस्वरूपमें पूरी होचुकी हैं तथा जो सर्व प्रकार कृतात्मा हैं अर्थात् कृतकृत्य हैं, उसकी सारी कामनायें यहां ही नष्ट होजाती हैं। इसी-

लिये भगवान् अर्जुनको निष्काम हो कर्म करनेकी आज्ञा देरहे हैं ॥४७॥

अब भगवान् अर्जुनके प्रति यह उपदेश करते हैं, कि निष्काम कर्म कैसे और किस उपायसे साधन करना चाहिये—

मू०—योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
॥ ४८ ॥

पदच्छेदः— धनंजय ! (हे अर्जुन !) **योगस्थः** (परमेश्वरैकपरता तत्रस्थितः । सुखदुःखसमत्वे स्थितः ।) **संगम्** (फलतृष्णाम् । क्रियाऽभिमानम् ।) **त्यक्त्वा** (हित्वा । विहाय ।) **सिद्ध्यसिद्ध्योः** (चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञानप्राप्तिरूपा या सिद्धिस्तद्विपर्ययरूपा याऽसिद्धिस्तयोः । सिद्धिश्च लाभः असिद्धश्च अलाभस्तयोः) **समः** (हर्षविषादशून्यः ।) **भूत्वा** । **कर्माणि** (निष्कामरूपाः क्रियाः ।) **कुरु** (सम्पादय !) **समत्वम्** (सुखदुःखे लाभालाभे हर्षोद्वेगविकारशून्यत्वम् ।) **योगः** (निष्कामकर्मयोगः) **उच्यते** (कथ्यते ।) ॥ ४८॥

पदार्थः— (धनंजय !) हे अर्जुन ! (योगस्थः) सुख दुःखमें समान अथवा केवल ईश्वरके ध्यानमें स्थिर रहकर, (संगम्) कर्मके संगको अर्थात् फलकी तृष्णाको तथा कर्माभिमानको (त्यक्त्वा) छोड कर, (सिद्ध्यासिद्ध्योः) कर्मोंकी सिद्धि और असिद्धि अर्थात् लाभ और हानि दोनों अवस्थाओंमें (समः) ऐक समान (भूत्वा) होकर (कर्माणि) कर्मोंको (कुरु) किया कर! क्योंकि (समत्वम्)

सुख, दुःख, लाभ और हानिमें समान रहने ही को (योगः) योग (उच्यते) कहते हैं ॥ ४८ ॥

भावार्थः—अब श्री दयासागर आनन्दकन्द ब्रजचन्द अर्जुन पर दया कर, निष्काम कर्मोंके सम्पादनका उपाय बताते हुए कहते हैं, कि—**[योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय!]** अर्थात् हे शत्रुओंको जीत कर सम्पत्तिका उपार्जन करने वाला" अर्जुन! तू योगस्थ होकर कर्म कियाकर! अर्थात दुःख सुखादि तथा हानि लाभादि द्वन्द्वोंको एक समान समझता हुआ केवल ईश्वरप्राप्ति निमित्त कर्म कियाकर! उनके फलोंका संग छोडदे! अर्थात् कर्म करते समय कर्मके आरंभ, वा मध्य, अथवा समाप्ति तक तू कभी ऐसा अपने मनमें मत ला, कि मैं कर्म करनेवाला हूं और मुझको इन कर्मोंका फल मिलेगा। मेरे कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि तू न तो कर्मके कर्तृत्वका अभिमानकर! न फलकी इच्छाकर! इस प्रकार तू संगको त्यागदे! यदि तू यह पूछे, कि त्याग कैसे होगा? तो सुन! (**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते**) सिद्धि और असिद्धिको समान करके कर्म कर? क्योंकि दोनोंके समत्वकोही योग कहते है? जब तू कर्मों की सिद्धि और असिद्धिमें समान चित्त होकर कर्म करेगा तो अवश्य कर्मफलके संगका त्याग आपसे आप होजावेगा। परे समान चित्त होना सामान्य बात नहीं है। इसलिये चिरकाल पर्य्यन्त इसका अभ्यास करना चाहिये।

शंका--बडे-बडे विद्वान, त्यागी और तपस्वी इसका यत्न बार बार

करते रहते हैं, पर कर्म की सिद्धि से प्रसन्न हों वा न हों असिद्धि से दुखित तो अवश्य होजाते हैं ; वरु सिद्धान्त तो यह है , कि यदि किसी को पहले से यह ज्ञात होजावे, कि इस कर्म की सिद्धि न होगी तो वह कर्ममें हाथ ही न लगावेगा । फिर सिद्ध और असिद्ध दोनों में सामान होना कैसे वने ?

समाधान—कर्तृत्वाभिमान तथा उन कर्मोंका ममत्व छोड़ केवल कार्य्य समझकर अर्थात् अपना धर्म्म जानकर करनेसे सिद्धि और असिद्धिकी समता होजाती है । मुख्य अभिप्राय यह है, कि मनुष्यको अपने मानुषी धर्म्मके अनुसार किसी भी विहित कर्ममें अवश्य हाथ लगाना चाहिये । यदि उसकी सिद्धि लाभ होजावे तो उसके फलको भगवतमें अर्पण करदेवे और यदि असिद्धि होजावे तो उसकी चिन्ता न करे, ऐसा समझे, कि इस कर्मको इसी प्रकार कर्तृत्व मात्र ही होनाथा । ऐसे वारवार अभ्यास करनेसे सिद्धि और असिद्धि दोनोंकी समता होजावेगी । क्योंकि दोनोंके फलसे करने वालेको कुछ लाभ वा हानि नहीं है । इसी कारण यह उपाय निष्काम होने का है । क्योंकि सकाम कर्मोंमें जब सिद्धि नहीं होती है और कर्तृत्वाभिमान बना रहता है तब प्राणी दुखी होता है और जब कामना रहित होकर करता है तो सिद्ध हो वा न हो इसकी चिन्ता नहीं रहती। एवम् प्रकार बारम्बार हानि लाभसे निःसंग होकर ममत्व छोडदेने से समत्वकी सिद्धि होजाती है । जैसे—देवदत्त जब अपनी वाटिकामें जाता है तो पुष्पोंको मुर्झाया तथा वाटिकाकी टट्टियोंको टूटीहुई देख वाटिका-रक्षक पर क्रोध करता है और वाटिकाके विगडने बनने

की चिन्ता उसे सताती है । पर यही देवदत्त यदि अन्य प्राणीकी वाटिकामें जी बहलानेके निमित्त जापडता है तो उसके पुष्पोंके मुरझाने वा टट्टी इत्यादिके टूटजानेकी चिन्ता उसे कुछभी नहीं सताती ।

इसी प्रकार जब प्राणी संपूर्ण संसार रूप वाटिकासे ममत्व हटा लेवेगा और सर्व कर्मोंसे निरभिमान होजावेगा, तो उसे किसी कर्म के विगडने बननेकी कुछ भी चिन्ता न रहेगी ।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि "**संगं त्यक्त्वा धनंजय!**" हे अर्जुन ! तू संग छोड कर कर्म कर ! यही विषय भगवान पहले भी कह आये हैं, कि (सुखदुःखे समे० अ० २ श्लो० ३८) सुख, दुःख लाभ, अलाभ, जय और अजय इन सबको समान जान युद्ध कर ! क्योंकि इन्हीं सिद्धि और असिद्धियोंको समान जानकर कर्म सम्पादन करनेको ही **कर्मयोग** कहते हैं । योगस्थ कहनेसे भगवान्का दूसरा तात्पर्य्य यह है, कि सब ओरसे चित्तकी वृत्तियोंको बटोर कर एकाग्र होकर अन्तःकरणकी शुद्धि निमित्त निष्काम कर्मोंका सम्पादन करना चाहिये । योगशास्त्रका दूसरा सूत्र भी ऐसेही कहता है "**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**" चित्तवृत्तियोंका निरोध करना ही योग कहलाता है ।

* **धनञ्जयः**—महाभारतके पर्व ४ अध्या० ४२ श्लो० १३ में इस शब्दकी निरुक्ति स्वयं अर्जुनने भी अपने मुखसे यों की है कि— " सर्वान् जनपदान् जित्वा वित्तमाश्रित्य केवलम् । मध्ये धनस्य तिष्ठामि तेनाहुर्मां धनञ्जयम् । " अर्थ— सबोंको जीतकर केवल वित्तका आश्रय करके मैं धनके मध्य स्थिर रहता हूं इसी कारण लोग मुझको धनञ्जय कहते हैं ।

भगवान्‌का यही अभिप्राय है, कि सब कामनाओंका परित्याग कर एक भगवत् स्वरूपमें एकाग्र होकर उसी स्वरूपकी प्राप्ति निमित्त कर्मोंका सम्पादन करना चाहिये । इन वृत्तियोंके निरोध होनेसे चंच-लता मिटकर चित्तके साथ-साथ बुद्धि एकाग्र हो केवल ईश्वर तत्त्व की ओर प्रवाह करती है । इसीको योगस्थ होना कहते हैं । इसीको बुद्धियोग भी कहते हैं ।

यहां धनंजय कहनेसे भगवान् मानो अर्जुनको यह उपदेश कररहे हैं, कि " जैसे तू बडे-बडे शत्रुओंको तथा नरेशोंको जीत कर धन इकट्ठा करलेता है इसी कारण तू धनंजय कहा जाता है" इसी प्रकारे तू काम क्रोधादि शत्रुओंको भी जीत बुद्धि-योग रूप धन को एकत्र करले ॥ ४८ ॥

अब भगवान इसी बुद्धियोगकी श्रेष्ठता अगले श्लोकमें कहते हैं—

मू०—दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फल हेतवः ॥
॥ ४९ ॥

पदच्छेदः— धनंजय (हे अर्जुन !) हि (यस्मात् कार-णात्) बुद्धियोगात (आत्मबुद्धि साधनभूतात्समत्वलक्षणाद्योगात् । समत्वबुद्धिसाधनभूतान्निष्कामकर्मयोगात् ।) कर्म्म (फलाभिसन्धि-ना क्रियमाणं जन्म मरणहेतुभूतं कर्म । अन्यत् सर्व्वमपि कर्म्म) दूरेण (अत्यन्तान्तरेण । विप्रकृष्टेन । आकेन । आरेण) अवरम

(अत्यन्त निकृष्टम्। अधमम् । बुद्धिसम्बन्धविरुद्धम् ।) [तस्मात्का-रणात्] बुद्धौ (सर्वानर्थनिवर्त्तकायाम् परमात्मबुद्धौ समत्वबुद्धिः सांख्यबुद्धि र्वा ।) शरणम् (अभयप्राप्तिकारणमाश्रयम्) अन्वि-च्छ (प्रार्थयस्व) फलहेतवः (फलतृष्णाप्रयुक्ताः । फलतृष्णान्व-न्तः ।) कृपणाः (दीनाः) ॥ ४६ ॥

पदार्थः— (धनंजय !) हे शत्रुओंको जीतकर धन एकत्र करनेवाला अर्जुन ! (हि) जिस कारण (बुद्धियोगात्) बुद्धि-योग द्वारा किये हुये कर्मोंसे (कर्म) काम्य कर्म (दूरेण) बहुत दूर होनेके कारण (अवरम्) अत्यन्त निकृष्ट है । इसलिये तू (बुद्धौ) बुद्धियोगके (शरणम्) शरणको ही (अन्विच्छ) इच्छा कर अर्थात् बुद्धियोग—परायण हो ! क्योंकि (फलहेतवः) फलकी इच्छा करने वाले (कृपणाः) अत्यन्त कृपण अर्थात् दीन और दुःखी होते हैं ॥ ४६ ॥

भावार्थः— अब श्री आनन्दकन्द ऊपर कथन किये हुए बुद्धि-योगकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं, कि (**दूरेणह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनंजय!**) हे धनंजय ! दुःख, सुख, हानि, लाभ, हर्ष, शोक, सिद्धि, असिद्धि, यश, अपयश, राग, द्वेष, मान और अपमान को समान जाननेवाली जो बुद्धि तिस बुद्धिसे युक्त ईश्वराराधन निमित्त जो कर्म है उसीको यथार्थ बुद्धि-युक्त कर्म वा बुद्धि-योग कहना चाहिये । हे अर्जुन ! तू यह निश्चय जान ! कि बुद्धियोग वाले कर्मोंसे सकाम कर्म बहुत ही दूर होनेके कारण, अत्यन्त निकृष्ट समझा जाता है । इसलिये [**बुद्धौशरणमन्विच्छ कृपणाः फल-**

हेतवः) हे अर्जुन! तू बुद्धियोगके शरण जा अर्थात् निष्काम कर्मोंका सम्पादन कर। क्योंकि जो प्राणी कामनाओंको त्याग बुद्धि-योगके शरण होता है वह ब्रह्मानन्दको प्राप्त होजाता है, पर जो फलकी इच्छासे कर्मकरनेवाले हैं वे दरिद्र हैं। प्रमाण श्रु० यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिता अथ मर्त्योऽमृतोभवत्यत्रब्रह्मसमश्नुते (बृहदा० ब्राह्म० ४ श्रु० ७) अर्थ—सब कामनायें, जो इस प्राणीके हृदयमें बसी हुई हैं, एकबारगी छूटजाती हैं, तब यह प्राणी जो मरणशील होने के कारण 'मर्त्य' कहलाता है, मृत्युसे छूट अमृतस्वरूप होजाता हैं। तब यह "अत्र" इसी शरीरमें रहता हुआ ब्रह्मको प्राप्त करलेता है।

अब भगवान् कहते हैं, कि जो इसके प्रतिकूल नाना प्रकारकी कामनाओंका बंधुआ (चाकर) होरहा है वह महा दरिद्री है। क्योंकि "कृपणाः फल हेतवः" जो लोग फलके हेतु वाले हैं अर्थात् कर्म फलकी तृष्णामें डूबे रहते हैं वे ही कृपण अर्थात् घोर दरिद्री हैं।

प्रिय पाठको! "कोवादरिद्रोहि विशालतृष्णः" इस शंकरके वचनके अनुसार भी ये विशाल कानना वाले ही यथार्थ कृपण हैं अर्थात् घोर दरिद्र है। प्रमाण श्रु० योवा एतदक्षरंगार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति सकृपणोऽथ योवा एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः" (बृह० ब्रा० ८ श्रु० १०) अर्थ—हे गार्गि! जो इस ब्रह्मको न जानकर सकाम कर्म करता हुआ इस लोकसे विदा होता है, वही कृपण है अर्थात् घोर दरिद्री है। क्योंकि वह अपने कर्म फलको ही भोगता है मोक्षको प्राप्त नहीं होसकता और इसीके प्रतिकूल

जो इस अविनाशी ब्रह्मस्वरूपको ही जानता हुआ मरता है वही सच्चा ब्रह्मवेत्ता है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! तू अन्य सर्व संसृति कामनाओंको छोड, योगस्थ हो अर्थात् ब्रह्मबुद्धि युक्त हो कर्मोंका साधन किया कर ॥ ४९ ॥

इस प्रकार बुद्धियोग युक्त होकर कर्म करनेका क्या फल है? सो भगवान् अगले श्लोकमें कहते हैं-

मू०—बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसुकौशलम्
॥ ५० ॥

पदच्छेदः—बुद्धियुक्तः (समत्व विषयया बुद्ध्यायुक्तः।) सुकृतदुष्कृते (पुण्यपापे।) उभे (द्वे) इह (अस्मिल्लोके) जहाति (त्यजति) तस्मात् (अतः) योगाय (समत्व बुद्धि-योगाय। समत्वलक्षणकर्मयोगानुष्ठानार्थम्) युज्यस्व (घटस्व-उद्युक्तो भव) योगः (ईश्वरार्पितचेतसः। समत्वबुद्धियोगः।) कर्मसु (सर्वेष्वाचरणेषु।) कौशलम् (चातुर्यम्। मंगलम्) ॥ ५० ॥

पदार्थः— (बुद्धियुक्तः) जो प्राणी बुद्धियुक्त होकर कर्म करता है वह (सुकृतदुष्कृते) अपने सुकृत और दुष्कृत अर्थात् पुण्य और पाप (उभे) दोनोंको (इह) इसी संसारमें (जहाति) त्याग करदेता है। (तस्मात्) इस लिये तू (योगाय) बुद्धियोग

युक्त कर्मके लिये (युज्यस्व) यत्न कर ! क्योंकि (कर्मसु) इस प्रकार कर्ममें (कौशलम) चतुरता ही (योगः) योग है। अथवा यों कहो कि, (योगः) योग हीं (कर्मसु) सब प्रकारके कर्मोंमें (कौशलम) मंगल स्वरूप है॥ ५०

भावार्थः—श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनको बुद्धियोगका फल उपदेश करतेहुए कहते हैं कि [**बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते**]. हे अर्जुन! जो प्राणी बुद्धियुक्त होकर कर्मकरता है अर्थात सिद्धि और असिद्धिमें समभाव करके परमार्थ दृष्टिसे करता है, वह प्राणी इसी लोकमें अपने पुण्य और पापको छोडजाता है। क्योंकि बुद्धियुक्त होकर कर्म करनेसे उसका अन्तःकरण निर्मल होजाता है। अन्तःकरणके निर्मल हुए उस पर दुष्कृतका बिम्ब नहीं पडता, अर्थात शुद्ध अन्तःकरण होनेके कारण जितने पाप हैं सब दूर होकर फिर उसके समीप नहीं आते। जैसे सूर्यके उदय होनेसे अन्धकारका नाश होजाता है, ऐसे ही शुद्धज्ञान के उदय होनेसे फिर उसके अन्तःकरणको पापका अंधकार नहीं घेरता। इसलिये वह प्राणी अपने पाप कर्मोंको यहां ही छोडजाता है। अब रहे उसके पुण्य, सो फलके त्याग देनेमे वे भी बाधा नहीं करते। यदि शंका हो, कि पापका तो त्यागना उचित ही है, पर प्राणी पुण्यको क्यों छोडे, कैसे छोडे? तो उत्तर यह है, कि बेडी जैसी सोनेकी वैसी लोहेकी। बन्धनके कारण तो दोनों ही हैं। जब तक पाप और पुण्य दोनों लोहे और सोनेकी बेडियां बनी रहेंगी, तब तक उन के भोगनेके निमित्त जन्म लेना ही पडेगा। जन्म लेनेसे फिर मृत्युके वश होना ही पडेगा। अतएव ब्रह्मज्ञानी अर्थात बुद्धि-

युक्त कर्म करने वाला सत्वशुद्धिज्ञान प्राप्ति द्वारा पाप पुण्यके बन्धन में नहीं पडना चाहता । तहां पुण्यके त्याग देनेका यह उपाय है, कि जितने पुण्यकर्म उससे उदय होजाया करे, भगवत्में अर्पण करदिया करे। जब एवम्प्रकार भगवत्में पुण्योंको अर्पण करदेगा तो भगवान् उसके पापोंको भी भस्म करदेवेंगे । भगवान आगे अर्जुनको कहेंगे, कि "यत्करोषि यदश्नासि" तथा "सर्वधर्म्मान् परित्यज्य" देखो (अ० ९ श्लो०२७ और अ० १८श्लो०६६) श्रुति काभी बचन है— ॐ- यदापश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति [मु०३ ख० १ श्रु० ३] अर्थात जब विद्वान बुद्धियुक्त कर्म करने वाला कर्मोंके फलको त्यागताहुआ रुक्मवर्ण जो ज्योतिः स्वरूप जगत्कर्त्ता ब्रह्मयोनि ईश्वररूप पुरुष को देखता है अर्थात भगवत्स्वरूप को हृदयके नेत्रोंसे अवलोकन करने लगजाता है तब वह पुरुष सर्व कर्मोंसे निर्लेपहो पाप पुण्यको नाश करके परम समताको प्राप्त होता है अर्थात अद्वैत-रूप समभावको प्राप्त होता है । तबही उसके दुःख सुख, हानि, लाभ, मान, अपमान, जय, अजय इत्यादि सम होजाते हैं । इसीसे कहा, कि " परमं साम्यमुपैति " परम साम्यको प्राप्त होता है । यही वार्त्ता भगवान अर्जुनको उपदेश करते हैं, कि

[तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्] इस लिये हे अर्जुन ! तू योगके लिये अर्थात समत्वबुद्धियुक्त कर्मके लिये यत्न कर ! क्योंकि कर्ममें कुशल होनाही योग कहलाता है । इस बुद्धियुक्त कर्ममें बहुत वडी शक्ति तो यह है, कि यद्यपि ये देखनेमें

बाहरकी दृष्टिसे बन्धनके कारण जानपडते हैं, पर यथार्थमें ये अपने स जातीय सर्व पाप पुरायोंको भस्म करडालनेका सामर्थ्य रखते हैं। क्योंकि कर्मकी जो कुशलता है अथवा बुद्धि युक्त होकर कर्म करनेमें कर्त्ता की जो चतुराई है वही **योग** है और समबुद्धि करके भगवत् चरणारविन्दकी प्राप्तिके लिये निष्काम कर्मोंका सम्पादन करनाही कर्त्ताकी चतुराई है। इसीको बुद्धियुक्त होकर कर्म करना कहते हैं और निष्काम कर्म कर-नेका अभ्यास भी इसीके द्वारा प्राप्त होता है ॥ ५० ॥

अब इस प्रकार बुद्धियुक्त होकर निष्काम कर्म करनेवाले किस पदको प्राप्त होगये वा होते हैं? सो सुन !

मू०--कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मवन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

पदच्छेदः— बुद्धियुक्ताः (समत्वबुद्ध्यान्विताः) मनीषिणः (मनोनिग्रहसमर्थाः । तत्त्वमस्यादिमहावाक्यजन्यात्मनीषावन्तः) हि (निश्चयेन) कर्म्मजम् (शुभाशुभकर्मभ्यो जातम ।) फलम् (परिणामम् । विपाकम । सुखदुःखभोगम) त्यक्त्वा (विहाय) जन्मवन्धविनिर्मुक्ताः (जन्मरूपेण बन्धेन मुक्ताः । जीवन्मुक्ताः) [सन्तः] अनामयम (सर्वसंसारसंस्पर्शशून्यम् । निरुपद्रवम । अविद्या तत्कार्य्यात्मकं रोगरहितमभयम् ।) पदम् (स्थानम) गच्छन्ति (प्राप्नुवन्ति) ॥ ५१ ॥

पदार्थः— (बुद्धियुक्ताः) बुद्धियुक्त कर्म करनेवाले (मनीषिणः)

ज्ञानी पुरुष, (कर्मजम्) कर्मसे उत्पन्न (फलम्) फलको (त्यक्त्वा) छोड कर (जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः) बार-बार जन्म लेनेके बन्धनसे छूट, (अनामयम्) सर्व रोगोंसे रहित अर्थात् निरुपद्रव (पदम्) मोक्ष-पदको (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

भावार्थः— योगेश्वर भगवान् श्री आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र बुद्धियुक्त कर्म करने वाले पुरुषोंके विषय प्रशंसा करते हुए कहते हैं, कि [**कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः**] हे अर्जुन ! जो लोग बुद्धियुक्त मनीषी हैं अर्थात् सर्वशास्त्र पारंगत हो केवल ईश्वर प्राप्ति निमित्त कर्मोंका सम्पादन किया करते हैं वे ही शुभा-शुभ कर्मोंके फलोंको त्याग कर [**जन्म बन्ध विनिर्मुक्ताः**] जन्मके बन्धनसे छूट कर अर्थात् नीच और उच्च योनियोंमे जन्म लेने और मरनेके दुःखसे बचकर [**पदं गच्छन्त्यनामयम्**] अनामय अर्थात् माया रचित सर्व उपद्रवों और रोगोंसे रहित आनन्द-स्वरूप विष्णुके परम पदको प्राप्त करते हैं। क्योंकि जिन लोगोंके साथ कर्म-बन्धन लगाहुआ है वे घटी-यंत्रके समान शुभाशुभ कर्मोंके फलमें पडे हुए बुरी भली योनियोंको प्राप्त हुआ करते हैं। इसी कारण श्रुति भी कहती है, कि " **यान्यवद्यानि कर्म्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि** " (तैत्तिरीयोप० श्रुति २० में देखो) अर्थ—जो अनवद्य-अर्थात् अनिन्दित कर्म हैं वे ही सेवन करने योग्य है इतर नहीं। तहां अनिन्दित कर्म उन्हींको कहसकते हैं जो निष्काम होकर कियेजाते हैं; अर्थात् जिनमें फलकी इच्छा नहीं रहती। जो कर्म कामना रहित

कियेजाते हैं वे वन्धनके कारण हैं। इसलिये वे निन्दित कर्म कहे-जाते हैं॥ ५१ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा, भगवन् ! योगानुष्ठान जनित सत्व शुद्धिसे उत्पन्न बुद्धि मुझमें कब प्राप्त होगी? मेरी सब कामनायें कब दूर होंगी? और मेरा अन्तःकरण कब शुद्ध होजावेगा? अर्थात् त्रैगुण्यात्मक वेद वाक्योंसे रहित हो मैं शान्तिको कब प्राप्त होजाऊंगा?

इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि—

मू०—यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्यच ॥

॥५२॥

पदच्छेदः—यदा (यस्मिन्काले । यस्यामवस्थायाम।) ते (तव) बुद्धिः (अन्त.करणम्) **मोहकलिलम्** (अविवेकात्मकं कालुष्यम। इष्टानिष्टवियोगसंयोगजनितं कालुष्यम) **व्यतितरिष्यति** (व्यतिक्रमिष्यति।) तदा (तस्मिन्काले। तस्यामवस्थायाम्) **श्रोतव्यस्य** (श्रवणीयस्य) च (तथा) **श्रुतस्य** (आकर्णितस्यावधृतस्य शास्त्रस्य।) **निर्वेदम्** (वैतृष्ण्यम्) **गन्तासि** (प्राप्नोषि) ॥५२॥

पदार्थः— हे अर्जुन! (यदा) जब (ते) तेरी (बुद्धिः) बुद्धि (मोहकलिलम्) मोहात्मक अविवेकरूप कलुषको अर्थात् अज्ञानताके कठिन दुर्गको (व्यतितरिष्यति) पारकरजावेगी(तदा) तव तू (श्रोतव्यस्य) सुननेके योग्य वचनोंसे (च) तथा (श्रुतस्य)

सुने हुए त्रैगुण्यात्मक वेदशास्त्रके वचनोंसे (निर्वेदम्) वैराग्यको (गन्तासि) प्राप्त होजावेगा ॥ ५२ ॥

भावार्थः--अर्जुनने जब भगवान्से पूछा है, कि मुझे योगानुष्ठान-जनित बुद्धि अर्थात् सर्व कर्मोंको समान समझ उनके फल को भगवत् में अर्पण करनेवाली बुद्धि तथा सर्व कामनाओंके निकल जानेसे मेरे अन्तःकरणकी शुद्धि कब उत्पन्न होगी ? तब इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [यदाते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति] हे अर्जुन ! तेरी बुद्धि जो मोह समूहके कठिन दुर्गमें मारी फिरती है, मारे मोहके तेरा हृदय जरजरीभूत होरहा है, इष्ट पदार्थोंके न मिलने से जो तेरे हृदयमें नाना प्रकारके ताप उत्पन्न होरहे हैं और मैं यह हूं, यह मेरा है, इस प्रकारकी अज्ञानताके घोर वनमें जो तू पडा घबरा रहा है, ये सर्वप्रकारकी व्याकुलतायें तब दूर होंगी जबतेरा अन्तःकरण इन सर्वप्रकारके बखेडोंसे अलग होजावेगा, अर्थात् जब किसी महान् गुरुकी कृपा द्वारा इस घोर अज्ञानताके गभीर वनसे पार निकल जावेगा [तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च] हे अर्जुन ! तबही तू आगे सुनने योग्य शास्त्रोंसे अथवा सुनेहुए शास्त्रोंके वचनोंसे तथा त्रैगुण्यात्मक वेद वचनोंसे वैराग्यको प्राप्त होगा। अभिप्राय यह है, कि मोहको छोडदेने ही से तुझे फिर किसी भयानक वा रोचक विषयके सुनने, सुनाने, जानने, जनानेकी रुचि न रहेगी, मिथ्या वकवादोंसे तू रहित होकर केवल आध्यात्मिक-शास्त्र ही से प्रेम करेगा। तबही तेरे सारे क्लेश आपसे आप दूर होंगे और तू समत्व बुद्धिको प्राप्त हो निष्काम होजावेगा।

पाठकोंके कल्याण निमित्त यहां एक श्रुतिका प्रमाण देकर

मोहाक्रान्त पुरुषोंके स्वरूपका परिचय दिया जाता है--यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ् वा उदङ् वाऽधराङ् वा प्रत्यङ् वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः (छांदो० चतुर्दश खं० अ० ६ श्रु० १)।

अर्थ- महात्मा आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतुसे कहते हैं, कि हे सोम्य ! जैसे कोई तस्कर किसी पुरुषकी आंखें बांधकर उसकी राजधानी गन्धार-नगरसे लाकर किसी निर्जन वनमें छोडदेवे तब वह आंखोंमें पट्टी बँधा हुआ पुरुष पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण फिरता हुआ कंटकोंमें क्लेश पाता हुआ यों रोता औ चिल्लाता है, कि हा ! देखो मुझको किसीने मेरी आंखों पर पट्टी बांधकर यहां इस जंगल में फेंकदिया है। हा! मै अत्यन्त क्लेश-पारहाहूं। मेरी रक्षा करो! मेरी आंखें खोलो! मेरे घरकामार्ग बताओ!

इसी प्रकार संसारके अज्ञानी जीव मोहके निर्जन वनमें चिल्लाते फिरते हैं। इस मोहसे निकलना अतिही कठिन है। धन, पुत्र, दारा इत्यादि ये सब मोहके कारण हैं। क्योंकि जब इनकी प्राप्ति होती है तब यह जीव हर्षित होता है, पर इनके अभाव होजानेसे घोर मोहमें पडा हुआ तथा उनही पदार्थोंकी इच्छामें अन्ध हुआ इधर उधर मारा फिरता है। कभी धनकी इच्छासे पृथ्वी खोद डालता है। कभी श्मशानमें मंत्रोंको जगाता फिरता है। कभी धन

टिप्प -- पाठको ! इसी तात्पर्य्य में भर्तृहरिने कैसा उत्तम श्लोक कहा है--उत्खातं निधिशंकया क्षितितलं माता गिरेर्धातवो। निस्तीर्णः सरितांपतिर्नृपतयो यत्नेन संशोधिता। मंत्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः। प्राप्तः काणवराटकोपि न मया तृष्णेऽधुना मुंच माम् ॥ (भर्तृहरि. वैराग्यशतक श्लो० ५)

वालोंके पीछे-पीछे दांत निपोडे ठकुर-सुहाती बातें करता फिरता है। ये बातें सब मोहकी ही हैं। यह मेरा है और मैं इसका हूं, ऐसे जानना भी मोह ही है। मनका चंचल होना भी मोह ही है। शरीरका अभिमान करना भी मोहही है। धन पाकर मधुमक्षिकाके समान उसके संचय करनेमें लगा रहना भी मोह ही है।

तात्पर्य्य यह है, कि मोहका बहुत बडा महा घोर निर्जन वन है जिसमें यह अन्धा जीव कष्ट पारहा है। जैसे पतझर-ऋतु में उष्ण वायुके लगने से सब पत्र पुष्प सूखकर झर जाते हैं, ऐसे मोहरूप वायु के लगनेसे मनुष्योंके बल, पराक्रम इत्यादि सब नष्ट होजाते हैं। जैसे पवनके चलनेसे मेघोंका अभाव होजाता है। ऐसे ही मोहसे सद्गुणोंका नाश होजाता है। तृष्णारूपी सर्पिणीको पुष्ट करनेके लिये यह मोहरूप सुन्दर क्षीर है। वैराग्यरूप कमलको चरजानेवाला यही मोहरूप हस्ती है। अवगुणरूप जलके एकत्र होनेकेलिये यह मोहरूप अत्यन्त गहरा तडाग है। इस मोह कलिलका तरना अत्यन्तही कठिन है। कोई पुरुषार्थी सूर्य्य, औरचन्द्रमाको अपनी मूठीमें बांधले तो बांधले, सातों समुद्रको पीजावे तो पीजावे और सुमेरु पर्वतको चूर करे तो करले, पर मोह कलिल का तरना अत्यन्त कठिन है। इसीलिये भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि जब तेरी बुद्धि इस मोह-कलिलके तरनेको समर्थ होजावेगी तबही तू "श्रोतव्य" और "श्रुत" अर्थात् सुनने योग्य और सुने हुए शास्त्रके वचनों से विरागको प्राप्तहोगा। तुझे कहना सुनना कुछभी अच्छा न लगेगा। जैसे तूने वेदोंमें सुना है, कि "मा संसृज वर्चसा प्रजयाच धनेनच" अर्थ—यजमान आहुनीय

अग्नि का उपस्थान करते समय यजुर्वेद के अध्या० २० मंत्र २२ के अन्तमें बोलता है ,कि हे अग्निदेव ! तू मेरेलिये ब्रह्मतेज, प्रजा, पुत्र, पौत्र, धन इत्यादिकी रचना करदे ! अर्थात इन सब वस्तुओंको मुझे प्रदान करदे । इस वचनको सुन बहुतेरे पुरुष थोडा अन्न अग्निमें भस्मकर विविध प्रकारकी कामना चाहते हैं । सो जबतक पुत्र, पौत्र, धन, सम्पत्ति इत्यादिकी इच्छा बनी रहेगी तबहीतक मोहवश इन श्रोतव्य और श्रुत वचनोंसे स्नेह रहेगा । जब कामनाओंसे रहित होजायगा तब विराग उत्पन्न होजावेगा । इसीसे भगवानने पहलेही अर्जुनसे कहा कि तू वेदके उन वचनोंको जो त्रैगुण्यविषयी हैं परित्याग करके निस्त्रैगुण्य हो जा। उसी वचनको दृढकरनेके लिये इसश्लोकमें श्रोतव्य और श्रुत वचनोंसे विराग प्राप्त होनेकी आज्ञा देते हैं । मोह छोडेविना श्रोतव्य और श्रुत वचनोंसे मन नहीं हटता है । क्योंकि तृष्णाग्रस्त प्राणीका मोह छूटता नहीं और मोहके नहीं छूटने तक पुष्पित वचनोंसे विराग होता नहीं ॥

जो वचन पहले श्रोतव्य रहता है अर्थात् सुनने योग्य रहता है वह सुनने के पश्चात् "श्रुत" कहाजाता है अर्थात् वेदों से जब ऐसा सुनते हैं, कि अमुक मंत्रके साधनसे धन, अमुक मंत्रके जपनेसे पुत्र परिवार इत्यादि तथा अमुक मंत्रके जपनेसे स्वर्गमें अप्सरादिके संग विहार करनेका सुख प्राप्त होगा, तब लालचके तथा इन्द्रियोंके स्वादके वशीभूत हो उन वचनोंमें अधिक मन लगाते हैं । अर्थात् ये श्रोतव्य वचन पीछे श्रुत होकर उनके जन्म मरणके कारण होते हैं । इसलिये इन श्रोतव्य और श्रुतसे प्राणी विरागको तबही प्राप्त होगा

जब इन विषयभोगके तथा ऐश्वर्य्य प्राप्तिके मोहको छोडेगा। जब एवम् प्रकार मोहको त्याग शास्त्र-वचनोंसे विरागको प्राप्त होगा तबही निष्काम होकर अन्तःकरणकी शुद्धि लाभकर ब्रह्मप्राप्तिका अधिकारी होगा ॥ ५२ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें दिखावेंगे, कि श्रोतव्य और श्रुत

टिप्प० शंका— भगवान्के इस प्रकार उपदेश करनेसे वेद वचनोंमें अविश्वास उत्पन्न होनेका भय है। जिस **श्रवणनिष्ठा** को अध्यात्म शास्त्रने अपना प्रथम अंग बना रखा है उसे भगवान् इस प्रकार निन्दित कर उसके त्यागका उपदेश क्यों करते है? जब अध्यात्म शास्त्रकी प्रथम निष्ठा श्रवणका ही त्याग होजावेगा तो जिस अध्यात्म-शास्त्रका भगवान् उपदेश कर रहे है वह रसातलको चलाजावेगा। इसलिये भगवान्का **श्रोतव्य और श्रुत** से अरुचि कराना अयोग्य देख पडता है। ऐसा करनेसे श्रवण-निष्ठामें किसीकी भी रुचि न रहेगी। ऐसा क्यों? ।

समाधान— **श्रवण-निष्ठा** अध्यात्मज्ञानकी प्रथम निष्ठा है अर्थात साधनकालकी आरम्भावस्था है और भगवान् इस श्लोकमें अध्यात्म शास्त्रके साधनकी अन्तिम अवस्था अर्थात् निष्पत्त्यवस्था जिसे सिद्धान्तकाल भी कहते हैं उपदेश कररहे है। प्रगट है, कि साधन सदा अपने सिद्धान्तमें लय होजाता है। इसीलिये "श्रवणनिष्ठा" इस निष्पत्त्य-वस्थामें लय होजाती है। इसी कारण भगवान् कहते है, कि हे अर्जुन! तेरी बुद्धि जब योगके परम तत्वको प्राप्त होजावेगी तब श्रवण इत्यादि सर्व निष्ठाओंका लोप होजावेगा। यहां अभिप्राय यह है, कि साधन काल तक गुरुके अथवा वेदशास्त्रके वचनोके सुननेकी आवश्यकता रहती है। सिद्धान्तकालमें जब प्राणी त्रैगुण्य विषयोंसे रहित होजाता है तब **श्रोतव्य और श्रुत** किसीकी भी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे क्षुधा पिपासाकी शान्तिके पश्चात् अमृत समान भी मधुर अन्न वा स्वादु जलकी आवश्यकता नहीं रहती। शंकामतकरो ॥ ५३ ॥

वचनोंसे विरक्त होनेपर प्राणियोंकी प्रज्ञाकी स्थिरता भगवत्-स्वरूपमें कैसे होती है ?

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचलाबुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥
॥५३॥

पदच्छेदः— श्रुतिविप्रतिपन्ना (अनेक साध्यसाधनप्रकाशनश्रुतिभिर्विक्षिप्ता । नानाविधशास्त्रश्रवणैः संशयग्रस्ता)ते (तव) बुद्धिः (अन्तःकरणम्) यदा (यस्यामवस्थायाम्) समाधौ (परमात्मनि) निश्चला (विक्षेपचलनवर्जिता । जाग्रतस्वप्नदर्शनलक्षणविक्षेप रहिता) अचला (लयविक्षेपशून्या । सुषुप्तिमूर्च्छास्तब्धिभावादिरूपलयलक्षणचलनरहिता) स्थास्यति (स्थिराभविष्यति । समाहिता भविष्यति) तदा (तस्यामवस्थायाम्) [त्वम] योगम् (विवेकप्रज्ञाम् । सांख्ययोगम् । योगफलंतत्त्वज्ञानम्) अवाप्स्यसि (प्राप्स्यसि:) ॥५३॥

पदार्थः— हेअर्जुन ! (श्रुतिविप्रतिपन्ना) श्रुतियोंके भिन्न-भिन्न आशयोंको श्रवण करके विक्षिप्तहुई अर्थात् व्याकुल हुई (ते) तेरी (बुद्धिः) बुद्धि (यदा) जब (समाधौ) समाधि अर्थात् ईश्वरके स्वरूपमें (निश्चला) विक्षेपोंसे रहित होकर स्थिर और (अचला) अटल होकर (स्थास्यति) ठहर जावेगी (तदा) तब तू (योगम्) योगफल, जो तत्त्वज्ञान अर्थात् जीवात्मा और परमात्माकी एकता, तिसे प्राप्तकरेगा ॥५३॥

भावार्थः— श्रोतव्य और श्रुत वचनोंसे मनुष्यों की प्रज्ञा स्थिरताको प्राप्तहो भगवत्-स्वरूप में कैसे जामिलती है? उसे वर्णन करते हुये श्री योगेश्वर भगवान् अर्जुन के प्रति कहते हैं, कि हे अर्जुन! मैने जो तुझसे पहिले कहा, कि श्रोतव्य और श्रुत इन दोनों प्रकार के बचनोंसे तू निर्वेद अर्थात् विरागको प्राप्त होजा! इस मेरे बचन को सुन तेरी बुद्धिमें यह भ्रम अवश्य होगा, कि आजतक जो श्रुति स्मृतियोंके वचन मैंने सुने हैं और उनकी आज्ञानुसार चलचुका हूं वे सब क्या निरर्थक हैं? सो हे अर्जुन! मेरे कहनेका यह तात्पर्य्य नहीं, कि तूने आज तक जो कुछ श्रुति स्मृतियोंकी बातें सुनी उन्हें निरर्थक जान। नहीं! नहीं!! अर्जुन! मुख्य तात्पर्य्य मेरे कहनेका क्या है? सो सुन! [**श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला**] श्रुति स्मृतियोंके तथा स्वयं वेदके वचनोंमें वा नाना प्रकारके दर्शनोंके वचनोंमें जो भिन्नता पायी जाती हैं उनको सुनते-सुनते प्राणियोंकी बुद्धि जो चंचल होजाती है, वह बुद्धि जब स्थिरताको प्राप्त होजाती है तव यथार्थ तत्त्वका वोध होता है। जैसे कोई शास्त्रज्ञ आत्माको नित्य, कोई अनित्य, कोई कर्त्ता, कोई अकर्त्ता तथा कोई अनेक, कोई एक और इसी प्रकार जगतको कोई मिथ्या, कोई सत्य, कोई कर्मको जगका कारण, कोई कर्मकी अपेक्षा ईश्वरको जगत्का कारण, कोई जगत्को अनादि और कोई उत्पत्ति तथा नाशवाला जानता है। ब्रह्मके स्वरूपके कथनमें कोई साकार, कोई निराकार, कोई सगुण, कोई निर्गुण और कोई दोनोंसे विलक्षण मानता है। फिर उपासना भेदसे स्मार्त मतके अनुसार कोई पांच पांच देवताओंकी उपासना-

मानता है। फिर उन उपासनाओंकी रीति भांतिमें शाक्त, वैष्णव इत्यादिका भेद लगाकर परस्पर एक प्रकारका विरोध मानता है। कोई कर्म, कोई ज्ञान, कोई ध्यान, कोई जप, कोई तप, कोई व्रत इत्यादि को अपने श्रुतके अनुसार अपने पक्षको बलिष्ठ और श्रेष्ठ मानता है और दूसरे पक्षको निर्बल मानता है।

उक्त प्रकार श्रुति स्मृतियों के वचनोंको सुनकर जो बुद्धि व्याकुल होजाती है और चंचल होकर आज इस मतमें कल्ह उस मतमें मारी फिरती है उसी बुद्धिको "श्रुतिविप्रतिपन्ना" अर्थात् श्रुतियोंमें विक्षिप्त हुई बुद्धि कहते हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! इस प्रकारके संशयोंसे चचल हुई तेरी बुद्धि जब स्थिर होकर एक ठौरमें समाधिस्थ होजावेगी अर्थात् विक्षेपसे वर्जित होकर विकल्पशून्य हो विपर्य्यय, संशय, असम्भावना, विपरीतभावना इत्यादिसे रहित होकर निर्वात दीपशिखाके समान कम्परहित और अडोल होजावेगी और [समाधावचलाबुद्धिः] समाधिमें अचल होजावेगी अर्थात् लय और विक्षेपसे रहित होकर आत्मस्वरूपमें टिकजावेगी [तदा योगमवाप्स्यसि] तब तू योगको प्राप्त करेगा।

विवेक वाली बुद्धि अर्थात् ज्ञानद्वारा शुद्ध होगयी है जो बुद्धि सो जब आत्म-निष्ठ होजावे तब उसीको कहिये योग अथवा जीव और परमात्माकी एकताका लक्षण अथवा तत्त्वमसि इत्यादि वेदके महावाक्यों-से जो अखण्ड ब्रह्मका साक्षात्कार तथा ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्तके जीवोंमें एक ब्रह्मभाव उसीको कहिये योग। सो योग तबतक प्राप्त नहीं

होता, जबतक आत्मामें *अचल अर्थात् स्थिर बुद्धि न हो। इसी कारण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि श्रुति स्मृतिके वाक्योंमें जो बुद्धिकी चंचलता है उसे त्यागकर तथा वाक्योंमें स्थान, काल और अधिकारके भेदसे, जो भिन्नता है उसे भिन्नता न मानकर, भिन्न-भिन्न अधिकारियोंमें साधनों की सिद्धि निमित्त केवल एक उपाय जानकर जब तेरी बुद्धि समाधिमें निश्चल होगी तब तू यथार्थ योगको प्राप्तहोगा। मुख्य अभिप्राय यहहै, कि पूर्व कथन कियेहुए बखेडोंसे विलग हो जब बुद्धि एक आत्मामें जामिलेगी, तबही यथार्थ योगकी प्राप्ति समझी जावेगी। प्रमाण श्रुति— "**यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥** (मुण्डकोपनिषद् खं० २ श्रु० ६२)

अर्थ— जैसे भिन्न-भिन्न नदियां गंगा, यमुना, सरस्वती इत्यादिके नामोंसे वहती हुई समुद्रमें जा अपने नाम और रूपको त्यागकर अस्त होजातीहैं; अर्थात् समुद्रमें मिलजानेके पश्चात् फिर उनके भिन्न-भिन्न नामका पताभी नहीं रहता। इसी प्रकार विद्वान् अविद्याकृत भिन्न-भिन्न नाम रूपोंको त्याग उस परात्पर परम दिव्य पुरुषमें जाकर लय होजाताहै। जैसे मैं ब्राह्मणहूं, मैं क्षत्रियहूं, मैं वैश्यहूं, मैं शूद्रहूं, मैं शाक्तहूं, मैं शैव हूं, मैं ब्रह्मचारी हूं, मैं गृहस्थहूं, मैं वानप्रस्थ हूं, मैं सन्न्यासी हूं. मैं अग्निहोतृ हूं. मैं श्रोतृ हूं, मैं राजा

*इस श्लोकमें एक बुद्धिके लिये जो दो शब्द निश्चल और अचल भगवान्ने प्रयोग किये हैं। सो भाष्यकार भगवान् शंकरके भाष्य पर व्याख्या करने वाले आनन्द गिरिने दोनोंके दो भिन्न अर्थ किये है। "नैश्चल्यम्" "अविवेक राहित्यम्" "अचलत्वम्" "विकल्पशून्यत्वम्"

हूं, मैं रंक हूं, मैं बुद्धिमान् हूं, मैं मूर्ख हूं, मैं धर्म्मात्मा हूं, मैं पापात्मा हूं इत्यादि-इत्यादि सब भिन्न-भिन्न नाम रूपोंके बखेडे हैं, ये सबके सब योगस्थ होने ही से भगवत्-स्वरूपमें लय होकर मिट-जाते हैं।

भगवान्‌के कहनेका अभिप्राय यह है, कि जब प्राणी अपनी चंचल और विक्षिप्त बुद्धिको स्थिरकर आत्म-स्वरूप रूप समुद्रमें प्रवेशकर समाधिस्थ होजावेगा तब ही जानाजावेगा, कि यह योगको प्राप्त होगया। तब ही वह स्थितप्रज्ञ भी कहा जावेगा।

शंका= पहले "योग शब्द" का अर्थ *बुद्धियुक्तकर्म बताया (देखो श्लोक ५०) और अब आत्मामें ×समाधिस्थ होनेको योग बताते हैं ऐसा क्यों?

समाधान=बुद्धियुक्त कर्म करते-करते भी अन्तमें भगवत्-स्वरूपमें समाधि होजाती है। इसलिये साधन और सिद्धान्तकाल दोनोंको भगवान्‌ने "योग" शब्दके नामसे कहा। योग शब्द ही ऐसा अद्भुत है, कि जो स्थितप्रज्ञ हैं अर्थात् समाधिमें जिनकी अचल बुद्धि होगयी है, वे ही इस शब्दके आनन्दको भोगते हैं। वे ही इसके यथार्थ तत्त्वको जानते हैं। क्योंकि ऐसी अवस्थामें क्या होजाता है? सो सुनो। श्रु०—यत्परंब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्याऽयतनंमहत्। सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत्॥ (कैवल्योपनिषत् श्रु० १६) अर्थ—जो परंब्रह्म सर्वात्मा

*बुद्धियुक्तकर्म—साधनकाल है।
× आत्मामें समाधिस्थ होना—सिद्धान्तकाल है।

सबके हृदयमें निवास करनेवाला है, सर्वान्तर्यामी है, जो सम्पूर्ण विश्व-का आयतन अर्थात् महदाधार है, जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है और नित्य है " तत्त्वमेव त्वमेव तत् " सोही तू है और तूही सो है। इसी अवस्थाकी प्राप्तिको योगकी प्राप्ति कहते हैं। और इसकी प्राप्ति करने वालेको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। तीनों लोकोंमें स्थितप्रज्ञ पुरुषका ही महद् यश है। स्थितप्रज्ञही परमानन्दको लाभ करता है। सारा विश्व स्थितप्रज्ञको ही सिर नवाता है ॥ ५३ ॥

इतना सुन अर्जुनने भगवान्से पूछा।

अर्जुन उवाच

मू०--स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव!

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥

॥ ५४ ॥

पदच्छेदः--केशव! (हे केशिहन् हरे! हे सर्वान्तर्यामिन् परमात्मन्!) **समाधिस्थस्य** (लब्धा समाधौ प्रज्ञा यस्य तस्य) **स्थित-प्रज्ञस्य** (प्रत्यगात्मनि प्रतिष्ठिता प्रज्ञा यस्य तस्य) **भाषा** (भाष्यतेऽनयेति-भाषा। भाषणम्। वचनम्। संकेतविशेषः। आचार्य्याणां युक्तियुक्ता वाक्) **का** ? **स्थितधीः** (स्थितप्रज्ञः) **किम्** (कथम्) **प्रभाषेत** (वदति) **किम्** (कथम्) **आसीत** (आसते। व्यु-त्थितचित्तनिग्रहाय वहिरिन्द्रियाणां निग्रहं करोति) **किम्** (कथम्) **व्रजेत** (व्रजति। विषयान् भुङ्क्ते प्राप्नोति वा) ॥ ५४ ॥

पदार्थः—(केशव!) हे केशव! (समाधिस्थस्य) समाधिमें जो पुरुष स्थित है, अर्थात् आत्मामें वा उस ब्रह्ममें जो लीन होरहाहै तिसके विषे अर्थात् (स्थितप्रज्ञस्य) जिसकी बुद्धि आत्माहीमें स्थिर होरही है तिसके विषे "(काभाषा?)" क्या भाषा है ? अर्थात् क्या लक्षण ? क्या व्याख्या ? वा क्या परिच्छेद है ? वह किस प्रकार पुकाराजाता है ! तथा (स्थितधीः) स्थिर बुद्धिवाला स्वयं (किंप्रभाषेत) क्या वोलता है ? (किम् आसीत) कैसे वैठता है ? और (किम् व्रजेत) कैसे चलता है? सो मुझे समझाकर कहो! ॥ ५४ ॥

भावार्थः----श्यामसुन्दर व्रजकिशोर भक्तचित्तचोरने जव अर्जुनसे यों कहा, कि "समाधिस्थ पुरुषको योगकी प्राप्ति होती है इसलिये तू अचल समाधिको प्राप्त कर" ! तव इतना सुनतेही अर्जुनके हृदयमें तीन चार प्रकारके प्रश्नोंके वीज उत्पन्न हो आये और ऐसी श्रद्धा वढी, कि उताहुल होकर वडी शीघ्रताके साथ एकवारगी चार प्रश्न एकसाथ करगया। प्रश्नकर्त्ताको उचित है, कि स्थिरतापूर्वक उत्तर देनेवालेसे एक एक प्रश्न करे और एकके पश्चात् दूसरे का उत्तर पाताजावे, पर अर्जुनने व्याकुल होकर ये चार प्रश्न एकसाथ करदिये। इसका कारण यह है, कि उसने अपने मनमें यह विचारा, कि ऐसे घोर युद्धके समय ऐसा न हो, कि मेरे मनकी वात मन ही में रह जावे। क्योंकि जो किसी शत्रुने झट युद्धका प्रचार कर वाण प्रहार करना आरंभ कर दिया तो श्यामसुन्दर इस आत्मज्ञान तथा भगवत्-स्वरूपकी प्राप्तिका विषय छोड मुझे वाणप्रहार करनेकी आज्ञा देदेवेंगे। फिर तो युद्धकलामें लगजानेसे मनकी वात मनही-

में रहजावेगी। इसलिये जहांतक शीघ्र सम्भव हो अपने मनकी सब बातें एक-बारगी खोलदूं। युद्धसे पहिले जहां तक अवकाश मिलेगा उत्तर सुनलूंगा। यदि दो एक प्रश्न रहजावेंगे तो आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र युद्धके पश्चात् मुझे उपदेश करदेवेंगे। अथवा मध्यमें अवसर मिलने पर कृपादृष्टि कर मेरी अभिलाषा पूर्ण करदेवेंगे।

जिनकी प्रज्ञा [बुद्धि] सदा एकरस स्थिर है, ऐसे स्थितप्रज्ञ दो प्रकारके है। एक वे जो समाधिस्थ होते हैं। दूसरे वे जो समाधिसे उत्थानको प्राप्त होते हैं अर्थात् जगपडते हैं। इन दोनों प्रकारके स्थितप्रज्ञोंके विषय अर्जुनके चार प्रश्न हैं। उन चार प्रश्नोंमें एक प्रश्न इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें किया है और शेष तीन प्रश्न जो उत्थान पाये हुए अर्थात् समाधिसे जगाये गये हुए स्थितप्रज्ञ पुरुषोंके लिये हैं, इस श्लोकके उत्तरार्धमें किये हैं।

तहां प्रथम प्रश्न क्या है? सो सुनो! अर्जुन भगवान्‌से कहता है, कि [**स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव !**] हे सुन्दर केशवाले वासुदेव ! जो पुरुष समाधिस्थ हैं; अर्थात् योग साधन करते-करते समाधि तक पहुंचगया है तथा उस समाधिमें स्थिर होजाने से जिसकी प्रज्ञाकी स्थिति आत्मामें होगयी है अर्थात् जो उस परमात्मामें लीन हो दायें, बायें, और ऊपर, नीचेकी ओर कुछभी न देखकर केवल शांभवीमुद्रा द्वारा चढते-चढते ब्रह्मरन्ध्र तक चढगया है। तहां सहस्रदलकी कर्णिकामें जिसकी बुद्धि अटल हो टिक रही है, उसकी क्या भाषा है? अर्थात् लोग उसको किन लक्षणोंसे वर्णन करते हैं? मुख्य अभिप्राय यह है, कि उसके पह-

जानने के लिये कौनसी परिभाषा+ बनी हुई है ? अर्थात् आचार्य्यों ने कौनसे विशेष स्वरूपोंके द्वारा उसकी पहचान बतायी है ? सो हे केशव ! मुझपर दयाकर कहो ! (यही प्रथम प्रश्न है जो समाधिस्थ-स्थितप्रज्ञ पुरुषोंके विषय है) ।

अब अर्जुनने आधे श्लोकमें समाधिसे जगेहुए पुरुषोंके लिये जो तीन प्रश्न किये हैं सो कहते हैं [**स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्**] अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! जो समाधिसे जगगया है अर्थात् जिसकी मनोवृत्ति बहुकाल पर्यन्त समाधिमें रहकर फिर इस संसारकी ओर लौट पडी है और जो सूर्य्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी, और दायें-बायें, देखने लग गया है, उसके विषयमें भी समझाकर कहो ! जैसे निद्रासे जगा हुआ पुरुष चारोंओर देखताहुआ अपने व्यवहारानुसार बोलता है, बैठता है, चलता है; ऐसे यह स्थितधी पुरुष समाधिसे जगकर क्या बोलता है ? कैसे बैठता है? कैसे चलता है ? इन तीनों बातोंको भी समझाकर कहो !

प्रथम प्रश्न -- " किंप्रभाषेत" के पूछनेका अभिप्राय यह है, कि जैसे साधारण पुरुष निद्रासे जगकर अपने, पुत्र,पौत्र, स्त्री इत्यादिसे प्यार भरी बातें करने लगजाता है। ऐसे ही समाधिसे जगाहुआ भी करता है अथवा उसके भाषणमें किसी अन्य प्रकारकी विशेषता है। अथवा यों अर्थ करलो, कि जैसे साधारण पुरुष अपनी स्तुति और निन्दा सुनकर हर्षविषादको प्राप्त हो स्तुति करने वालोंके साथ प्रियभाषण और निन्दा करनेवालों के साथ कठोर भाषण करता है ऐसेही यह

+ परिभाषा—पदार्थ विवेकानाचार्य्याणां युक्तियुक्त वाक् ।

स्थितप्रज्ञ भी करता है अथवा इसमें कुछ विशेषता है ?

द्वितीय प्रश्न–" किमासीत " पूछनेका यह अभिप्राय है, कि जैसे साधारण पुरुष निद्रासे जगनेपर अपने करगहमें जा कपडा बुनने लगजाता है, कोई बैठकर वस्त्र सीने लग जाता है, कोई बैठकर नाज तोलने लगजाता है। इसीप्रकार समाधिसे उत्थित पुरुष भी अपने किसी व्यवहारमें जा बैठता है अथवा इसकी बैठकमें कुछ विशेषता है ?

तृतीयप्रश्न= " व्रजेत किम् ? " पूछनेका यह अभिप्राय है, कि जैसे साधारण प्राणी अपने सुख, दुःख, हानि, लाभ इत्यादिमें हर्षविषाद प्राप्त करता हुआ संसारमें छल, कपट वा धूर्त्ततासे अपना अर्थ सिद्ध करलेता है ऐसे ही यह समाधिसे जगा हुआ पुरुष भी करता है अथवा इसमें कुछ अन्य प्रकारकी विशेषता है ?

इस उत्तरार्द्ध श्लोकके तीन प्रश्न और पूर्वार्द्ध श्लोकका एक प्रश्न जो अर्जुन पहले करआया है, सब मिलकर चार प्रश्न हुए।

इन प्रश्नोंके पूछनेसे अर्जुनका मुख्य तात्पर्य्य यही है, कि समाधिस्थ-स्थितप्रज्ञ× जिसकी बुद्धि स्थिर है और जो समाधिका अखण्ड सुख भोगता है, उसका लक्षण क्या है ? उसको कैसे पहचानना चाहिये? वह अपनी स्थितप्रज्ञताके लिये किस प्रकारकी क्रियाओंका अभ्यास करता है ? सो हे केशव ! मुझे समझाकर कहो! यहां केशव शब्द प्रयोग करनेका तात्पर्य्य यह है, कि जैसे तुमने केशी दानवका वधकर जीवोंको सुखीकर दिया है ऐसे मेरे मोहरूप दानव

× अभिनवगुप्ताचार्य्यने अपनी टीकामें " स्थित " के स्थान में ' स्थिर " शब्दका प्रयोग किया है अर्थात् 'स्थिर प्रज्ञ' और 'स्थिरधी' लिखा है।

को नाशकर मुझे सुखी करो ॥ ५४ ॥

इन प्रश्नोंको श्रवणकर भगवान् बोले —

श्री भगवान् उवाच

मू०—प्रजहाति यदा कामान् सर्व्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मनातुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
॥ ५५ ॥

पदच्छेदः— हे पार्थ ! (पृथापुत्र !) यदा (यस्यामवस्थायाम् । यस्मिन् काले वा ।) आत्मना (स्वप्रकाशचिद्रूपेण) आत्मनि (परमानन्दमयप्रत्यगात्मस्वरूपे) एव (निश्चयेन) तुष्टः (परमार्थदर्शनामृतरसलाभेन परितृप्तः) [सन्] मनोगतान् (संकल्पात्मके मनस्येव प्रविष्टान् । हृदिस्थितान्) सर्वान् (समस्तान् । निरवशेषान्) कामान् (काम्यमानान्विषयान्) प्रजहाति (प्रकर्षेण समूलं परित्यजति) तदा (तस्मिन्काले) स्थितप्रज्ञः (आत्मन्यात्मविवेकजया प्रज्ञया प्रतिष्ठितः) उच्यते (भाष्यते । व्यपदिश्यते) ॥ ५५ ॥

पदार्थः—(पार्थ !) हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! (यदा) जब प्राणी (आत्मना) अपने आत्मामें (एव) निश्चयकरके (तुष्टः) सर्व प्रकार सन्तुष्ट रहकर (मनोगतान्) अपने मनमें प्रवेश कीहुई (सर्वान्) सर्व प्रकारकी (कामान्) विषयकामनाओंको (प्रजहाति) त्याग देता है (तदा) तब वह (स्थितप्रज्ञः) स्थितप्रज्ञ अर्थात् स्थिरबुद्धिवाला (उच्यते) कहाजाता है ॥५५॥

भावार्थः-- अब श्री आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र इस श्लोकसे आरंभ करके इस अध्यायकी समाप्ति पर्य्यन्त **समाधिस्थ-स्थितप्रज्ञ** तथा **समाध्युत्थित-स्थितप्रज्ञके** लक्षण, पहचान, साधन इत्यादिका विषय कथन करतेहुए अर्जुनके चारों प्रश्नोंके उत्तरकी पूर्ति करेंगे। इस-लिये कहते हैं, कि [**प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मनातुष्टः**] हे पृथाका पुत्र अर्जुन! जो अपने आत्मासे अपने आत्मा हीमें सन्तुष्ट रहनेवाला पुरुष है अर्थात् आत्मानन्दमें मग्न रहनेवाला आत्मज्ञानी है वह जब अपने सर्व प्रकारके संसृत लाभसे निरपेक्ष होकर अपने हृदयकी सर्वप्रकारकी कामनाओं का एकदम परित्याग करदेता है "**स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते**" तबही वह **स्थितप्रज्ञ** कहाजाता है। श्री गोविन्दने इस श्लोकको मानों स्थितप्रज्ञ के लक्षणोंका प्रथम **परिच्छेद** कहसुनाया। अर्थात् स्थितप्रज्ञके पहचानोंमें से प्रथम पहचानका वर्णन किया। इसलिये पाठकोंको चाहिये कि इस श्लोकको आत्मानन्दमें विहारकरनेवाले पुरुषोंकी प्रथम भाषा समझें। अर्जुनका प्रथम प्रश्न भी यही है, कि "का भाषा" अ-र्थात् स्थितप्रज्ञोंकी भाषा क्या है? अर्थात् लोग उसे कैसे पुकारते हैं? सो भगवानने कहसुनाया, कि सर्वप्रकारकी कामनाओंका त्याग अपने आत्मा ही में सन्तुष्ट रहना स्थितप्रज्ञोंकी प्रथम भाषा अर्थात् पहचान वा लक्षण है।

शंका— जब मुख्य अभिप्राय कामनाओंका परित्याग करदेना ही है तो जो दरिद्र हैं केवल पेटभर खालेते हैं, ठण्डा जल पीकर नींदभर सोलेते हैं, जिनके चित्तमें कभी किसी प्रकारकी कामना नहीं

उठती, जो न वेद पढकर अग्निहोता हुआ चाहते हैं, न यज्ञ करके स्वर्ग जाना चाहते हैं, न किसी शत्रुसे युद्धकर राजपाट चाहते हैं, वे ही स्थितप्रज्ञ क्यों नहीं कहे जावेंगे ?

समाधान—दरिद्र अपनी कामनाओंकी पूर्तिमें असमर्थ हैं। इसलिये विषय-भोगोंकी प्राप्तिसे निराश होकर वे कुछ किसी प्रकार की कामना नहीं करते। ऐसोंको यदि कहीं राजगद्दी मिलजावे तो उनके मनमें उसी समय नाना प्रकारके सुख भोगनेकी इच्छा उपज आवेगी। पर जो राजा जनकके समान सर्वसुखकी सामग्री पाकर विषयोंके मध्य निवास करता हुआ किसी प्रकारकी कामना नहीं रखता वही कामनारहित कहा जावेगा। क्योंकि समर्थ होनेपर भी वह किसी प्रकार की कामना नहीं करताहै। इसीलिये दोही प्रकारके प्राणी कामनारहित कहने योग्य हैं। एकतो वे जिनकी सब कामनायें पूर्ण होरही हैं। अर्थात् जो विषय भोगते-भोगते उपरामको प्राप्त होगये हैं। दूसरे वे जो गुरूपदिष्ट मार्गसे आत्मज्ञान प्राप्तकर कृतात्मा होरहे हैं। अर्थात् प्रथम आप्तकाम और दूसरे जो कृतात्मा हैं, येही दोनों अपने हृदयके भीतर प्रवेशकी हुई कामनाओंका परित्याग कियेहुए कहे जावेंगे। इसीकारण दरिद्र स्थितप्रज्ञ नहीं कहा जासकता। दरिद्र और स्थितप्रज्ञ दोनोंमें भींगे और भुनेहुए चनेके सदृश बहुत ही अन्तर है। भीगा चना पृथ्वीमें पडनेसे फिर डालपात देने लगजाता है, पर भूना चना पृथ्वीमें बोयेजानेसे डाल पात नहीं देसकता। इसीप्रकार दरिद्र और आप्तकाम-स्थितप्रज्ञके मनका भेद समझलो ! शंकामत करो ! सुनो !

श्रु०-ॐयदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः अथ मर्त्यो-

ऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते । (वृहदा० अ० ४ चतुर्थ ब्राह्मण श्रु०७) अर्थ— प्राणीके हृदयमें जितनी ^ कारकी कामनायें भरी हैं जब सब नष्ट होजाती हैं तब " **मर्त्य** " जीव " **अत्र** " इमी शरीरमें अमृतपद अर्थात् **कैवल्य परमपदको** प्राप्त होजाता है तथा ब्रह्ममें मिल जाता है । ऐसे पुरुषको ही **स्थितप्रज्ञ** कहते हैं । स्थितप्रज्ञ पुरुषकी यही प्रथम परिभाषा है और अर्जुनके प्रथम प्रश्नका उत्तर है ।

मुख्य अभिप्राय भगवानके कहनेका यही है, कि जो प्राणी सर्व प्रकार की कामनाओंको त्यागकर अपने आत्मासे अपने ही आत्मामें सन्तुष्ट हो समाधिस्थ होरहा है वही श्रेष्ठ **स्थितप्रज्ञ** कहा जाता है ॥ ५५ ॥

अब भगवान् अर्जुनके प्रश्न "**किम् प्रभाषेत**" का उत्तर देते हैं ।

मू ०—दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

पदच्छेदः--दुःखेषु (प्रारब्धपापकर्मपरिणामसंतापात्मकाध्यात्मिकादि त्रिविधेषु दुःखेषु) **अनुद्विग्नमनाः** (अचञ्चलचित्ताः । अक्षुभितमनाः) **सुखेषु** (प्रारब्धपुण्यकर्मपरिणामात्मकाध्यात्मिकादि त्रिविधेषु सुखेषु) **विगतस्पृहः** (आगामितज्जातीयसुखवृद्ध्याकांक्षारहितः) **वीतरागभयक्रोधः** (विगतारागभयक्रोधाः यस्मात् सः) **मुनिः** (मननशीलो विद्वान्) **स्थितधीः** (स्थितप्रज्ञः) **उच्यते** (भाष्यते) ॥ ५६ ॥

पदार्थः— (दुःखेषु) दुखोंके समय (अनुद्विग्नमनाः) जिसके मनको उद्वेग नही होता अर्थात् व्याकुलता नहीं होती तथा (सुखेषु) सुखमें (विगतस्पृहः) स्पृहा नहीं होती अर्थात् सुख बढानेकी कांक्षा नहीं होती और (वीतरागभयक्रोधः) जिसके राग, भय और क्रोध विगत होगये हैं वही (मुनि) मननशील विद्वान् (स्थितधीः) स्थितप्रज्ञ अर्थात् सर्व अवस्थामें स्थिरबुद्धिवाला (उच्यते) कहाजाता है ॥५६॥

भावार्थः-अब इस श्लोकमें श्रीगोविन्द अर्जुनके दूसरे प्रश्नका उत्तर देते हैं। अर्जुनका दूसरा प्रश्न है, कि "**स्थितधीः किं प्रभाषेत**" (श्लो०५४) स्थितधी प्राणी क्या बोलता है ? तिसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि [**दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः**] जो प्राणी दुखके समय अनुद्विग्नमन है अर्थात् जिसके मनको उद्वेग प्राप्त नहीं होता और सुखमें स्पृहा अर्थात् सुखके बढनेकी इच्छा नहीं करता है। वहीतो स्थितप्रज्ञहै अर्थात् दुखमें उद्वेग भरे वचनोंको तथा सुखमें स्पृहा भरे वचनोंको नहीं बोलता। दोनों दशाओं में एकही समान बोलता है। तात्पर्य्य यह है, कि दुख पडनेसे साधारण जीवोंके समान विलाप न करके सब ईश्वरेच्छाकर आनन्दमय वचनोंको बोलता है। उदास नहीं होता। आध्यात्मिक,+ आधिभौतिक* और आधिदैविक× तीनों प्रकारके दुःख सुखमें समान

+ शोकमोहज्वरशिरोरोगादि निमित्तान्याध्यात्मिकानि। अर्थ- शोक, मोह, ज्वर, शिरकी व्यथा इत्यादिके जो कारण हो वे आध्यात्मिक दुःख वा ताप हे जाते हैं।

* व्याघ्रसर्पादि प्रयुक्तान्याधिभौतिकानि : अर्थ- व्याघ्र, सर्प इत्यादिके काट खानेके जो दुःख हैं वे आधिभौतिक कहेजाते हैं।

× अतिवातातिवृष्ट्यादि हेतुकान्याधिदैविकानि। अर्थ-अत्यन्त अन्धकार झकड़ चोर वृष्टि तथा ग्रहोंके फेर फारसे जो दुःख हैं वे आधिदैविक कहे जाते हैं।

रहता है और जो संतापात्मकवृत्तिसे उद्विग्न नहीं होता अर्थात् जैसे अज्ञानी पुरुष किसी प्रकारके क्लेश वा तापसे घबरा उठता है, ऐसे जो नहीं घबराता तथा " सुखेषु विगतस्पृहः " सुखकी प्राप्तिके समय स्पृहा भी नहीं करता वही स्थितधी है। अभिप्राय यह है, कि जैसे अग्निमें लकडी वा घृत डालनेसे अग्निकी ज्वाला बढती है ऐसे भिन्न-भिन्न प्रकारके सुखके प्राप्त होनेसे अज्ञानियोंकी कांक्षा

। नाग्निरिवेन्धनाद्याधाने य सुखान्यनुविवर्धते स विगतस्पृहः ।

*जैसे अध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनप्रकारके दुख हैं ऐसे ये सुख भी तीन प्रकारके है—

१. आध्यात्मिकसुख—प्रिय पदार्थोंके संग मिलनेका जो सुख है तथा अपनेमें विद्या, बल, अथवा अन्यप्रकारके सम्बन्धका जो सुखहै उसे आध्यात्मिकसुख कहते है।

२. आधिभौतिक= धन, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्र मित्र इत्यादिके सग जो सुख है उसे आधिभौतिक कहते है।

३. आधिदैविक= शीतल मन्द सुगन्ध वायुके चलनेसे तथा किसी उत्तम ग्रहके योग अथवा किसी देवताके वशीभूत होनेसे जो सुख है उसे आधिदैविक कहते है।

फिर किसी-किसी शास्त्रने इस सुखके चार भेद लिखे है—१ वैषयिक। २ आभिमानिक। ३. मानोरथिक। ४. आभ्यासिक। तहां विषयोंकी प्राप्तिसे जो सुख उसे वैषयिक कहते है राज्य-उच्चपदवी, विद्या तथा मान आदर पूजा इत्यादिका अभिमान करके सुख उसे आभिमानिक सुख कहते है।

नाना प्रकारके मनोरथो की आशा करके जो सुख उसे मानोरथिक-सुख कहते है।

सूर्य्य, चन्द्र तथा अन्य देवोंको नित्य नमस्कार करनेसे जो सुख, उसे आभ्यासिक सुख कहते है।

बढती है उसीको स्पृहा कहते हैं, सो जिस पुरुषकी स्पृहा निकलगयी है और जो सुखका अहंकारभी नहीं करता अर्थात् सुखी होनेपर ऐसे नहीं करता है, कि "अहो धन्योऽहं यस्य ममेदृशं सुखमुपस्थितं, कोवा ममतुल्योऽस्ति भुवने केनवोपायेन ममेदृशं सुखं न विच्छिद्येत०" अर्थ-मैं धन्य हूं, मुझको इतना सुख प्राप्त हैं। मेरे समान इस संसार में कौन है ?। मेरा यह सुख किसी प्रकार भी कभी नाश नहीं होसकता ; ऐसे जानकर जो मारे आनन्दके प्रफुल्लित चित्त होकर चारों ओर अकडता नहीं फिरता है, वही पुरुष विगतस्पृह कहाजाता है।

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! जो प्राणी दुःखमें उद्विग्न न हो और सुखमें स्पृहा न करे तथा [वीतरागभयक्रोधः] राग, भय, और क्रोधसे जो रहित हो वही स्थितधी वा स्थितप्रज्ञ कहलाता है। मुख्य अभिप्राय यह है. कि "विषयेषु रंजनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषोऽत्यन्ताभिनिवेशरूपः रागः । परेणापकृतस्य गात्रनेत्रादिविकारकारणं भयम् । परवशीकृत्यात्मानं स्वपरापकारप्रवृत्तिहेतुर्बुद्धि-वृत्तिविशेषःक्रोधः । अर्थ — नानाप्रकारके विषयोंमें जो बडे प्रेमके साथ अपनी चित्तवृत्तिका अभिनिवेश है अर्थात् मनकी वृत्तिका अत्यन्त झुकाव है उसे राग कहते हैं। दूसरे जीवोंसे किसी प्रकारका क्लेश पानेके डरसे जो अपने गात्र और नेत्रोंका विकृत होना है अर्थात् एक दम गात्रोंका सिकड जाना वा श्वासपर वा कलेजे पर घरघराहट वा कम्प होना तथा जिह्वाका बोलते समय रुकजाना, आखों के रंगका काला पडजाना इत्यादि जो विकृतपना है उसे भय कहते हैं॥

जिस समय प्राणी आप अपने वशमें न रहे, इतना अपने को भूल जावे, कि अपना और परायेके अपकार करने वा हानि पहुंचानेके लिये बुद्धिमें एक विशेष प्रकार की विचारहीन वृत्ति होजावे उसे क्रोध कहते हैं । भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! जिसके राग, भय, क्रोध, तीनों प्रकारके विकार छूटगये हैं वही पुरुष "स्थितधी" कहाजाता है ।

शंका-- दुःखमें अनुद्विग्न, सुखमें विगतस्पृह, तथा राग, भय, और क्रोधसे रहित होना असंभव देखपडता है। क्योंकि पूर्व के इतिहासोंसे ऐसा बोध होता है, कि बडे बडे ऋषि और महर्षिगण जिनको देवता देवी मस्तक झुकाते हैं, जिनकी गणना बडे-बडे महानुभावोंमें है, इन विकारोंके वशीभूत होरहे थे जैसे दुर्बासाका विष्णुके चक्रके भयसे उद्विग्न होकर भागते फिरना । महर्षि नारदका शील निधि राजाकी कन्याको देख विषयसुखकी इच्छामें डूबजाना तथा उसके न मिलने से उद्विग्न होकर क्रोधमें आ विष्णुको शाप देना । महर्षि पराशरका धीमरकी कन्या देख कामातुर होना । विश्वामित्रका क्रोधमें आकर वशिष्ठके सौ पुत्रोंको मारडालना । परशुरामका क्रोधमें आकर क्षत्रियोंका नाश करना इत्यादि चरित्रोंके देखनेसे ऐसा अनुमान होता है, कि दुःखमें अनुद्विग्न होना, सुखकी इच्छा न करनी, क्रोधके वशीभूत न होना, असंभव है? फिर ऐसी दशामें स्थित-प्रज्ञ वा स्थितधी कोई नहीं होसकता ।

समाधान- जो लोग समर्थ हैं उनको किसी प्रकारका दोष

लगही नहीं सकता। क्योंकि उनके उद्वेग, स्पृहा, राग, भय, क्रोध इत्यादि विकारोंमें नहीं गिने जासकते जैसे गंगा, सूर्य्य और अग्निदेव सर्व प्रकार के रस ग्रहण करते हैं, पर इनको कोई मन्द नहीं कहता । गंगामें गंगा पूजने वालेके हाथोंसे कस्तूरी, अगर, मलय, पुष्प, पान, रोली इत्यादि सुन्दर सुगन्ध वस्तु डाली जाती हैं और मृतकोंके हाड, मांस, चर्म्म तथा मकर मत्स्यके मल मूत्र भी पडते हैं, पर इनसे गंगा शुद्ध वा अशुद्ध नहीं होसकती। इसी प्रकार सूर्य्य—देव अपनी किरणोंके द्वारा नानाप्रकारके अन्नोंके रस तथा मल मूत्र इत्यादिकोभी शोषण करते हैं, पर उनमें विकार नहीं होता। अग्निदेव सुगन्ध, दुर्गन्ध, सुवस्तु, कुवस्तु, इत्यादि सबोंको भस्म करलेते हैं, पर इनको कोई मन्द नहीं कहता और न ये तीनकालमें मन्द होसकते हैं। इसी प्रकार महानुभावोंमें जो उद्वेग, स्पृहा, राग, भय, और क्रोध दृखेउ।वें तो जानो, कि वे विकार नहीं हैं। वे किसी न किसी महान् उपकारके अथवा महान् कार्य्यके कारण हैं। महानुभाव जब जहां जिस क्रियासे ससारका कल्याण देखते हैं, उसके करनेके लिये तत्पर होजाते हैं। जैसे महर्षि पराशरने जब यह देखा, कि इस समय ऐसा सुन्दर लग्न बीत रहा है, कि यदि मैं अपना वीज किसी कन्यामें स्थापित करदूं तो उससे एक ऐसा रत्न उत्पन्न होगा जो वेदोंका विवरणकर वेदान्त इत्यादि शास्त्रोंको तथा नाना प्रकारके पुराणों-को कथन कर मृत्युलोकका बहुत वडा उपकार करेगा। उस समय मत्स्योदरी कन्या उनके सामने आगयी उसके गर्भमें अपना वीज स्थापन करदिया। कामसुखके तात्पर्य्यसे भोग नहीं किया। यदि कामकी इच्छा होती तो एक ही वार क्यों ? बार बार उस कन्याके संगकरनेकी

इच्छामे उसे विवाह द्वारा अपनी स्त्री बनालेते अथवा दण्ड कमण्डल फेंक कर उसके दास बनजाते।उन्हें तो केवल व्यासदेवको उत्पन्नकरदेना था। दूसरीबात यह है, कि जो भगवत्स्वरूपमें समाधिस्थ होचुका है,जिसको स्थितप्रज्ञ और स्थितधी कहसकते हैं उसका योगक्षेम भगवत्के हाथमें रहता है। इसलिये जब कभी पूर्वजन्मार्ज्जित अति उग्र प्रारब्धकी प्रेरणा से उनके हृदयमें अहंकारादि विकारोंका उदय होजाताहै तव भगवान् उनकी रक्षाका यत्न करता है। जैसे नारदके हृदयमें प्रारब्धवश जब कामके जीतनेका अहंकार हो आया और अपनी बडाई अपने मुंहसे तीनों देवताओंके सम्मुख जाकरी तव विष्णुभगवान्ने उनके अहंकारको तोडनेके लिये मायाका नगर तथा मायाकी कन्या बना उनको चेता दिया, कि कामजित होनेका अहंकार मत किया करो! इस प्रकार परशुराम को भी जानो! जब क्षत्रिय राजाओंमें मदका अधिक प्रवेश होगया, मारे मदके राजनीति भूलकर ऋषियोंके यज्ञ करनेकी गैया छीनने लगे तब परशुरामने इनको दण्ड देनेके निमित्त तथा अन्यायी क्षत्रियोंसे भारतदेशको पवित्रकरने के निमित्त क्षत्रियोंसे राज छीन ब्राह्मणोंको दान देदिया। इनके क्रोधको क्रोध मत कहो।

देखो! सागरमें जवार-भाटा आना सागरकी गंभीरताको नाश नहीं करसकता। क्योंकि यात्रियोंकी नौका जो सूखी भूमिमें पडीरहती है उस जवार-भाटासे जल पाकर चल निकलती है और उनको अपने स्थानपर पहुंचा देती है। इससे प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि इस जवार-भाटाके लगनेसे परायेका उपकारभी होजाताहै और सागरकी गंभीरतामें कुछभी दोष नहीं लगता। इसीप्रकार महानुभावों के क्रोधसे साधारण प्राणि-

योंको शिक्षा मिलती है, पर उन महानुभावोंकी बुद्धिकी स्थिरतामें किसी प्रकारका दोष नहीं लगता। यहां शंका मतकरो!

तीसरी बात यह है, कि काम क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार ये पांचों तत्त्व अत्यन्त प्रबल बनायेगये हैं पर इनमें प्रत्येकके दो दो अंग हैं। शोभन (Fair Portion.) और कपूय (Unfair Portion.) इसलिये इनके दोनों अंगोंमें केवल शोभनका ग्रहण करना और कपूय अंगका परित्याग करना उचितहै। जैसे कामका शोभन अंग उतनाही है जितनेसे सन्तानकी उत्पत्ति होसके। इससे इतर परस्त्री इत्यादिमें जो कामका वपन है वह कपूय अंग है। यदि एकवारगी सम्पूर्ण काम ही को प्राणी त्याग देवे तो सृष्टिकी वृद्धि होही नहीं सकती। इसी प्रकार क्रोधका शोभन-अंग उतना ही है जो बालकों को तथा भृत्योंको अपने-अपने आचरण शुद्ध रखनेकी शिक्षाके लिये हो। निर्बल जीवोंको क्रूर जीवोंसे बचानेके निमित्त हो। जैसे राजनीतिमें लुटेरोंको कारागार वा शूली इत्यादिका दण्डदेना। इससे इतर जो क्रोधका अंग है वह कपूय है और त्याज्य है। लोभका अंगभी उतनाही ग्राह्य है जिससे मनुष्य अपनी दशाकी उन्नति करसके। जैसे बडे बडे परिडतोंको पूज्य होते हुए देख विद्यार्थियोंका विद्या उपार्जनमें मन लगाना इत्यादि। इससे इतर जो लोभका अंगहै, जिससे प्राणी चोरी इत्यादि करता है, त्याज्य है। इसीप्रकार मोहका उतनाही अंग ग्राह्य है जिसके द्वारा दया तथा रक्षा इत्यादि कीजावे। इससे इतर मोहका अंग अशुभ है और त्याज्य है। अहंकारका अंगभी उतनाही ग्राह्य है जिससे मनुष्य अपने

धर्म्मकी उन्नति करसके। जैसे मैं ब्राह्मण हूं इसलिये मुझको अध्ययन, अध्यापन, यजन, हवन इत्यादि करना चाहिये। मैं क्षत्रिय हूं इसलिये मुझको रणसे नहीं भागना चाहिये इत्यादि। इससे इतर अहंकारका अंग कपूय अर्थात् अशुभ है और त्याज्य है। महात्माओंमें जो इन पांचों तत्त्वोंके अंग देखेजाते हैं वे शोभन होते हैं। कपूय अंगोंका ग्रहण विद्वान् महापुरुष नहीं करते। इसलिये वे स्थितप्रज्ञ और स्थितधी अवश्य कहे जावेंगे।

लो! और सुनो! संखियां एक प्रकारका विष है। रुधिरमें दौड जानेकी एक अपूर्व शक्ति इसे प्राप्त है। खाते ही सप्त धतुओंमें शीघ्र दौडजाती है। वैद्योंने इसकी यह शक्ति देख इसे औषधियोंमें मिला देना उचित समझा जिससे वह औषधि भी इसके साथ शीघ्र रोगीके सप्त धातुओंमें प्रवेश कर रोगको निकाल बाहर करे। इससे सिद्ध होता है, कि विषके भी शुभअंगका ग्रहण करना संसारके उपकारके लिये है। इसलिये निश्चय रखो, कि जैसे अमृतको कभी मृत्यु नहीं होसकती, ऐसे महानुभावोंमें कभी विकार नहीं होसकता। जैसे क्षीर सागरमें मेघ कांजीकी वृष्टि करे तो उससे क्षीरसागरका जल फट नहीं सक्ता। इसी प्रकार स्थितप्रज्ञोंकी प्रज्ञा तीन कालमें भी विकारयुक्त नहीं होसकती।

प्रिय पाठको! अज्ञानी पुरुष जो दुःख पडनेपर उद्वेगको प्राप्त हो मनमें विचारने लगता है, कि मेरे ऐसे मन्द प्रारब्ध क्यों हुए? ऐसे बुरे कर्म मैंने क्यों किये? जिनका फल इस प्रकार भोगना पडता है। वह यदि पापकर्म करनेहीके समय विचारलेवे, कि मैं ऐसे पाप क्यों करूं जो आगे भोगना पडेगा तो संभव है, कि उससे पाप होवे ही

नहीं । पाप न होनेसे दुःख न हो । दुःख न होनेसे उद्वेग न हो । इसी कारण भगवान अर्जुनसे कहते हैं, कि जो प्राणी दुखमें उद्वेग-रहित, सुखमें स्पृहारहित तथा राग, भय, क्रोध इत्यादिसे शून्य है और साधुजनोंके मध्य बैठकर सदा उद्विग्न रहित वचनोंको बोलता है । कैसीभी कठोर अवस्था उपस्थित होजावे, कैसीभी आपत्ति मस्तक-पर आगिरे, पर आनन्दचित्त हो आत्मानन्दमें मग्नहो भगवदाराधन निमित्त सब प्राणियोंको उपदेश करताहै तथा अपने समीप बैठनेवाले शिष्यादिकोंको मधुर भाषण द्वारा उद्वेग, स्पृहा, राग, भय, क्रोध इत्यादिसे रहित होनेका उपदेश करता रहता है वही स्थितधी है और यही स्थितधीका प्रभाषण करना है ।

यह अर्जुनके दूसरे प्रश्न " स्थितधीःकिम् प्रभाषेत "* ? का उत्तर हुआ ॥५६॥

प्रिय पाठको ! स्थितप्रज्ञ होनेका शीघ्र यत्न करो ! श्रु०-- उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत॥ उठो ! उठो ! जागो ! जागो ! महानुभावोंकी संगतिमें जा उनसे स्थितप्रज्ञताकी प्राप्ति करो ! क्योंकि जब तक स्थितप्रज्ञ नहीं होगे ईश्वरकी प्रसन्नता तुम पर नहीं होगी । चौरासी लक्ष योनियोंमें भटकते फिरोगे । इसलिये भगवानके मुखारविंद से निकलेहुए इस उपदेशोंका अन्तःकरणसे दृढकर ग्रहण करो ! केवल इन श्लोकोंके पाठ करजानेसे वा अर्थ समझजानेसे ही मोक्षकी प्राप्ति नहीं होगी । बिना कुछ आचरण किये जन्म जन्मान्तरोंके झंझट नहीं

* ہے وہ عارف جسکو غصہ شوق اور نفرت نہیں *
رنج میں کلفت نہ آرام سے الفت نہیں *

छूट सकते निश्चय जानो !

अब भगवान् इसी दूसरे प्रश्नके उत्तरको अधिक दृढ करनेके तात्पर्यसे कहते हैं ।

मू० यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
॥ ५७ ॥

पदच्छेदः—यः (मुनिः । विद्वान्) **सर्वत्र** (सर्वेषु धनपुत्रदारदेहजीवनादिषु) **अनभिस्नेहः** (स्नेहवर्जितः) **तत् तत्, शुभाशुभम्** (मंगलामंगलौ । अनुकूलप्रतिकूलौ। हर्षविषादौ) **प्राप्य** (उपलभ्य) **न** (नहि) **अभिनन्दति** (हृष्यति। तुष्यति। सन्तुष्टोभूत्वा शुभप्रापयितारं प्रशंसति । हर्षगर्भस्तुतिवचनं नाभिभाषते) **न** (नैव) **द्वेष्टि** (अन्तरसूयापूर्वकं निन्दति। द्वेषगर्भितं निन्दावाक्यं वक्ति) **तस्य** (हर्षविषादवर्जितस्य) **प्रज्ञा** (परमात्मतत्त्वविषयाबुद्धिः) **प्रतिष्ठिता** (प्रतिष्ठायुक्ता । गौरवान्विता । संस्कृता) [भवति] ॥५७॥

पदार्थः—(**यः**) जो पुरुष (**सर्वत्र**) धन, दारा, पुत्र इत्यादि अपने परिवारमें तथा अपने देहमें (**अनभिस्नेहः**) स्नेह नहीं रखता है और (**तत् तत्**) तिस–तिस (**शुभाशुभम्**) शुभ और अशुभको (**प्राप्य**) प्राप्त कर (**न अभिनन्दति**) हर्षको प्राप्त नहीं होता और (**न द्वेष्टि**) द्वेष नहीं करता (**तस्य**) उसी प्राणीकी (**प्रज्ञा**) बुद्धि (**प्रतिष्ठिता**) प्रतिष्ठित कही जाती है अर्थात् वही स्थित-

प्रज्ञ और स्थितधी कहा जाता है ॥५७॥

भावार्थः— श्रीभक्तवत्सल दीनदयालु जगत हितकारी मदन-मुरारी ने इससे पूर्व श्लोकमें अर्जुनके दूसरे प्रश्नका अर्थात् "किं प्रभाषेत" ? का संक्षेपसे उत्तर दिया अब उसीको दृढ करनेके तात्पर्य्यसे इस श्लोकमें कहते हैं, कि [**यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टि**] जो अपने देह, जीव, धन, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्र इत्यादि सम्बन्धियोंसे स्नेह नहीं रखता वही अनभिस्नेह कहाजाता है। अर्थात् जो प्राणी अपना साराजीवन इनहीकी रक्षा पालन, पोषण इत्यादिमें नहीं बिताता, जिसकी मनोवृत्ति इनके स्नेहमें नहीं फंसती है, जैसे शुद्ध श्वेतवस्त्र अग्निके धूम लगनेसे एकवारगी काला होजाताहै ऐसे जिस प्राणीकी मनोवृत्ति इनके स्नेहसे मलीन नहीं होती है तथा जैसे साधारण व्यक्ति पुत्र कलत्र इत्यादि सम्वन्धियोंके दुःखीहोनेसे दुःखी हो रोने लगताहै उनकी मृत्यु होजानेसे आपभी मरनेकी चेष्टा करने लगजाताहै, ऐसे इनकी दशा देख जो अपनेको मलीन नहीं करता है, उसीको अनभिस्नेह कहते हैं अर्थात् इनके शुभ अर्थात् सुख, लाभ, जीवन, यश, हर्ष, मंगल इत्यादि की प्राप्तिके समय अभिनन्दन नहीं करता है और जो इनके अशुभ अर्थात् दुःख, हानि, मरण, अपयश, शोक इत्यादि की प्राप्ति समय दुखी नहीं होता है और जिनके द्वारा उसको सुख प्राप्त हुआहै उनकी प्रशंसा नहीं करता है अर्थात् लोगोंके बीचमें बैठकर ऐसा नहीं बोलता है, कि मेरी स्त्री ऐसी सुन्दरी है कि उसे देख अप्सरा भी लज्जित होती हैं और ऐसी पतिव्रता है, कि मुझे छोड और किसी पुरुषको आँख उठाकर भी नहीं देखती, मेरा पुत्र चतुर और विद्वान् है, मेरा परिवार समय

पडनेपर मेरेलिये प्राण अर्पण करसकता है । इसी दशाको अभिनन्दन कहते हैं । जो प्राणी ऐसे बोलकर इनकी स्तुति नहीं करता है, उसीकी प्रज्ञा स्थिर कही जाती है । इसीप्रकार जो अपने विरोधियोंसे विरोध नही करता है, तथा किसीसे किसीप्रकारके अशुभकी प्राप्ति होनेसे द्वेष नहीं करता है, अथवा अपनेसे अधिक किसीको धनवान, बलवान, विद्वान वा रूपवान देख उससे द्वेषकर उसकी निन्दा नहीं करता है, [तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता] उसी प्राणीकी प्रज्ञा प्रतिष्ठिता कहीजाती है । क्योंकि जो स्थितप्रज्ञ है वह जानता है, कि इस प्रकार अपने तथा अन्य प्राणियोके अभिनन्दन और द्वेष से हानि, वा लाभ कुछभी नहीं है । ऐसे विचारकर जो केवल सभामें बैठ ऐसा उपदेश करता है, कि संसारको मिथ्या जान अपनी सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र इत्यादिसे तथा अन्य प्राणियों द्वारा सुख वा दुखकी प्राप्ति होनेसे किसी की स्तुति निन्दा करनेकी, किसीसे रागद्वेष रखनेकी, वा उद्विग्न होने की आवश्यक्ता नहीं है । इस प्रकारकी वृत्ति रखने वालेको स्थितप्रज्ञ कहते हैं और यही स्थितप्रज्ञोंका भाषण करना है ।

प्रश्न—स्थितप्रज्ञ पुरुषकी बुद्धि ऐसी क्यों होजाती है ? राग, द्वेष, शुभ और अशुभकी प्राप्ति से चलायमान क्यों नहीं होती ? सर्वत्रसे "अनभिस्नेह" स्नेह शून्य क्यों होजाती है ? इस स्थितप्रज्ञको ऐसा कौनसा आनन्द मिलता है जिसे देख इन सर्व प्रकारके विषयानन्दको त्याग देता है !

उत्तर—श्रु०— तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नाऽन्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न

वाह्यं किंचन वेद नाऽन्तरम्॥ (वृहदा० अ० ४ ब्राह्म० ३ श्रु० २१)
अर्थ—जैसे परम प्रिय स्त्रीसे संपरिष्वक्त अर्थात् भोग निमित्त मिलनेपर अत्यन्त कामके सुखकी प्राप्तिके कारण प्राणीको बाहर भीतरकी कुछ भी सुधि नहीं रहती, ऐसे ही जब इस पुरुषकी प्रज्ञा आत्माके संग जामिलती है, अर्थात् भगवत्स्वरूपमें संलग्न होजाती है, तब इसे बाहर भीतरके सुख दुःखका वोध नहीं रहता। इसी विषयको भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि जब पुरुषकी प्रज्ञा आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान और भगवत् स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर मुडती है, जब उस रसमें मग्न हो सर्वत्रके स्नेह को भूल जाती है, शुभ, अशुभ, राग,द्वेष सबसे रहित होजाती है, तब ही वह प्रज्ञा प्रतिष्ठिता कही जाती है, तव प्राणी एवम् प्रकार स्थितप्रज्ञ होकर दूसरोंको भी स्थितप्रज्ञ होनेका उपदेश करता है। अर्थात् १. अहिंसा। २. सत्य। ३. अस्तेय। ४. ब्रह्मचर्य्य। ५. क्षमा। ६. धृति। ७. दया। ८. आर्जव। ९. मिताहार। १०. शौच। ११. तप। १२. सन्तोष। १३. आस्तिक्य। १४. दान। १५ ईश्वर पूजन। १६. सिद्धान्त वाक्य श्रवण। १७. ह्री। १८. मति। १९. जप। २०. हवन। २१. आसन। २२. प्राणायाम। २३. प्रत्याहार। २४. धारणा। २५. ध्यान। २६. समाधि। जो स्थितप्रज्ञ होनेके २६ साधन हैं, बिलग-बिलग जिज्ञासुओंको बताता रहता है। सो केवल मुखसे उच्चारण कर बताताही नहीं वरु उनके साधनकी रीति भी दिखलाता रहता है। जो कोई जिज्ञासु किसी भी अपनी शंकाको लेकर उसके समीप जाता है उसका समाधान आनन्द पूर्वक युक्ति और श्रुतियोंके प्रमाणानुसार मधुर शब्दोंमें करता रहता है। चाहे कितना भी कोई पुरुष उद्विग्न करे पर

कठोर भाषण नहीं करता । यही स्थितप्रज्ञोंका संभाषण है।

भगवानने एवम्प्रकार कहकर अर्जुनके दूसरे प्रश्न "स्थितधीः किम् प्रभाषेत?"के उत्तरको दृढ कर दिया ॥५७॥

अब भगवान् अर्जुनके तीसरे प्रश्न " किमासीत ? " का उत्तर अगले छ श्लोकोंमें देते हैं।

मू०—यदा संहरते चायं कूर्म्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
॥५८॥

पदच्छेदः— कूर्मः (कमठः) अङ्गानि (करचरणादीनि) इव (सदृशः) यदा (यस्यामवस्थायाम्) अयम् (यतिः)इन्द्रियाणि (चक्षुरादिबाह्यकरणानि) इन्द्रियार्थेभ्यः (शब्दादिविषयेभ्यः) सर्वशः (सर्वतः) संहरते (स्वभावेनैव संकोचयति । प्रत्याहरति । आत्मन्येव क्रोडीकरोति) तदा, तस्य (पुरुषस्य) प्रज्ञा (धीः) प्रतिष्ठिता (गौरवान्विता) [भवति] ॥ ५८ ॥

पदार्थः— जैसे (कूर्म्मः) कच्छप (अङ्गानि) सब अपने अङ्गोंको अपने भीतर समेटलेता है (इव) ऐसेही (यदा) जब योगमें (अयम्) यह यत्नकरनेवाला यति (इन्द्रियाणि) अपनी इन्द्रियोंको (इन्द्रियार्थेभ्यः) उनके विषयोंसे हटाकर (सर्वशः) सब

÷ केतु। केतः। चेतः। चित्तम्। क्रतु। असु। धीः। शची। माया। व्युनम्। अभिख्यः। ये प्रज्ञाके ११ नाम वेदोंमें आते हैं।

ओरसे अपने भीतर ही भीतर (संहरते) समेट लेता है तब (तस्य) उसकी (प्रज्ञा) बुद्धि (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठाके योग्य होती है अर्थात् तब ही वह स्थितप्रज्ञ कहाजाता है ॥ ५८ ॥

भावार्थः— अर्जुनका तीसरा प्रश्न यह है, कि "स्थितधीः किमासीत ?" इस प्रश्नका उत्तर श्यामसुन्दर इस प्रकार देते हैं, कि हे अर्जुन ! [यदा संहरते चायं कूर्म्मोऽङ्गानीव सर्वशः] जैसे कच्छू जल विहार करते-करते जब रात्रि आजाती है तब नानाप्रकारके उपद्रवोंसे अपनेको बचानेके लिये अपने सब अंगोंको अपने पृष्ठके भीतर समेट कर शान्त हो बैठजाता है वा शयन करजाता है । इसी प्रकार अपने साधनमें तत्पर चतुर योगी जो अपनी प्रज्ञाको सर्व उपद्रवोंसे बचानेका यत्न कररहाहै, जब ऐसा देखताहै, कि किसी विशेष कारणसे अब मेरी बुद्धि चलायमान होकर बिगडना चाहती है अर्थात् इन्द्रियां अपने विषयकी ओर खींचकर मेरी बुद्धि चलायमान किया चाहती हैं तब कच्छूके समान [इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता] सब प्रकारके विषयोंसे अपनी इन्द्रियोंको अपने अन्तरात्मामें समेटकर स्थिर हो शान्त बैठजाता है। ऐसी दशामें उसे किसी प्रकारका विषय नहीं सताता । जैसे सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त होनेसे सब इन्द्रियां

टिप्प०— ॐ यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयोह्यानन्दभुक् ०० (माण्डू० श्रु० नं० ५)

अर्थ— जब सोजानेसे यह प्राणी न कोई कामना करता है न कुछ स्वप्न देखता है, वही सुषुप्ति है । तिस सुषुप्तिमें सब इन्द्रियां एकीभूत हो जाती हैं, प्रज्ञा सिमट कर घन होजाती है, तथा प्राणी आनन्दमय और आनन्दभोगनेवाला होजाता है ।

अपने-अपने विषयोंको छोड एकीभूत होजाती हैं और उनके एकीभूत होनेसे प्राणी सब कामनाओंसे रहित हो आनन्दमय होजाता है। इसीप्रकार स्थितप्रज्ञकी सब इन्द्रियां अपने-अपने विषयोंको छोड एकीभूत होजाती हैं अर्थात् सिमटकर एक होजाती है । इनके सिमट जाने से वह पुरुष सब कामनाओंसे रहितहो आनन्दमय होजाताहै । जब एवम् पकार आत्मानन्द अनुभव करने लगजाताहै, तब " तस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता" उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित कही जाती है अर्थात् ऐसेको स्थितप्रज्ञ कहते हैं ।

शंका—स्थितप्रज्ञकी प्रज्ञा और सुषुप्तिवालोंकी प्रज्ञाकी दशा एकसमान देखी जाती है। सो सुषुप्ति मूर्ख, विद्वान्, पापात्मा, पुण्यात्मा इत्यादि सबोंको एक समान लगजाती है। तो क्या अच्छी बात है, कि योग क्रिया द्वारा प्रज्ञाक स्थिर करनेका परिश्रम क्यों किया जावे? उत्तम तो यही होगा कि प्राणी दिनरात सुषुप्ति ही में आनन्द पूर्वक पडे रहनेका यत्न करे। क्योंकि सुषुप्तिकी अवस्थाको भी आनन्दमय कहा है—(देखो टिप्पणी पृष्ठ ४७६)

समाधान—इसमें सन्देह नहीं, कि समाधि और सुषुप्ति दोनोंमें-प्रज्ञाकी समान दशा होजाती है, पर इन दोनों में अन्तर बहुत है। सुषुप्तिवाला प्राणी **प्रसुप्त** है और स्थितप्रज्ञ **प्रबुद्ध** है। अर्थात् सुषुप्तिवालोंमें अविद्या व्यापती है, इसलिये वह प्रसुप्त होनेके कारण अपनी दशाका कुछ बोध नहीं रखता है केवल जागजाने पर इतनाही कहता है, कि मैं पूर्ण प्रकार सुखसे सोगया था। पर यह नहीं कह सकता है, कि उस सुखका यथार्थ स्वरूप क्या है? प्रसुप्त हो जानेके

कारण प्रज्ञाघन होजानेसे अर्थात् बुद्धिका अहंकारमें लय होजानेसे उसे बाह्य वा अन्तरकी कुछभी सुधि नहीं रहती । पर प्रबुद्ध होनेके कारण समाधिस्थ पुरुष अपनी स्वच्छप्रज्ञा द्वारा अपने अन्तः रात्माके आनन्दका अनुभव करता है । मूर्खोंकी प्रज्ञाको केवल एक सुषुप्तिहीमें शान्ति रहती है और स्थितप्रज्ञोंकी प्रज्ञाको जाग्रती, स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय इन चारों अवस्थाओंमें शान्ति अर्थात् आत्मानन्दकी प्राप्ति रहती है । स्थितप्रज्ञोंकी चक्षु, श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियां मनके साथ-साथ अमृतस्वरूप आत्मामें मग्न हो अमृतस्वरूप होजाती हैं । आत्मा तो इन इन्द्रियोंको जानता है पर ये इन्द्रियां आत्माको नहीं जानतीं ।

सुनो ! मैं तुमको वृहदारण्यकोपनिषत्का प्रमाण देकर समझाता हूं ।

ॐ यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो यं वाङ् न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्य्याम्यमृतः ॥ १७ ॥

यश्चक्षुषि तिष्ठंश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्य्याम्यमृतः ॥१८॥

यःश्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यꣳश्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रꣳ शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्य्याम्यमृतः ॥१९ ॥

योमनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं योमनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्य्याम्यमृतः ॥ २० ॥ (वृह-दा० अ०५ ब्रा०७ श्रु० १७-२०)

अर्थ— जो वचनमें निवास करता हुआ वचनके भीतर प्रवेश किये हुए है जिसको वचन नहीं जानता, कि क्या है ? वरु वचन जिसका शरीर मात्र है , जो वचन को अपने भीतरही भीतर अपने

वशीभूत रखता है, वचनका प्रतिपालन और रक्षा करता है और सब बातोंके बोलने की शक्ति प्रदान करता है सोही यह आत्मा ईश्वर-स्वरूप अन्तर्य्यामी है और अमृत है।

जो चक्षुमें निवास करता हुआ चक्षुके भीतर ही भीतर प्रवेश किये हुए है, जिसको चक्षु नहीं जानती है वरु चक्षु जिसका शरीर है; जो भीतर ही भीतर चक्षुको अपने वशमें रखता है, उसकी रक्षा करता है और सर्व वस्तुओंके देखनेके लिये शक्ति प्रदान करता है वही यह अन्तर्य्यामी और अमृत आत्मा है। इसीप्रकार शेष दो श्रुतियों काभी अर्थ लगालो।

मुख्य तात्पर्य्य कहनेका यहहै, कि यदि यह वचन, चक्षु, श्रोत्र और मन आत्मासे भिन्न होते तो अवश्य यह प्रश्न योग्य था, कि स्थितप्रज्ञों की इन्द्रियां जाग्रत और स्वप्नमें कहां रहती हैं? क्या करती हैं? पर ये तो आत्मासे भिन्न कोई नहीं। आत्माहीके ये शरीर हैं। आत्माही द्वारा ये बोलती, सुनती, देखती और मनन करती हैं। इसलिये स्थितप्रज्ञोंकी सब इन्द्रियां सिमटकर आत्मस्वरूप होजाती हैं अर्थात् आप अपने यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करलेती हैं। चाहे उनकी अवस्था कैसी भी क्यों न हो। यहां शंका मत करो।

भगवान्का यही कहना है, कि जिस प्राणीकी सब इन्द्रियां कच्छूके समान सिमट कर आत्मामें लय होजाती हैं। ब्रह्माकार होकर भगवत्स्वरूपमें तदाकार होजाती हैं उसीकी प्रज्ञाप्रतिष्ठिता अर्थात गौरवयुक्त और प्रशंसनीय सदा एक रस होती है।

जैसे लाजवन्तीको छू देनेसे सब पत्तियां सिमट कर एक ठौर

होजाती है इसीप्रकार स्थितप्रज्ञोंकी प्रज्ञारूप लाजवन्ती आत्मज्ञान के स्पर्श होतेही सब ओरसे सिमटकर स्थिरताको प्राप्त होजाती है और अपने विषयको छोड देती है ॥ ५८ ॥

शंका—रोगोंसे व्याकुल और निराहार रहनेके कारण रोगीकी इन्द्रियां भी तो विषयोंसे रुकजाती हैं । किसी विषयकी प्रबलता उसको नहीं सताती । नाच, रंग तथा नाना प्रकारके आहार विहार सब उससे छूटजाते हैं । तो क्या वह रोगी भी स्थितप्रज्ञ कहा जावेगा ?

इसी शंकाके समाधान निमित्त भगवान् कहते हैं—

मू०—विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥
॥५९॥

पदच्छेदः— निराहारस्य (इन्द्रियैर्विषयानभुञ्जानस्य । उप-वासपरस्य । क्षुधासन्तप्तस्य रोगिणः । कष्टेन तपसि स्थितस्य वा) देहिनः (देहाभिमानिनोऽज्ञस्य) रसवर्जम्[+] (रसो रागो विषयेषु यस्तं वर्जयित्वा) विषयाः (रूपरसगन्धादयः) विनिवर्त्तन्ते (परावृत्ता-भवन्ति) [किन्तु] अस्य (स्थितप्रज्ञस्य यतेः) रसः (रञ्जनात्म-को विषयानुरागः) अपि, परम् (परमार्थतत्त्वं ब्रह्म । परमात्मानम् । भगवत्स्वरूपम् । वासुदेवम्) दृष्ट्वा (उपलभ्य) निवर्त्तते (नश्यति । उपशाम्यति । विलीयते) ॥ ५९ ॥

[+] रसम्—केचिदास्वाद्यन्मधुरादिकमाहुः ।

पदार्थः— (**निराहारस्य**) विषयोंसे अन्तर्मुख नहीं खींचनेवाले अथवा रोगोंके कारण वा कष्टसाध्य तपस्याके कारण निराहार रहनेवाले (**देहिनः**) देहाभिमानी मूर्खोंको (**विषयाः**) रूपरसगन्धादि विषय तो (**विनिवर्त्तन्ते**) निवृत्त होजाते हैं, पर (**रसवर्जम**) उन विषयोंका रस नहीं छूटता अर्थात् उन विषयोंका अनुराग, स्वाद वा मधुरता उनके चित्तसे नहीं जाती, किन्तु (**अस्य**) इस स्थितप्रज्ञ यतिका (**रसः**) अनुराग स्वाद वा मधुरता (**अपि**) भी उस (**परम्**) परब्रह्मस्वरूप परमानन्दमय भगवत्स्वरूपको (**दृष्ट्वा**) देखकर (**निवर्त्तते**) नष्ट होजाती है ॥५९॥

भावार्थ— पहले जो यह शंका उत्पन्न हुई, कि रोगग्रस्त प्राणी भीतो अनेक दिन आहार रहित होजानेसे किसी विषयकी इच्छा नहीं करता, तो क्या वह भी स्थितप्रज्ञ कहाजावेगा ?

श्री आनन्दकन्द व्रजचन्द इनके समाधानमें उत्तर देतेहैं, कि

[**विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः । रस वर्जम्**] नहीं आहार किया है विषयोंको जिस देहाभिमानीने अर्थात् जो शरीरको ही मुख्य जानता है, इसीके तुष्ट पुष्ट करनेके लिये नाना प्रकारके संयम व्रत नियम इत्यादिका साधन करता है, इन्द्रियोंको विषयोंसे अन्तर्मुख खैंचनेको समर्थ नहीं होता, केवल अपनी नाना प्रकारकी कामनाओंके सिद्ध करनेके लिये कष्ट साध्य तप वा व्रत इत्यादि करता है तथा जो रोगी-पुरुष रोग-ग्रस्त होनेके कारण नाना प्रकारके षट्रस भोजन वा स्त्रीसंगादि विषयोंके ग्रहणमें असमर्थ है, तिसे बाहरसे देखने मात्र ऐसा बोध होता है, कि उसके विषयोंकी निवृत्ति

होगयी है और ऐसा प्रगट होता है, कि इसने सबका त्याग करदिया है। किसीकी कामना कुछ नहीं रखता। पर जो सचमुच उसके भीतर टटोला जावे तो जिन विषयोंको वह त्यागे हुए देखपडता है उनका-रस अर्थात् उन विषयोंके स्वादका अनुराग उससे परित्याग नहीं हुआ। क्योंकि वह अपने तपका फल, राज विभव तथा इन्द्रलोकका सुख इत्यादि मांगता है। अथवा इस संसारमें भी किसी विशेष कारणसे घरके धन, स्त्री, पुत्रको त्यागकर विरागी तो होजाता है, पर उसका स्नेह मनमें लगे रहनेसे फिर मठ बनाकर महन्त बना अपने पुत्र, पौत्र, श्याला इत्यादि को चेला बना विषय—रसमें मग्न होजाता है। जैसे किसी अन्नका रस सहित बीज रस बने रहनेसे फिर पृथ्वीमें पडकर अंकुर, शाखा इ-त्यादि चारों ओरसे फैला वृक्ष बनजाता है, पर भूना हुआ बीज फिर अंकुर इत्यादि नहीं देता। इसी प्रकार विषय रससे रहित न होनेके कारण उसके चित्तमें फिर विषयकी शाखा प्रशाखायें निकलने लगजाती हैं।

इसी प्रकार रोगी भी रोग द्वारा क्लेश पानेके कारण तथा सन्निपात-ज्वरसे ग्रस्त होनेके कारण महीनों तक षटरस भोजन इत्यादि पदार्थोंकी ओर नहीं देखता। आहार विहारसे रहित रहता है। इन्द्रियोंके शि-थिल होजानेके कारण विषय भोगमें असमर्थ होजाता है। इस लिये विषयरहित देखाजाताहै पर उसके हृदयसे विषयोंका स्नेह नहीं जाता। सर्व प्रकारके विषयोंमें रस बना रहता है। भीतरही भीतर रसोंकी अधिकता होती रहती है और मनहीमन चिन्ता करता रहता है, कि जब रोगसे मुक्त होऊंगा तब सुन्दर स्त्रीसे विवाह करूंगा।

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! रोगी और स्थितप्रज्ञ एकसमान

नहीं होसकते। क्योंकि [**रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते**] जो स्थितप्रज्ञ और स्थितधी है उसका विषय उसके रसके साथ "परं दृष्ट्वा" उस परमरस भगवत् स्वरूपको देख निवृत्त होजाता है। क्योंकि जिसको भगवत्के रूप रसकी प्राप्ति हुई तो फिर उसकी दृष्टिमें जितने दूसरे रस हैं सब फीके पडजाते हैं । जैसे भ्रमर कमलके रसको पाकर अन्य पुष्पोंके रसकी कुछभी इच्छा नहीं करता । जैसे चक्रवर्त्ती किसी दूसरे राजविभवकी अभिलाषा नहीं करता । चिन्तामणि वा स्पर्शमणि (पारसमणि) का पानेवाला अन्य किसी मणिको नहीं चाहता । इसीप्रकार आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द तथा भगवत्स्वरूपानन्दका प्राप्त करनेवाला अन्य किसी रसकी इच्छा नहीं करता । क्योंकि भूने हुये वीजके समान उसके अन्तरके सब विषय-रस नष्ट होजाते हैं । जैसे कोई प्राणी राजाके मिलजानेसे राजमंत्री, द्वारपाल इत्यादिसे मिलनेकी परवा नहीं करता। इसी प्रकार सब रसोंके राजा रसराज भगवत्स्वरूपके मिलजानेसे अन्य किसी रसकी परवा नहीं रखता । क्योंकि भगवत् तो स्वयंही रसस्वरूप है। प्रमाण—"रसो वै सः" "आपोज्योती-रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्" इन मंत्रोंमें भगवत्को रसरूपही कहा है । तथा श्रुतियोंने भी उस परमात्मा परब्रह्मको रसरूपही वर्णन किया है । इसीकारण इस आत्मरस, ब्रह्मरस वा भगवत्रसमें अपनेको लय करदेनेवाला अन्य किसी रसके लिये इच्छा नहीं करता । प्रमाण—

श्रु०— **आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ॥ किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत् ॥** (बृह० अ० ४ ब्रा० ४ श्रु० १२)

अर्थ— जब प्राणी सब विषयरस त्याग करते-करते रसरहित हो

केवल आत्मरसमें मग्नहो ऐसा जानने लगता है कि "अयं पुरुषःअहमस्मि" यह पुरुष मैं हूं अर्थात् सब रसोंमें भगवत्रसको व्यापक देखतेहुए अपनेको भगवतमय देखताहै, तब वह क्या इच्छा करे? किसके लिये शरीरको संज्वरित करे? अर्थात् ऐसा 'स्थितधी' अन्य किसी कामनाकेलिये शरीरको तप, वृत इत्यादिसे क्लेश नहीं देता।

मुख्य तात्पर्य कहनेका यह है कि, विषयरस इकबारगी उसके हृदय से मिटजाते हैं।

पाठक गणोंको विदित होवे, कि इस श्लोकमें श्रीकृष्ण भगवान्ने सर्वसाधारणके कल्याण निमित्त रस-सहित विषयके त्याग और रस-रहित विषयके त्यागका अन्तर पूर्ण प्रकार दिखला दिया है। इस विषयको यहां एक दृष्टन्त देकर दिखलाया जाता है।

एक कोई राजा चौथेपनमें राज्य त्यागकर वनमें तप करने गया तहां देखा, कि एक तपस्वी तपस्या कररहा है। राजाने पूछा—

राजा—आप किस तात्पर्यसे तप कररहे हैं?

तप०—मैंने सुना है, कि तपसे राज-विभवकी प्राप्ति होती है।

राजा—क्या आप राज सुखकी प्राप्ति निमित्त तप कररहे हैं?

तप०—हां! तपका फलतो राज सुख ही है और क्या?

राजा—यदि आपको इसी समय राज मिलजावे तो आप क्या करेंगे?

तप०—तप छोडदूंगा और राजा बन जाऊंगा।

राजा—आप मेरा पत्र लेकर मेरे पुत्रके पास जावें। वह अपनी राजगद्दी पर आपको बैठादेगा।

तप०—तो शीघ्रता करो ! पत्र लिखदो ! मैं अभी जाऊंगा ।

राजाने पत्र लिखदिया । तपस्वी पत्रके साथ राज-पुत्रके पास पहुंचा । राजपुत्रने झट गद्दी छोड तपस्वीको उस पर बैठनेको कहा । तपस्वी गद्दीपर बैठना ही चाहता था, कि राजाके अधिकारियोंने उसे चारों ओरसे घेर लिया । बन्दीजन स्तुति पढने लगे । तोपोंकी सलामियां धडाधड दगने लगीं । तिलंगे अपनी-अपनी बन्दूकोंपर संगीन चढा उस नवीन राजाके चारों ओर सुसज्जित हो खडे होगये । तलवार बांधने वाले अपनी तलवारें उसके सन्मुख सीधा कर सलामी देनेलगे । तात्पर्य यह है, कि राजगद्दी होते समय जितनी धूमधाम होनी चाहिये होने लगगयीं । तपस्वीने कभी राजविभव देखा नहीं था। इस प्रकारका कोलाहल देख डरगया । विचारने लगा, कि "गद्दी पर बैठते न जाने ये लोग इन शस्त्रोंसे क्या करेंगे ? ऐसा विचारते ही गद्दीसे पांव पीछे हटालिया । मारे घबराहटके उसे शौचकी आवश्यकता हुई । बोला- पाखाने जाउंगा । सुनते ही संगीन वाले चारों ओरसे घेरेहुए उसे शौच-स्थानमें लेगये । जब उसने देखा, कि इस स्थानमें सोने चांदीके पात्र रखेहुए हैं । रंग विरंगके मखमली फर्श बिछेहुए हैं । गुलाब इत्यादि सुगंधित पदार्थ चारों ओरसे स्थानको सुगन्धित कररहे हैं, । डरा और विचारने लगा, कि ऐसे स्थानमें शौच-क्रिया करूं तो न जाने संगीनवाले मेरी क्या दशा करेंगे ? झट बाहर निकल कर बोला, कि "मैं एक ओर किसी सुनसान मैदानमें जाकर शौच—क्रिया करूंगा" सुनते ही दस बीस भृत्य गंगी-यमुनी पात्रमें जल भरे तौलिया इत्यादि लिये उसे एक सुनसान स्थानमें

लेगये और बोले "राजन ! इसी स्थानमें शौच–क्रिया करें" । इतना कह भृत्यगण वहांसे हटगये । तपस्वी जो मारे भयके बहुत घबराया हुआ था एकान्त पा वहांसे भागा । भागते-भागते एक वृक्षके नीचे पहुंचा । ऊंटके पखाल बनाने वाले अपने ऊंटोंकी खाल जो वर्षाके जलसे भींगगयी थी सूखनेके लिये उस वृक्षपर फैलागये थे । वह तपस्वी उनही खालोंके नीचे जा छिपा और एक डालसे लगकर खडा होगया । खडे-खडे उसे नींद आगयी । इतनेमें ऊंटवाले अपनी खाल उतारने आये और वृक्षपर चढ जो खालोंको खींचा तो अनायास एक खालकी खुरी उस तपस्वीकी एक आंखमें लगी । वह आंख फूटगयी । वह रोता कराहता उसी बनमें राजाके पास पहुंचा । राजाने पूछा तेरी क्या दशा होगयी? तेरी आंख कैसे फूटी ? उसने सब वृत्तान्त कहसुनाया । राजाने पूछा " तू गद्दीपर बैठा वा नहीं " उसने कहा 'नहीं' । बैठना चाहा पर शौच लगनेसे मैं गद्दीपर नहीं बैठा । राजाने कहा तूने बहुत ही अच्छा किया, कि गद्दीपर नहीं बैठा । यदि गद्दीपर बैठता तो तेरी दोनों आंखें फूट जातीं और दोनों कानोंसे बहरा भी होजाता । तपस्वीने पूछा " क्या राजगद्दीपर बैठनेसे ऐसी दशा होती है ? उत्तर दिया, हां ! इतना सुन तपस्वीने राजासे कहा " तुम किस काजके लिये तप करने आये हो ? " राजाने कहा-मैं तो भगवान्के लिये तप करने आया हूं । तपस्वीने कहा- " अब मैं भी भगवान्के ही लिये तप करूंगा " !

मेरे पाठक ! इस छोटेसे दृष्टान्तसे समझगये होंगे कि रस-सहित विषयोंके त्याग और रसरहित विषयोंके त्यागमें कितना अन्तर है ।

उक्त प्रकार भगवान् रसरहित होकर विषयोंके त्यागका उपदेश करते हैं और कहते हैं, कि ऐसेही त्यागसे प्रज्ञाकी स्थिरता होती है और सच्चा स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५९

इतना सुनकर अर्जुनने पूछा भगवन् ! जिस साधकके विषय-रस पूर्ण प्रकार निवृत्त न हुए हों, थोडे बहुत शेष रहगये हों, तो इससे क्या हानि हो सकती है ?

गोविन्द बोले हे अर्जुन ! सुन !

मू०—यततोह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥
॥६०॥

पदच्छेदः—कौन्तेय ! (हे कुन्तीपुत्र अर्जुन !) यततः (समाधिसिद्ध्यर्थं प्रयत्नं कुर्वतः । प्राज्ञस्थैर्य्यार्थं यतमानस्य । मोक्षे प्रयतमानस्य वा) विपश्चितः (मेधाविनः। अत्यंत विवेकिनः)पुरुषस्य (मनुष्यस्य) मनः । अपि। हि (निश्चयेन) प्रमाथीनि (प्रमथन शीलानि। अतिबलीयस्त्वाद्विवेकोपमर्दनक्षमाणि) इन्द्रियाणि (चक्षुः श्रोत्रादीनि) प्रसभम् (बलात्कारेण । पश्यत्येव) हरन्ति(विक्षोभ-यन्ति। विषयप्रवणं कुर्वन्ति । विकारं प्रापयन्ति) ॥६०॥

पदार्थः—(कौन्तेय !) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन! (यततः) समाधि सिद्धिके लिये वा अपनी प्रज्ञाकी स्थिरताके लिये अर्थात् मो-क्ष प्राप्तिके लिये यत्न करनेवाले (विपश्चितः) विवेकी (पुरुषस्य)

पुरुषके (मनः) मनको (अपि) भी (हि) निश्चय करके ये (प्रमाथीनि) प्रमथन करनेवाली अर्थात् व्याकुल करनेवाली (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां (प्रसभम्) वलात्कारसे (हरन्ति) अपने-अपने विषयकी ओर खींचलेती हैं। अर्थात विषयी बनाकर इसके सब यत्नों को धूलमें मिला देती हैं ॥ ६० ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो यह पूछा था, कि हे भगवन्! साधकोंके साधनकालमें यदि कुछ विषयरस रहजावे तो क्या हानि है? उसका उत्तर योगेश्वर भगवान् इस श्लोक द्वारा यों देते हैं, कि **[यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः]** हे कुन्तीका प्रियपुत्र अर्जुन! सुन! जो पुरुष विपश्चित अर्थात् विवेकी है, जो विषयोंसे वचनेके लिये नाना प्रकार यत्नकर सर्वप्रकारके उपद्रवोंसे अलग भाग एकान्त सेवन करता है तथा किसी विषयको अपने समीप नहीं आने देता। अपने आत्मज्ञानरूप धनकी रक्षा निमित्त नाना प्रकारके संयम नियमके अंगोंका साधन कर रहा है। ऐसे यत्नशील विवेकी पुरुषमें भी किंचित्मात्र विषयका रस यदि रहजाता है अर्थात विषय सुखकी स्मृति उसके ध्यानमें रहजाती है तो उसकी क्या दशा होती है? सो सुन! **[इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः]** ये जो इन्द्रियां महावलवान हैं और पुरुषोंके मनको मथनकर व्याकुल-कर देनेवाली हैं, वलात्कारसे यत्नशील पुरुषको अपने-अपने विषय की ओर खींचकर ऐसा व्याकुल करदेती हैं, कि फिर उसका संभलना कठिन होजाता है। जैसे कोई पुरुष अपनेको अमर करनेके तात्पर्य्यसे अमृतसागरसे एक कांचके घटमें अमृत भरकर अपने मस्तकपर लेचले

श्रोरे मार्गमें कागले चारों श्रोरसे उस घटमें लिपट नोलोंसे ठोकर मार-मार कर फोड देवें और वह अमृत पृथ्वीपर गिरकर नष्ट होजावे। इसी प्रकार ये इन्द्रियां आत्मज्ञानमें यत्न करनेवाले विवेकियोंके ज्ञानको अपनी ओरे वलात्कारसे खींचकर नष्ट करेदेती हैं। जैसे वलवान डाकिनियां किसी धनवानके संचित किये हुए धनको उसके देखते-देखते वलात्कारसे लूट लेजाती हैं। इसीप्रकारे इन्द्रियोंको डाकिनियोंसे कम मत समझो। ये सच्चे पुरुषोंसे झूठ बुलवानेकी, ब्रह्मचारियोंसे व्यभिचार करानेकी, धृतिवालोंकी धृति नष्ट करनेकी और सन्तोषियोंके सन्तोष लोप करदेनेकी युक्तियां सदा रचती रहती हैं। ये अत्यन्त दुर्निवार्य्य और दुःस्साध्य हैं।

प्रिय पाठको ! आज ही नहीं वरु सब युगोंसे इनकी प्रवलता देखीजाती है। इसी कारण अभ्यासियोंके अभ्यासकी सिद्धिमें वाधा पड-जाती है। यह प्रत्यक्ष है, कि जिस वनस्पतिकी सब लत्तियां पत्तियोंके सहित काटदी जावें पर उनका जड थोडा भी शेष रहजावे तो फिर धीरे—धीरे उसकी लतायें वृद्धिको प्राप्त होजाती हैं। इसी प्रकार साधक के चित्तमें किसी विषय-रसका थोडा भी संस्कार रहजाता है, तो वह अंकुर देकरे धीरे—धीरे ऐसा बलवान होजाता है, कि बडे—बडे यत्न करनेवाले विवेकियोंकी प्रज्ञा नष्टकर अपनी ओर खींचलेता है। यह विषय—रस परमार्थ तत्त्वमें विचरने वालोंका महा शत्रु है। इसलिये रस-सहित विषयका त्याग श्रेष्ठ है— विषयोंकी वस्तुओंके त्यागके साथ उनके रसकाभी त्याग होना चाहिये। इन साधारण त्यागियोंसे वही श्रेष्ठ है जो रसकाभी त्याग कर विषयोंके मध्य विहार कररहा है ॥६०॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा " भगवन्! इनसे बचनेके लिये सबसे उत्कृष्ट उपाय क्या है ? सो मुझे बताओ ! भगवान् बोले सुन !

मू०—तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
॥६१॥

पदच्छेदः— **मत्परः** (अहमेव सर्वेषां प्रत्यगात्मा परः स्त्रियादिभ्यो वाह्येभ्यो देहेन्द्रियादिभ्य आन्तरेभ्यश्च उत्कृष्टः प्रियतमो यस्य सः) **तानि** (दुष्टानि । प्रमाथीनीन्द्रियाणि) **सर्वाणि** (समस्तानि) **संयम्य** (निगृह्य । वशीकृत्य) **युक्तः** (समाहितः) **आसीत** निर्व्यापारस्तिष्ठेत्) **हि** (यतः) **यस्य** (यतेः) **इन्द्रियाणि** (चक्षुःश्रोत्रादीनिवाह्यकरणानि) **वशे** (आज्ञायाम् वशवर्त्तीनि) **तस्य** (यतेः) **प्रज्ञा** (मेधा) **प्रतिष्ठिता** (गौरवान्विता) ॥ ६१ ॥

पदार्थः—(**मत्परः**) जो मुझे सबका अन्तरात्मा श्रेष्ठ जानकर मेरे में परायण होकर (**तानि**) उन दुष्ट प्रमथन करनेवाली (**सर्वाणि**) सब इन्द्रियोंको (**संयम्य**) अपने वश करके (**युक्तः**) समाहितचित्त होकर (**आसीत**) निर्व्यापार बैठ जाता है, वही यथार्थ यति है। (**हि**) क्योंकि (**यस्य**) जिसकी (**इन्द्रियाणि**) इन्द्रियां (**वशे**) वशमें हैं (**तस्य**) उसीकी (**प्रज्ञा**) बुद्धि (**प्रतिष्ठिता**) गौरवयुक्त कही जाती है ॥ ६१ ॥

भावार्थः—अर्जुनने जो भगवानसे यों प्रश्न किया था, कि हे भगवन् ! इन बलवान इन्द्रियोंके आक्रमणसे बचनेका सबसे उत्तम

उपाय क्या है? तिसका उत्तर श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द यों देते हैं-- [तानि सर्व्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः] जो प्राणी " मत्परः " है; अर्थात् मेरा परायण है । मैं जो सबका प्रत्यगात्मा सबके साथ निवास करनेवाला वासुदेव हूं, तिसको जिसने श्रेष्ठ जाना है अर्थात् स्त्रीसे, पुत्रसे, अपने अन्तर और बाहरके अवयवोंसे, नेत्रसे, श्रोत्रसे, मनसे और बुद्धिसे श्रेय और प्रेय अर्थात् उत्तम और प्रिय जाना है जिसने. ऐसा जान मुझहीमें अर्पण करदिया है अपनेको जिसने, अपने कल्याणका सबसे उत्कृष्ट उपादेय मुझहीको समझा है जिसने तथा अहर्निशि मेरेही स्वरूपका अभ्यास कर रक्खा है जिसने, उसीको मैं "मत्परः" कहता हूं । हे अर्जुन! ऐसे प्राणीको ये इन्द्रियां कभी नहीं सता सकतीं । जैसे बलवान चक्रवर्त्ती राजाका आश्रय लेनेसे लुटेरे, बटमारे, चोर इत्यादि नहीं सता सकते अथवा सिंहके शरण जानेसे जम्बुकोंका कोई भय नहीं रहता । इसी प्रकार मेरा आश्रय लेनेसे इन्द्रियां दुःख नहीं दे सकतीं । फिर कैसे भी बलवान विषय क्यों न हों उसके सामने नहीं जासकते । न उसके भयसे मेरे भक्तकी कुछ हानि होसकती है । मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि मेरे भक्तकी इन्द्रियां आपसे आप वशीभूत होजाती हैं और उसका मन आपसे आप युक्त होजाता है, अर्थात् वह समाहितचित्त होजाता है। फिरतो वह सब ओरसे मनको एकाग्रकर इन्द्रियोंके साथ-साथ विज्ञानमय बुद्धिसे मुझमें मन लगा निर्व्यापार होजाता है। इसी कारण मैं तुझसे कहता हूं, कि मेरेमें मन लगायेहुए, जो इन्द्रियोंके वशीभूत करनेका यत्न करता है, उसीका यत्न

मत्परः-- मामेव चिदात्मानं परमेश्वरमभ्यसेत् ध्यायेत् इति ।

सफल होता है। इसीलिये [**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**] जिस प्राणीकी इन्द्रियां अपने मन और बुद्धिके साथ युक्त होकर वशीभूत होरही हैं उसीकी प्रज्ञा प्रतिष्ठिता कही जाती है। उसीके मनको ये इन्द्रियां बलात्कार नष्ट नहीं करसकतीं।

श्रु०इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥ यस्तुविज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥ यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥ यस्तुविज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥
(कठोपनिषद् अ० १ वल्ली ३ श्रुति ४, ५, ६, ७, ८)॥

अर्थ— इन्द्रियोंको तो अश्वके समान कहाहै और इनके विषय जो रूप, रस, गन्ध इत्यादि हैं वे इन अश्वोंके दौडनेके मार्ग हैं। इसलिये आत्माको मन और इन्द्रियके साथ एक करके जो चलता है उसीको मनीषियोंने इसका ×भोक्ता कहा है। जो भोक्ता विज्ञानरहित और चंचलचित्त है अर्थात् निवृत्ति वा प्रवृत्तिके मार्गमें जो आत्मज्ञानके बागडोरको ठीक-ठीक संभालने नहीं जानता उसके वशमें घोडे

टिप्पणी—× भोक्ता दो प्रकारकेहैं—एकतो वह जो विज्ञानरहितहै, अर्थात् बुद्धि से हीन है, चंचलचित्त है। दूसरा वहजो विज्ञानवान है। युक्तमनस अर्थात् समाहितचित्त है। जिनको सब ओरसे बटोर एक लक्ष्यकी ओर लगाये हुआ है। जैसे नट पतले डोर पर चलते समय अपने मनको उस डोरके साथ एकाग्र रखता है।

नहीं रहते । वरु वे घोडे उस मूर्खको अपने बलसे खींचकर गडहोंमें गिरादेते हैं। फिर वह नानाप्रकारके क्लेशोंको पाताहै । इसीलिये यहां श्रुति कहती है, कि " दुष्टाश्वा इव सारथेः " सारथीके दुष्ट अश्वोंके समान ये इन्द्रियां उस मूर्खके वशीभूत न रहकर उसे दुःख देती हैं। इसीके उलटा जो प्राणी विज्ञानवान है जो निवृत्ति वा प्रवृत्ति मार्गमें अपनी बुद्धिसे ठीक-ठीक उचित व्यवहार करता है वही युक्त-मनस होकर आत्मा और मनको एक सीधमें कर चतुर सारथी के समान अपने इन्द्रियरूप सुशिक्षित अश्वोंको आत्मज्ञानके बागडोर से युक्त कियेहुए शुभचित्तहो आत्मानन्दको भोगता है । इसीसे श्रुति कहती है, कि " सदश्वा इव सारथेः " चतुर सारथीके घोडोंके समान ज्ञानीकी इन्द्रियां श्रेष्ठ और उत्तम स्वभाववाले अश्वोंके समान अपने मार्गपर ठीक-ठीक लेजाती हैं तथा भगवत्स्वरूपमें मिलादेती हैं। " यस्त्वविज्ञान०" जो प्राणी अविज्ञानवान है अमनस्क है और सदा अशुचि है अर्थात् नानाप्रकारके दुष्टकर्मोंके करनेसे अपवित्र होरहा है सो "न तत्पदमाप्नोति " विष्णु परम पदको नहीं पाता है, वरु संसारसागरमें डूब चौरासी लक्ष योनियोंमें धक्के खाता फिरता है। पर जो विज्ञानवान है, समनस्क है और सदा शुचि है, सब प्रकारके पापोंसे रहित होकर "तत्पदमाप्नोति" विष्णु परम पदको प्राप्त होजाता है जिससे जन्म मरणसे रहित हो फिर संसारके बन्धनमें नहीं आता ।

इसी कारण भगवान् कहते हैं कि जिसकी इन्द्रियां वशीभूत हैं उसीकी प्रज्ञा-प्रतिष्ठिता कही जाती है ।

यह अर्जुनके तृतीय प्रश्न "किमासीत्" का उत्तर हुआ ॥६१॥

इतना सुनकर अर्जुनने यों पूछा, किं हे भगवन्! जो प्राणी विषयोंसे तो अपनी बाह्य इन्द्रियोंको रोकलेवे, पर मनको न रोके तो क्या हानि है? जैसे सर्पके दांतोंको कोई वीर उखाडकर उस सर्पको अपने पास रखलेवे तो वह सर्प क्या करसकता है?

इतना सुन श्यामसुन्दर बोले—

मू०—ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

॥६२, ६३॥

पदच्छेदः— विषयान् (रूपरसगन्धादीन) ध्यायतः (मनसा पुनः पुनः चिन्तयतः आलोचयतः) पुंसः (पुरुषस्य) तेषु (विषयेषु) सङ्गः (आसक्तिः। प्रीतिः। सम्बन्धः) उपजायते (उत्पद्यते) सङ्गात् (विषयसम्बन्धनात्) कामः (विषयेष्वभिलाषः) सञ्जायते (समुत्पद्यते) कामात् (विविधविषयभोगाभिलाषात्) क्रोधः (कोपः। अमर्षः। रोषः। प्रतिकूलेसतितैक्ष्णस्यप्रबोधनः) अभिजायते (समुत्पद्यते) क्रोधात् (रोषात्) संमोहः (कार्याकार्यविवेकाभावः) भवति (उत्पद्यते) संमोहात् (कार्याकार्यविवेकाभावात्) स्मृतिविभ्रमः (शास्त्रार्थानुसंधा-

नस्य विभ्रंशरूपचलनम) [भवति] स्मृतिभ्रंशात् (चेतनायाभ्रंशात्) प्रणश्यति (सर्वपुरुषार्थायोग्योभवति। मृत्युतुल्योभवति) ॥ ६२, ६३ ॥

पदार्थः—(विषयान्) रूप रसादि विषयोंकी (ध्यायतः) वारंवार चिंता करते-करते (पुंसः) पुरुषको (तेषु) उन विषयोंमें (सङ्गः) आसक्ति (उपजायते) उत्पन्न होजाती है । (संगात्) तिस आसक्तिसे धीरे-धीरे (कामः) उन विषयोंकी अभिलाषा (संजायते) उपजजाती है । तब किसी कारण उस अभिलाकी रुकावट होनेसे (क्रोधः) रोप (अभिजायते) उत्पन्न होजाता है (क्रोधात्) तिस क्रोधसे (संमोहः) मोह अर्थात् कार्य्याकार्य्यमें अविवेक होजाता है (संमोहात्) तिस संमोहसे (स्मृतिविभ्रमः) आत्मविस्मृति होपडती है। अपनेको भूलजाता है तथा शास्त्रवचनोंमें भ्रम उत्पन्न होजाता है। (स्मृतिभ्रंशात्) अपनेको भूलजानेसे अथवा स्मृतियोंमें भ्रम होनेसे (बुद्धिनाशः) बुद्धिका नाश होता है (बुद्धिनाशात्) तिस बुद्धिके नाशसे (प्रणश्यति) प्राणी नाश होजाताहै वा सर्वप्रकार पुरुषार्थ हीन होकर संसार-दुःखमें डूबजाता है ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

भावार्थः—अर्जुनने जो भगवान्से यह पूछा है कि जैसे सर्पके दांतोंको कोई वीर उखाड़ कर सर्पको अपने पास रखलेवे तो वह सर्प क्या कर सकता है ?

इसीप्रकार जो पुरुष अपने वाह्य इन्द्रियोंको अपने वशीभूत करले, पर अपने मनको युक्त न करे तो क्या हानि होसकती है ?

इसके समाधानमें श्रीकृष्णभगवान् कहते हैं [ध्यायतो विषयान्

पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते] हे अर्जुन! जो प्राणी वाह्य इन्द्रियोंको तो रोक लेता है, पर मनको हाथमें नहीं रखता है। मनसे विषयोंका ध्यान करता रहता है। तो तू यह निश्चय जानले! कि ऐसे मन द्वारा बार-बार चिन्ता करते-करते धीरे-धीरे उन विषयोंसे सङ्ग होजाता है; अर्थात् उनमें परम प्रीति होजाती है। अपने मनसे बार-बार उन विषयोंकी स्तुति करने लगजाता है। ऐसा करते-करते लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा तीनों एषणायें उसके मनमें अंकुर देकर शाखा प्रशाखा फोडतीहुई विशालवृक्षके समान दृढ होजाती हैं। श्रुति—

"मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्रहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते" (वृहदा० अ० ३ ब्रा० २ श्रु० ७)

अर्थ—मन ग्रह+ है और कामना अतिग्रह है। इसलिये सदा कामनाओंके पीछे पीछे दौडना मनका स्वाभाविक गुण है। इसलिये यह सदा कामनाओंकी ही चिन्तामें रहनेके कारण लेशमात्रभी किसी ओरसे कामनाकी वायुको आता देख झट उसी ओर दौड जाता है। जैसे कणिकामात्र संखिया जिह्वाके अग्रभागमें लगजाने से धीरेधीरे सारे शरीरमें फैल मृतक बनादेती है। इसी प्रकार तनकभी कामना धीरेधीरे वृद्धि पाकर संसारी बनादेती है। जिसने वाह्य इन्द्रियोंसे घरबार, पुत्र, कलत्र धन सम्पत्ति त्याग विराग धारण किया था और वैरागी

+ ग्रह और अतिग्रह---वृहदारण्यकोपनिषत्के तीसरे अध्याय द्वितीय ब्राह्मणमें लिखा है कि अष्टौग्रहाः ! अष्टावतिग्रहाः। अर्थात् प्राण,वाक्, जिह्वा, चक्षु,श्रोत्र, मन, हस्त, त्वक् ये आठ ग्रह है तिनके अपान,नाम, रस,रूप, शब्द,काम, कर्म स्पर्श और अतिग्रह अर्थात् विषय हैं।

एकान्त—स्थानमें निवासकर आत्मज्ञान आरम्भ कियाथा वह धीरेधीरे *पुत्रैषणा (पुत्र, परिवार इत्यादिके सुखकी स्मृति) वित्तैषणा (धन वा राज्य अथवा दैव-शक्तियोंके सुखकी स्मृति तथा लोकैषणा (गन्धर्व-लोक, वरुणलोक, रुद्रलोक की स्मृति इत्यादि) में तृष्णाका स्वरूपही बनजाताहै— जैसे द्वन्द्वज्वरसे ग्रस्त प्राणीका ज्वर ऊपरसे तो नष्ट होजाताहै। नेत्रोंमें ललाई वा शिरमें किसी प्रकारकी वेदनाभी नहीं रहती। रोगी भलीभांति पथ्य इत्यादि खाने लगजाताहै, पर वह ज्वर रोगीके शरीरके भीतर गुप्तरूपसे रहनेके कारण तीसरे वा चौथे दिवस उसके शरीरसे प्रगट हो उसे व्याकुल करदेता है और एवम् प्रकार भीतरही भीतर बढते बढते एक दिन उसे मारडालता है। अग्निकी शलाका (सलाई) के ऊपर तो किसी प्रकारका अणुमात्र भी ताप नहीं देखपडता। न अग्निका स्वरूप देखपडता है। पर उस शलाकाके भीतर उसके केन्द्र में अग्निका अत्यन्त क्षुद्र अंश निवास करता है। इसलिये उसके घिस देनेसे आग प्रकाशमान होकर सारे नगरको भस्म करनेमें समर्थ होती है। अथवा यों कहलो, कि भस्मसे प्रच्छन्न जो चिनगारी मात्र है वह इन्धनोंके संस्कारसे भडककर घरोंको जला देसकती है। इसी प्रकार वाह्य इन्द्रियोंके दमन होनेपर भी मनमें विषयका लेशमात्र रहजानेसे

---

*पुत्रैषणा—पुत्रोत्पत्तिमुद्दिश्य दारसंग्रहेच्छा लक्षणा।

वित्तैषणा—वित्त द्विविध "मानुष" गवादि। "दैव" विद्यादि। कर्मणा साधनस्य गवादे रुपादानरूपा इच्छा "मानुषी-वित्तैषणा" अनेन वित्तेन कर्म कृत्वा विद्यासंयुक्तेन वा देवशक्ति प्राप्तिरूपा इच्छा।

लोकैषणा—हिरण्यगर्भविद्यया दैवेन वित्तेन देवलोकं ज्येष्यामीतीच्छा लोकैषणा।

(वाचस्पति)

धीरे-धीरे वह विषय बढकर त्रिविक्रमावतारके समान वामन रूपसे ऐसे विशालरूपको धारण करलेता है, कि तीनों लोकोंमें फैल जाता है। मनुष्यको ऐसी विशाल तृष्णाकी पूर्त्तिकी चिन्ता घेरलेती है।

भगवान् कहते हैं, कि इसी प्रकार विषयकी चिन्ता करते—करते उस विषयका संग होजाता है तब क्या दशा होती है ? सो हे अर्जुन सुन ! [संगात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते] एवम् प्रकार उन विषयोंके संग होजानेसे उनमें कामना उत्पन्न होतीहैं अर्थात् विशाल तृष्णाकी डालियां सब ओर फैल जातीहैं और मनुष्य उन तृष्णाओं की पूर्त्तिमें लग पडता है। इसप्रकार जब इस विशाल तृष्णाकी पूर्त्तिमें किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित होजाती है तब उसे क्रोध उत्पन्न हो आता है। फिरतो वडाही अन्धेर होपडता है। क्योंकि एवमप्रकार क्रोधके उत्पन्न होतेही सारा बनाबनाया घर बिगड जाता है ॥ ६२ ॥

जब सब कामोंका नष्ट करनेवाला क्रोध हृदयमें उपज आता है तब [क्रोधात् भवति संमोहः] उस क्रोधसे मोह अर्थात् कार्य्याकार्य्यका अविवेक उत्पन्न होजाता है। यह सुधि नहीं रहती, कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। इस कार्य्यसे अपने वा परायेकी हानि होगी वा लाभ होगा। इसी क्रोधके वशीभूत होकर कारागार, शूली, फांसी इत्यादि दण्डोंके दुःख भोगनेका भागी बनजाता है। अब भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [संमोहात्स्मृतिविभ्रमः] उस संमोहसे स्मृतिका विभ्रम होजाता है। अर्थात् आत्मविस्मृति होजाती है। यह नहीं स्मरण रहता, कि मैं कौन हूं ? कहां हूं ? बडे परिश्रम से सतगुरु और सच्छास्त्र द्वारा जो आत्मानन्द लाभ करने

लगगया था वह जाता रहता है, यहांतक कि पारलौकिक मार्गको छोड, माला वाला तोड, कमण्डल फोड, नदीमें बहा आता है और "सत्गुरुमाक्रोशति" अपने सतगुरुको भी दुर्वचन कहने लग जाता है। "शास्त्रानुसंधानस्य विभ्रंशरूपं चलनं भवति"। शास्त्रों की भी सुधि नहीं रहती उनके अभिप्रायसे विरुद्ध चलने लगपडता है। एवम् प्रकार चलते—चलते " शास्त्राचार्य्योपदिष्टार्थ विचलनम् " शास्त्र और आचार्य्य दोनोंके उपदेशसे चलायमान होकर चंचल होजाता है। इसी को स्मृति·विभ्रम कहते है। तिससे क्या होता है सो भगवान् कहते हैं, [स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशः] उस स्मृतिके भ्रष्ट होनेसे बुद्धिका नाश होजाता है। जब बुद्धिका नाश हुवा तब उस बुद्धिका अधिष्ठातृदेव विष्णु उस प्राणीको छोड देता है। जब विष्णु-देवने त्यागदिया तो फिर कहां ठौर मिले? कौन कल्याण करे? फिरतो भगवान् कहतेहैं [बुद्धि-नाशात्प्रणश्यति] तिस बुद्धिके नाश होनेसे प्राणी स्वयम् नाश होजाताहै। संसार सागरमें डूब आत्मानन्दरूप अमृतसे विमुख हो मृतकके तुल्य होजाता है। सब पुरुषार्थोंसे हीन होजाता है। भगवानके इस वचन में श्रुतिका प्रमाण—ॐ पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥ (कठोपनिषद् अ० २ वल्ली १ श्रुति २)

पराचः—दृष्टादृष्टेषु भोगेषु तृष्णा ताभ्यामविद्यातृष्णाभ्याम् प्रतिबद्धात्मदर्शना. पराचो बहिर्गतानेव। (शङ्कराचार्य्यः)

अर्थ— " पराचः " अर्थात् दृष्टाऽदृष्ट जो सूक्ष्म और स्थूल नाना प्रकारके भोगोंकी तृष्णा उससे प्रतिबद्ध होगया है आत्मदर्शन जिन प्राणियोंका, जो मारे तृष्णाके आत्मानन्दरूप अमृत को भूलगये हैं, उनको पराचः कहतेहैं। ऐसे प्राणी अज्ञानी होनेके कारण बालकोंके सदृश हैं और तृष्णाके वशीभूत हो नाना प्रकारकी कामनाओंके वशमें पड़जाते हैं। ऐसी अविद्याके वशीभूत होजानेसे अविद्याकृत जो काम्यकर्म उसके "विततपाशः" फंदेमें फंसकर नष्टहोजाते हैं। इसीकारण स्थितधी अर्थात् जो धीर विवेकी हैं वे अमृतत्त्व प्रत्यगात्म-स्वरूप जो भगवतरूप उसे "ध्रुव" निश्चय और अविनाशी जानकर इस " अध्रुव " नाशवान संसारके सुखोंको " न प्रार्थयन्ते " नहीं चाहते हैं।

इस श्रुतिसे भी सिद्ध होता है, कि जिसकी बाह्य इन्द्रियां वशीभूत हों पर बालकोंके समान मनमें विषयोंका ध्यान करता रहे तो विशाल-तृष्णामें फंसकर नाश होजाता है। इसीकारण भगवानके कहनेका अभिप्राय यह है, कि इन्द्रियोंके साथ-साथ मनको भी वशीभूत करो॥ ६२, ६३॥

यह सुनकर अर्जुनने पूछा भगवन्! इसके प्रतिकूल यदि मन निग्रह हो अपने वशमें होवे और इन्द्रियां अपने-अपने विषयकी ओर दौड़ा करें तो क्या हानि है?

इतना सुन भगवान कहते हैं—

मू०—रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ ६४॥

पदच्छेदः—विधेयात्मा (किङ्करीकृतमनाः। वशीकृतान्तःकरणः। स्वाधीनचित्तः) तु। रागद्वेषवियुक्तैः (प्रीत्युद्विग्नरहितैः) आत्मवश्यैः (मनोधीनैः। स्वाधीनैः) इन्द्रियैः (श्रोत्रादिभिः) विषयान् (रूपरसगन्धादीन्) चरन् (उपभुञ्जानःसन्। पश्यनसन्) प्रसादम् (प्रसन्नताम्। सङ्कल्पविकल्पपंकलेपप्रक्षालनेन मनसः स्वाच्छयम्। परमात्मसाक्षात्कारयोग्यताम्। स्वास्थ्यम्। शान्तिम्) गच्छति (प्राप्नोति) ॥६४॥

पदार्थः— (विधेयात्मा) वशीभूत किया है अपनेको जिसने वह (तु) तो (रागद्वेषवियुक्तैः) रागद्वेषसे रहित होकर (आत्मवश्यैः) अपने आत्माको अपने वश कियेहुए (इन्द्रियैः) इन्द्रियोंसे (विषयान्) विषयोंको (चरन्) भोगताहुआ भी (प्रसादम्) परम प्रसन्नताको अर्थात् परमात्माके साक्षात्कार करलेने योग्य चित्तकी स्वच्छताको (अधिगच्छति) प्राप्त करलेता है ॥ ६४ ॥

भावार्थः—अर्जुनने भगवान्से "किंव्रजेत्" यह चौथा प्रश्न किया था तथा पूर्व श्लोक तक अपने तीसरे प्रश्नका उत्तर सुनकर यह पूछा था, कि यदि किसी प्राणीका मन अपने वश तो हो, पर इन्द्रियां विषयकी ओर आचरण करती रहें तो क्या हानि है ?

इन दोनोंका उत्तर देते हुए भगवान कहते हैं- [रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् आत्मवश्यैर्विधेयात्मा] जिसकी इन्द्रियां राग-द्वेष रहित हैं अर्थात सुख देनेवाले पदार्थोंसे जिनको अनुराग नहीं है और दुःख देनेवाले पदार्थोंसे उद्वेग नही है दोनों दशाओंमें जिसकी इन्द्रियां समान रूपसे स्थिर रहती हैं तथा " आत्म-वश्यैः " जिसकी इन्द्रियां अपने वशीभूत हैं ऐसी इन्द्रियोंके द्वारा जो विषयोंके साथ आचरण करता रहता है, अर्थात् विषयोंमें विचरता हुआ, सर्व प्रकारके सुखोंको तृण समान समझता हुआ, दुःखोंसे घृणा नहीं करता, सात्विक अंशको उचितस्थानमें प्रयोग करता हुआ, मानुषीधर्म जानकर कुटुम्ब इत्यादिके पोषणका न्यायपूर्वक यत्न करता है, पर उनके स्नेहसे बद्ध नहीं होता संसारी जीवोंके समान उनके दुखी सुखी होनेसे आप दुखी सुखी—नहीं होता है उसीको "विधेयात्मा" कहते हैं।

श्री आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र अर्जुनसे कहते हैं, कि प्रसादमधिगच्छति] वही विधेयात्मा प्रसादको प्राप्त होता है अर्थात् परम प्रसन्नता, चित्तकी स्वच्छता और भगवत्-प्राप्ति की योग्यता प्राप्त करता है । तात्पर्य्य यह है, कि जिस प्राणीने अपने मनको अपने हाथ कररक्खा है, वह अपनी इन्द्रियोंके द्वारा नाना प्रकारके भोगोंको भोगताहुआ भी विषयोंके वन्धनमें नहीं फंसता और संसार-सागरमें नहीं डूबता ।

÷ विधेयात्मा उसे कहतेहैं जो अन्तःकरणको अपने वश रख मनको अपने किंकरके समान बना स्वाधीनता—पूर्वक विचरता है।

शंका-- विषयी भी तो इन्द्रियोंके द्वारा ही भोग करता है तो इस विषयी और विधेयात्माके भोगमें क्या अन्तर रहा ? और देखनेवालेको कैसे बोध होसकता है, कि इन दोनोंमें कौन विधेयात्मा स्थितप्रज्ञ है और कौन विषयी है ?

समाधान—विषयी और विवेकी में इतना ही अन्तर है, कि विषयी इन्द्रियों द्वारा उचित अनुचित दोनों प्रकारके भोगोंको भोगता है और विधेयात्मा जो विवेकी है वह केवल उचित भोग को भोगता है। उचित स्थानपर इन्द्रियोंका भोग हानिकारक नहीं है वरु धर्म है और प्रकृतिका व्यवहारमात्र है। केवल सृष्टिके नियम पालन करने मात्र है इसलिये विषयीका भोग *संग-सहित है और विधेयात्माका भोग संग-रहित है। अर्थात् एक उस विषयमें आसक्त होरहा है और दूसरेको उस विषयमें रंचक—मात्र भी आसक्ति नहीं है। इसमें सन्देह नहीं, कि इन्द्रियोंके भोग दोनोंमें समान हैं, पर अनुचित स्थानपर वेही भोग निषेध हैं।

इन्द्रियोंके जितने कार्य्य हैं सब प्रकृतिजन्य हैं । इसीकारण इन्द्रियोंके कार्य्य न निन्दा करने योग्य हैं, न स्तुति करने योग्य हैं। इन्द्रियोंके जो विषय हैं वे सृष्टिक्रमके साधन निमित्त हैं। जैसे काम द्वारा स्त्री और पुरुषका संयोग सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें केवल सृष्टिकी वृद्धि निमित्त है। इसी कारण स्त्री-पुरुषका संयोगरूप कर्म्म स्वयं न धर्म्महै न अधर्म्म है, पर उचित-स्थान पर अर्थात् धर्म्मपत्नीमें धर्म्म है और अनुचित-स्थानपर

*"संग" किसे कहते है इस अध्यायके श्लो० ६२ में वर्णन कियागया है।

परस्त्रीमें अधर्म्म है। युद्धमें कटकके कटकको मारडालना धर्म्म है और यों किसी एक निरपराध प्राणीको मारना अधर्म्म है। इसी प्रकार जो विधेयात्मा अपना मन वशीभूत कर राग-द्वेष रहित हो उदासीन चित्त से विधिमात्र विषयोंका भोग करलेता है उसे विषय बाधा नहीं करते और वही प्राणी प्रसादको प्राप्त होताहै अर्थात् निर्म्मलचित्त होनेसे परम प्रसन्नता लाभ करताहुआ सर्वत्र भगवत्स्वरूपहीके देखनेकी योग्यता पाता है। उचित विषयके भोगोंमें भी सर्वत्र भगवत्स्वरूपहीको देखता है। जैसे पानीमें पानी डूब नहीं सकता। आगमें आग जल नहीं सकती। इसीप्रकार आत्मामें आत्मा क्लेश नहीं पासकता। भोग भी आत्मा, भोगनेकी क्रिया भी आत्मा और भोगनेवाला भी आत्मा। एवम्प्रकार जिस के हृदयमें सब आत्माही आत्मा भासताहै वह विधेयात्मा होनेके कारण किसी विषयसे बद्ध नहीं होसकता—क्योंकि वह सब आपही आप है दूसरा नहीं। यदि दूजा देखे तो अवश्य राग-द्वेष उत्पन्नहों। सुनो—

श्रु० ॐ यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतर ँ रसयते, तदितर इतरमभिवदति, तदितर इतर ँ शृणोति, तदितर इतरं मनुते, तदितर इतर ँ स्पृशति, तदितर इतरं विजानाति यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् तत्केन कं जिघ्रेत, तत्केनकं ँ रसयेत् तत्केन कमभिवदेत्, तत्केन क ँ शृणुयात् तत्केन कं मन्वीत, तत्केन क ँ स्पृशेत् ००० (बृह० अध्या० ४ ब्रा० ५ श्रु० १५)

अर्थ—जब कोई दूसरा हो तब न एक दूसरेको देखे, सूंघे, चाटे, उससे बातकरे, उसकी सुने, उसे मननकरे, स्पर्शकरे, जाने, पर जिसकी

दृष्टिमें सब आत्माही आत्मा है तब कौन किससे देखाजावे ? कौन किससे सूंघा जावे ? कौन किससे चाटा जावे ? कौन किससे बात करे ? कौन किससे सुना जावे ? कौन किससे मनन कियाजावे ? कौन किससे जाना जावे ?

इसीप्रकार, जो विधेयात्मा है उसकी दृष्टिमें न कहीं इन्द्रियां हैं। न कही उनके विषय हैं और न कहीं उनका भोगनेवाला है । इसीलिये भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि जो विधेयात्मा है वह इन्द्रियोंके द्वारा सर्वप्रकारके आचरण करता हुआभी किसी विषयसे बद्ध नहीं होता सदा जीवन्मुक्तही रहता है। क्योंकि परमप्रसाद प्राप्त होनेके कारण उसकी बुद्धि स्थिर होजाती है ।

जैसे मिथिला नगरके नरेश श्री जनकजी महाराज सम्पूर्ण राज्य-विभवके भीतर निवास करतेहुए भी विषयोंके झंझटसे विलग जीवन-मुक्तिको प्राप्त कियेहुए थे, जिनके समीप नव-योगेश्वर, व्यासपुत्र श्री शुकदेव तथा अन्यान्य महात्मा ज्ञानकी प्राप्ति-निमित्त उपस्थित होते थे और ज्ञान प्राप्त कर जीवन-मुक्तिका सुख लाभ करते थे ।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है कि जनकके सदृश रागद्वेषसे रहित होकर अपनेको अपने वशमें कियेहुए सब आचरणोंको करता रहता है वही "विधेयात्मा" प्रसादकी प्राप्ति करता है ॥६४॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा— भगवन् ! जो प्राणी तुम्हारी आज्ञानुसार परम-प्रसादको प्राप्त होता है उसे अन्तमें कौनसा उत्तमसे उत्तम फल लाभ होता है ? सो कृपाकर कहो ! भगवान बोले—

मू०— प्रसादे सर्व दुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
॥६५॥

पदच्छेदः— प्रसादे (प्रसन्नात्मके स्वच्छस्वरूपे) अस्य (विवेकिनः) सर्वदुःखानाम् (अज्ञानविलसितानामाध्यात्मिकादीनां त्रिविधतापानाम्) हानिः (परिहारः । विनाशः) उपजायते (उत्पद्यते) हि (तस्मात् कारणात) प्रसन्नचेतसः (संकल्पविकल्पपंकलेपप्रक्षा-लनेन स्वच्छान्तःकरणस्य पुरुषस्य) बुद्धिः (ब्रह्मात्मैक्याकाराप्रज्ञा) आशु (शीघ्रम्) पर्य्यवतिष्ठते (सुदृढा भवति । सुस्थिरा भवति । आत्मस्वरूपेणैव निश्चला भवति) ॥ ६५ ॥

पदार्थः— (प्रसादे) प्रसाद अर्थात् प्रसन्नतायुक्त मनकी स्वच्छता प्राप्त होनेमें (अस्य) इस विवेकी पुरुषके (सर्वदुःखानाम्) सर्वप्रकारके दुःखोंकी (हानिः) हानि (उपजायते) होजाती है (हि) जिसकारण (प्रसन्नचेतसः) प्रसन्नचित्तवालेकी (बुद्धिः) बुद्धि (आशु) बहुतही शीघ्र (पर्य्यवतिष्ठते) दृढ होजाती है अर्थात् आत्मस्वरूपमें स्थिर होजाती है ॥ ६५ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्से यों पूछा था, कि जो लोग राग-द्वेषसे रहित हो "विधेयात्मा" कहलाकर चित्तके प्रसादको प्राप्त करते हैं तिस प्रसाद अर्थात् प्रसन्नतापूर्वक चित्तकी स्वच्छताकी प्राप्तिसे क्या फल प्राप्त होता है ? इसके उत्तरमें श्री आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र कहते हैं, कि [प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योप-

जायते] चित्तके प्रसादके प्राप्त होनेसे विवेकी पुरुषके सर्वप्रकार के दुःखोंका नाश होजाता है अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक जो तीन प्रकारके ताप हैं इन तापोंका कहीं लेशमात्र भी नहीं रहता। क्योंकि ऐसे पुरुषकी अज्ञानता नाश होजाती है। अज्ञानता ही सर्व दुखोंका मूल है। एवम् प्रकार दुःखोंकी हानिसे निर्मल--चित्तवालेको अखगड सुखकी प्राप्ति होती है। जैसे जब आकाश निर्मल होजाता है तब पूर्णचन्द्रकी किरणोंकी शोभासे दशों दिशायें अत्यन्त सुहावनी देखपडती हैं। देखनेवालेके चित्तको प्रसन्न करदेती हैं। इसी प्रकार प्रसाद-रूप पूर्ण-चन्द्रके उदय होनेसे विधेयात्माका सारा अंग अन्तःकरण सहित सुशोभित और सुहावना देखपडता है। अथवा जैसे सूर्यके निकलते ही पुष्करणियोंमें नाना प्रकारके कमल प्रफुल्लित होजाते हैं, तैसे प्रसाद-रूप दिनकरके उदय होतेही विधेयात्माके हृदयकी अज्ञानतारूप अंधियाली रात्रिके बिलाजानेसे सब इन्द्रियां प्रफुल्लित होजाती हैं। जैसे अमृतपान करने वालेको फिर क्षुधा पिपासा नहीं सताती है इसी प्रकार प्रसाद-रूप अमृतपान करनेवालेको आध्यात्मिक इत्यादि दुःख नहीं सताते।

संसारमें प्रायः ऐसा देखाजाता है, कि जिस समय मनुष्य किसी कारणसे कुछ प्रसन्न रहता है उस समय किसी प्रकारके दुःखकी कुछ भी परवा नहीं करता। जैसे विवाह के समय वा फाल्गुनमासमें फाग खेलते समय प्रसन्नचित्त होनेके कारण नाना प्रकारकी गालियोंका दुःख किसीकोभी नहीं होता। इसीप्रकार प्रसादके प्राप्त हुए दुःखोंका अनु-

भव कुछभी नहीं होता। फिरतो यह प्रगट है, कि जब बुद्धिको चंचल करदेनेवाले दुःख उसके आत्मानन्दमें लय होकर सुख-रूप होगये तब [प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते] ऐसे प्रसन्न-चित्त वालेकी बुद्धि झट स्थिर होकर परमात्म-स्वरूप में दृढ हो जाती है। क्योंकि उसकी बुद्धि से असंभावना और विपरीत-भावनाका नाश होजाता है। फिर वह ब्रह्मानन्दमें मग्न होकर किसी प्रकारके दुःखसे भयभीत नहीं होता। श्रु० "आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन" (तैत्तिरीयोप० अनु०वा० ४ श्रु० २८) अर्थात् आनन्दमय ब्रह्मको जाननेवाला विद्वान किसीभी दुःख से नहीं डरता।

शंका— श्रुति तथा स्मृतियोंके वचनोंसे यों सिद्धान्त किया है, कि महान् पुरुषोंको भी प्रारब्धानुसार जब तक शरीर वर्त्तमान है कर्म्मोंके फल भोगनेही पड़ेंगे। क्योंकि प्रारब्ध भोगसेही नाश होता है। फिर भगवानने ऐसा क्यों कहा? कि प्रसाद प्राप्त होनेवालोंके त्रिविध तापोंकी निवृत्ति होजातीहै। इस वचनसे श्रुति-स्मृतियोंके वचनोंका निरादर होताहै वा नहीं ?

समाधान-- नहीं श्रुति स्मृतियोंके वचनोंका निरादर नहीं होता। भगवान्के कहनेका अभिप्राय यह नहीं है, कि केवल प्रसाद प्राप्त होनेसे दुःखों की हानि होजाती है, वरु तात्पर्य्य यह है, कि उस प्रसादसे बुद्धिकी स्थिरता, तिस बुद्धिकी स्थिरतासे अज्ञानका नाश, तिस अज्ञान के नाश हुए दुःखोंका भी नाश यों होताहै, कि उनके भोगते समय प्रसादचित्तवाले विवेकियोंको उद्वेग प्राप्त नहीं होता। भगवान् पहले

ही कहचुके हैं, कि "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः" (देखो श्लोक ५६) जब दुःखका उद्वेग न हुआ तो वह दुःख, दुःख नहीं कहा जासकता क्योंकि बुद्धिमें प्रसादकी प्राप्तिसे राग, द्वेष, उद्वेग और स्पृहाकी निवृत्ति होजाती है। इसीकारण भगवान्ने परम्परा न्यायसे ऐसा कहा, कि चित्तके प्रसाद प्राप्त होनेके कारण विवेकियोंके दुःखोंका नाश होजाता है॥६५॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! जिसे प्रसाद प्राप्त नहीं है उसकी क्या दशा होती है? भगवान् बोले—

मू०— नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य नचायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।
॥ ६६ ॥

पदच्छेदः— अयुक्तस्य (अप्रसन्नचित्तस्य । असमाहितान्तःकरणस्य) बुद्धिः (आत्मविषया प्रज्ञा । ब्रह्मात्मैक्यनिश्चयः) न (नहि) अस्ति (विद्यते । भवति । उत्पद्यते) च (तथा) अयुक्तस्य (अजितचित्तस्य) भावना(ब्रह्माकारान्तःकरणवृत्तिप्रवाहः) न (नैव) [अस्ति] च (तथा) अभावयतः (ध्यानमकुर्वतः) शान्तिः (सर्वदुखोपशमः । तृष्णायाऽभावः) [अपि] न (नैव)। अशान्तस्य (अनुपरतसर्वदुःखस्य । आत्मासाक्षात्कारशून्यस्य) सुखम् (मोक्षानन्दः) कुतः (न कुतश्चित्) ॥ ६६ ॥

पदार्थः—(अयुक्तस्य) जो प्राणी प्रसाद नहीं प्राप्त होनेसे

असमाहितचित्त है, उसे (बुद्धिः) आत्मतत्वकी ग्रहणकरनेवाली बुद्धि (न अस्ति) नहीं होती (च) तथा ऐसे (अयुक्तस्य) चंचलचित्त प्राणीके अन्तःकरणमें (भावना) आत्मतत्त्वका अभिनिवेशभी (न) नहीं होता (च) और (अभावयतः) ऐसे आत्मतत्त्वकी भावनारहित प्राणीके चित्तकी (शान्तिः) शांति भी (न) नहीं होती, तो फिर (अशान्तस्य) ऐसे शान्तिरहित पुरुषको (सुखम्) मोक्षका सुख (कुतः) कहांसे प्राप्त होसकता है ? अर्थात् नहीं प्राप्त होता ॥ ६६ ॥

भावार्थः— अर्जुननें जो पहिले भगवानसे पूछा है, कि प्रसादरहित प्राणीकी कैसी दुर्दशा होती है ? उसके उत्तरमें श्यामसुन्दर चंचल चित्तवालेकी दुर्दशा दिखलाते हुए कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना**] जो प्राणी प्रसादरहित होनेके कारण अयुक्तमनस है अर्थात् पनिहारीके मस्तकके घटके समान अपने मनको आत्मामें तथा भगवत्स्वरूपमें सदा युक्त नहीं रखता उसे ब्रह्माकार बुद्धि नहीं लाभ होसकती; अर्थात् राग द्वेष रहित होकर विषयोंमें रहते हुएभी निरासक्त प्रकृतिकी शुद्ध और स्वाभाविक प्रवाहानुसार सुख दुःखको भोगते हुए आत्मज्ञानकी प्राप्ति द्वारा भगवत्स्वरूपमें लीन होनेकी बुद्धि नहीं प्राप्त होती ।

फिर भगवान कहते हैं, कि " **न चायुक्तस्य भावना** " ऐसे अयुक्तमनस प्राणीको भगवत्-स्वरूपमें प्रवेश करनेकी भावनाभी नहीं होती । अर्थात् भगवद्भजनमें उसका चित्त नहीं लगता ।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जिस प्राणीने प्रसाद लाभ नहीं किया वह ब्रह्माकार बुद्धि नहीं लाभ होनेके कारण भगवत्स्वरूपमें प्रवेश नहीं करसकता। आत्मज्ञान तो उसके लिये सहस्रों योजन दूर पडाहुआ है। जब ऐसे चंचल-चित्त प्राणीको ब्रह्मतत्त्वमें भावना नहीं हुई तो [न चाभावयतः शांतिरशान्तस्य कुतः सुखम्] उस अभावयुक्त प्राणीको शांति भी लाभ नहीं होती, अर्थात् इस दुःखदाई प्रपंचसे उपशम नहीं होता। क्योंकि ऐसा प्राणी परमानन्द सागरसे विलग संसारमें मग्न रहता है। जो इस प्रकार अशान्त पुरुष है, संसारी जालमें फंसा पडा है, उसे मोक्षसुख कहांसे लाभ होसकता है ? अर्थात् परमानन्दकी प्राप्ति कहांसे होसकती है ? कहींसे भी नहीं। फिर जिसे मोक्षानन्दकी प्राप्ति न हुई उसे विषयानन्दकी प्राप्ति अर्थात् संसारी सुखोंका भी लाभ न होगा। क्योंकि वह प्राणी मधुमक्षिकाके समान अत्यन्त कृपण होनेके कारण विषयोंको तो एकत्र करता जावेगा पर उसे भोगनेमें असमर्थ रहेगा। जिसका मुख्य कारण उसकी विशाल तृष्णाका उदय होना है। श्री गुरु वशिष्ठ श्री रामचन्द्रजीसे कहते हैं कि— " यान्येतानि दुरन्तानि दुर्जराण्युन्नतानिच। तृष्णावल्ल्याः फलानीह तानि दुःखानि राघव। इच्छोदयो यथा दुःखमिच्छाशान्तिर्यथा सुखम्। तथा न नरकेनापि ब्रह्मलोकेऽनुभूयते। यावती यावती जन्तोरिच्छोदेति यथा यथा। तावती तावती दुःख वीजमुष्टिः प्ररोहति। (योगवासिष्ठे)

अर्थ— हे राघव ! ये जो बडे दुरन्त जिनका कहीं भी अन्त नहीं, बडे दुर्जर अर्थात् भोगनेमें बडे कठोर तथा बडे विशाल जो

तृष्णारूप वेलीके फल हैं वेही दुःख कहेजाते हैं। इस इच्छाके उदय होनेका जैसा दुःख है और इसी इच्छाकी शान्तिका जैसा सुख है वैसा दुःख न घोर नरकमें है न वैसा सुख ब्रह्मलोकमें है । अर्थात् तृष्णाकी वृद्धि नरकसेभी अधिक दुखदायिनी है और तृष्णाका नाश ब्रह्मलोकके सुखसेभी अधिक सुखदायी है। जैसे-जैसे जितना-जितना जीवोंके हृदयमें इच्छाका उदय होता जाता है उतना-उतना दुःखके बीजकी मूठ बढती चली जाती है। सो यह वचन सिद्धान्त है, कि जहां शान्तिका उदय नहीं तहां आत्माका सुख नहीं।

अब यहां एक श्रुति द्वारा यह दिखलाया जाता है, कि विषयकी प्राप्तिसे आत्मसुखका लाभ नहीं होता। इसीलिये स्त्री हो वा पुरुष जो आत्मसुख चाहता है वह विषयके संचयसे दूर रहता है। प्रमाण-

श्रु० "साहोवाच मैत्रेयी यन्नु म इयम्भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणावतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति (बृह० अध्या० २ ब्रा० ४ श्रु० २)

जिस समय याज्ञवल्क्यने गृहस्थाश्रमको त्याग सन्न्यास लेनेकी इच्छा की है, उस समय अपनी सारी सम्पत्ति का अपनी दो स्त्रियोंमें विभाग करना चाहा तब उनमें एक मैत्री नामकी उनकी स्त्री ने उनसे पूछा "भगवन्! यह जो मेरा ऐश्वर्य सारी पृथ्वी इत्यादि वित्तसे पूर्ण है इससे किस प्रकार मैं अमृतत्त्व अर्थात मोक्षको प्राप्त होऊंगी ?" तब याज्ञवल्क्यने कहा, कि "नेति" नहीं तू इस वित्तसे मोक्षको प्राप्त नहीं होसकती। जैसे "उपकरणवताम्"

संसारी मनुष्य अपने वित्तसे नाना प्रकारके सुखकी सामग्रियोंको एकत्र कर जीवते हैं ऐसे ही तू भी साधारण स्त्रियोंके समान अपना जीवन बितावेगी। तू इस वित्तसे मोक्षानन्द-रूप अमृत अर्थात् आत्मसुख की प्राप्ति नहीं कर सकती। तब मैत्रेयीने पूछा "मोक्षानन्द रूप अमृतको कैसे प्राप्त होऊंगी ?" याज्ञवल्क्य आत्मानन्दको सब प्रकार के आनन्दोंसे अधिकतर दिखाते हुए बोले। श्रु०—

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति ॥ (बृह० अ० २ ब्रा० ४ श्रु० ५) अर्थ— याज्ञवल्क्य कहते हैं, कि हे मैत्रेयी! पतिके सुख होनेकी कामनासे स्त्रीको पति प्रिय नहीं होता, वरु अपनी कामनाके लिये पति स्त्रीको प्रिय लगता है। इसी प्रकार (जाया) स्त्रीके सुखके लिये स्त्री प्रिय नहीं लगती वरु अपने सुखके लिये प्रिय लगती है। इसी प्रकार पुत्रोंके सुखके लिये पिताको पुत्र प्रिय नहीं होते वरु अपनी कामनाकी पूर्तिके तात्पर्यसे पिताको पुत्र प्रिय लगते हैं। इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, कि आत्मासे बढकर प्राणीको कोई दूसरी वस्तु प्रिय नहीं है। पति, स्त्री, पुत्र वित्त इत्यादि परस्पर सम्बन्धके कारण प्रिय नहीं हैं वरु अपने आत्माही के सुखके लिये हैं। इसलिये याज्ञवल्क्य कहते हैं, कि हे मैत्रेयी! सुनो! श्रु०—"**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**" अर्थ— आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने तथा निदिध्यासन करनेके योग्य है।

इसीकारण आत्मानन्दवाला विषय सुखोंको फीका जान परम-शान्तिको प्राप्तकर सदाके लिये परम सुखी होजाता है ॥ ६६ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! अयुक्त प्राणीको बुद्धि क्यों नहीं होती ? इसके उत्तरमें भगवान बोले—

मू०—इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

॥ ६७ ॥

पदच्छेदः— हि (यस्मात) चरताम (स्व स्व विषये-वर्तमानानाम) इन्द्रियाणाम् (अवशीकृतानां श्रोत्रादीनाम्) यत् (यदेकमपोन्द्रियम्) मनः(असौमनः)अनुविधीयते (अनुप्रवर्त्तते। प्रेर्यते) तत् (एकमिन्द्रियम्) अस्य (अयुक्तपुरुषस्य) प्रज्ञाम (बुद्धिम) हरति (अपनयति । अपकर्षयति) अंभसि (उदके) नावम (नौकाम) वायुः (पवनः) इव (सादृश्यम) ॥ ६७ ॥

पदार्थः— (हि) क्योंकि (चरताम्) अपने-अपने विषयकी ओर वर्त्तमान होनेवाली (इन्द्रियाणाम) श्रोतादि इन्द्रियोंके मध्य (यत) जिस एक इन्द्रियके साथ (मनः) यह मन (अनु-विधीयते) चलपडता है अर्थात जिस इन्द्रियकी आज्ञामें यह मन उसके विषयकी ओर झुकता है (तत्)वही इन्द्रिय (अस्य) इस अयुक्त-पुरुषकी (प्रज्ञाम) आत्मतत्त्वकी ग्रहण करनेवाली बुद्धिको (हरति) ऐसे हरलेती है (इव) जैसे (अंभसि) जलमें (नावम्) नावको (वायुः) प्रचण्ड-पवन घसीटे फिरता है ॥ ६७ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो पूछा है, कि प्रसाद-रहित अयुक्त पुरुषको आत्मानन्द प्रदायिनी बुद्धि क्यों नहीं प्राप्त होती ? उसके उत्तरमें श्री योगेश्वर भगवान् इस श्लोक द्वारा उसका विशेष कारण प्रत्यक्ष करतेहुये कहते हैं— [**इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते**] हे अर्जुन ! ये जो आंख, जिह्वा, नाक, और कान इत्यादि दशों इन्द्रियां रूप, रस, गन्ध शब्दादि अपने-अपने विषयोंकी ओर सदा वर्त्तमान रहनेवाली हैं, जिनकी ऐसी ही प्रकृति है, कि जब जिस अपने विषयको अपनी ओर आतेहुए देखती हैं, झट उसकी ओर दौड पडती हैं, जिनकी प्रबलताके सामने बडे-बडे यतियोंका यत्न कुछभी काम नहीं करता—इनहीं प्रबल इन्द्रियोंमें जिस किसी एक इन्द्रियके साथ यह मन चल पडता है अर्थात् जिस इन्द्रियकी आज्ञामें इस बेचारे सकल्पविकल्पात्मक मनकी प्रवृत्ति होजाती है—[**तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि**] वही एक इन्द्रिय बुद्धिको भी झट घसीटकर अपने विषयमें ऐसे डुबादेती है जैसे सागर, सरिता इत्यादिके जलमें पवन अपने प्रचण्ड वेगसे नावको सीधे मार्गसे घसीटकर उलटे पुलटे मार्गमें लेजा फंसा देता है, अर्थात् लहरोंके वेगसे जब कर्णधार (मांझी) नउकाके संभालनेमें असमर्थ होजाता है तब पवन अपने वेगसे उस नावको जिधर चाहता है लेजाता है। उसके पालको फाड मस्तूलको उखाड, घोर धारमें पटक देता है। फिरतो नावको किनारे पर लगा पथिकोंको नियतस्थानपर उतारनेकी बुद्धि उस कर्णधारको नहीं रहती।

इसीप्रकार जब एक इन्द्रियमें प्रज्ञाके नष्ट करदेनेकी ऐसी शक्ति

विदित है तब यदि सब इन्द्रियोंकी शक्ति एकत्र हो प्राणीके मन और प्रज्ञाको घसीटें तो भला उसका कहां ठिकाना लगसकता है ? कहीं भी नहीं। यहां जलसे दृष्टान्त देनेका तात्पर्य्य यह है, कि जलहीमें नउकाको पवन इधर उधर घसीट सकता है पृथ्वीमें नहीं। जल बहनेवाली बस्तु है, चंचल है, इसलिये जलके सदृश जिसका मन चंचल है उसीको इन्द्रियरूप वायुके धक्कोंसे इधर उधर होजानेका भय है, पर पृथ्वीके समान जिसका मन स्थिर है उसे न इन्द्रियां अपनी ओर खींच सकती हैं न उसकी प्रज्ञा नष्ट करसकती है। किसी-किसी टीकाकारने "यत्" और "तत्" दोनों शब्दोंको मनकेलिये प्रयोग करना उचित समझकर ऐसा अर्थ किया है, कि जो मन इन्द्रियके साथ खिंच जाता है वह प्रज्ञाको नष्ट करदेता है।

शंका— श्री कृष्णभगवान् पहलेभी श्लो० ६० में कह आये हैं कि "इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः" और अब फिर इस श्लोकमें कहते हैं, कि "तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि" इन दोनों वचनोंके समान होनेसे क्या पुनरुक्ति दोष नहीं कहाजावेगा ?

समाधान— यह पुनरुक्ति दोष नहीं है। श्लो० ६० में जो कहा है, तहां ऐसा कहा है, कि "यततोह्यपि" जो लोग आत्मज्ञानकी प्राप्तिके निमित्त यत्न कररहे हैं उनके केवल मनको इन्द्रियां अपनी ओर खींचलेती हैं। और जो यहां अब कहा है सो साधारण लोगोंकी बुद्धिके विषयमें कहा। अर्थात् जो लोग अयुक्तमनस हैं, अहर्निशि संसारी कामनाओंमें फंसे हैं, उनकी एक इन्द्रिय भी धोखा

देकर उनके मन और बुद्धिको भी हरलेती है। इसलिये यहां साधारण लोगोंमें ब्रह्मबुद्धि नहीं होनेका कारण दिखाया । यहां पुनरुक्ति नहीं कहनी चाहिये, वरु एक श्लोक दूसरेके सिद्धान्तको पुष्ट करनेवाला है। मुख्य अभिप्राय यह है, कि जब साधकगण भी, जो मुमुक्षु कहेजाते हैं, इन इन्द्रियोंके चपेटमें आजाते हैं तो मूर्ख बुद्धिहीन विषयी जीवोंकी दुर्दशाकी तो कहना ही क्या है ? ।

दूसरी बात यह है, कि श्लोक ६० में जो कहा, सो केवल मन के विषय कहा अर्थात् साधकके मनको इन्द्रियां क्षणिक, चंचल कर-देती हैं, प्रज्ञाको नहीं । हां ! इतना तो अवश्य है, कि उस समय साधककी प्रज्ञा कुछ दब जाती है । एकबारगी नष्ट नहीं होती । तात्पर्य्य यह है, कि साधककी प्रज्ञाका लोप नहीं होता, पर साधारण प्राणीकीतो प्रज्ञाका भी लोप होजाताहै । इन दोनोंमें इतना ही अन्तरहै।

संकल्पविकल्पात्मिकावृत्तिको "मन" कहते हैं और "प्रज्ञा" नि-श्चयात्मिका-वृत्ति को कहतेहैं। इसलिये मन जो चंचलहै शीघ्र इन्द्रियों के फन्देमें आजाताहै और प्रज्ञा निश्चय होनेके कारण स्थिरहै अतएव झट किसी इन्द्रियोंके वश नहीं फंस सकती । शंका मत करो! ॥६७॥

इन्द्रियोंकी ऐसी प्रवलता जान जिसने इनको वशीभूत करनेकी इच्छाकीहै ऐसे मुमुक्षुकी प्रज्ञाकी क्या गति होतीहै सो भगवान आगे के श्लोक में कहते हैं—

भगवानने जो ६० वें श्लोक में " यततोह्यपि००० " कहकर यह उपन्यास किया कि ये इन्द्रियां मोक्ष मार्ग में यत्न करनेवालोंको भी दुःखदायी हैं इसी विषयको अनेक प्रकारसे सिद्ध करतेहुए इस अगले श्लोकमें उपसंहार करते हैं।

मू०—तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
॥ ६८ ॥

पदच्छेदः— तस्मात् (अतः) महाबाहो ! (हे सर्वशत्रुनिग्रहसमर्थ विशालभुज !) यस्य (यतेः) सर्वशः (मनसासहितानि सर्वप्रकारेण स्वकारणेन । सर्व प्रकारैर्मानसादिभेदैः) इन्द्रियाणि (श्रोत्रादीनि) इन्द्रियार्थेभ्यः (शब्दादि विषयेभ्यः) निगृहीतानि (वशवर्त्तीनि) तस्य (सिद्धस्य साधकस्य वा) प्रज्ञा (बुद्धिः) प्रतिष्ठिता (गौरवान्विता) [भवति] ॥ ६८ ॥

पदार्थः— (महाबाहो !) हे विशालबाहुवाला अर्जुन ! एक इन्द्रियकी प्रबलतासे भी प्रज्ञा नष्ट होजाती है (तस्मात्) इसीलिये (यस्य) जिस साधककी (सर्वशः) सर्वप्रकार (इन्द्रियाणि) सब इन्द्रियां अपने (इन्द्रियार्थेभ्यः) सब विषयोंसे रहित होकर (निगृहीतानि) वशीभूत होरही हैं (तस्य) उसी सिद्ध वा साधक की (प्रज्ञा) बुद्धि (प्रतिष्ठिता) गौरववाली होजाती है ॥६८॥

भावार्थः— पूर्व श्लोकमें साधारण पुरुषोंकी सब इन्द्रियोंसे एक इन्द्रियकी शक्तिद्वारा प्रज्ञाकी हानि दिखलायी। इसलिये अब इस श्लोकमें सर्व इन्द्रियोंको सर्व प्रकारसे रोकनेका फल दिखातेहुए भगवान् श्री कृष्णचन्द्र कहते हैं--[तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः] हे शत्रुओंको जय करनेमें समर्थ विशाल भुजावाला अर्जुन ! जिस ज्ञानवानकी श्रोत्रादि

सर्व इन्द्रियां सब ओरसे सर्व प्रकार मानसिक संकल्प विकल्पोंके साथ अपने शब्दादि विषयोंसे रहित होकर उसके वशीभूत होरही हैं अर्थात् कैसाभी प्रबल चित्तका मोहनेवाला, नाना प्रकारका प्रलोभन दिखानेवाला, अत्यन्त रमणीयसे भी रमणीय विषय क्यों न सामने आकर अपने फंदे में फँसाना चाहे पर जो सिद्ध-पुरुष इनके फन्देमें नहीं फँसता [तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता] उसीकी बुद्धि प्रतिष्ठिता कहीजाती है अर्थात् वही ज्ञानियों तथा हरिभक्तोंकी मण्डलीमें उच्च आसनको पाता है। क्योंकि ऐसा स्थित-प्रज्ञ सदा अपने आत्म-सुखमें मग्न रहता है इस कारण विषय उसे बाधा नहीं करसकता। क्यों कि ऐसे पुरुषकी दृष्टिमें इन्द्रियां भी आत्मरूपही देख पडती हैं। कारण यह है, कि आत्मा ही स्वयं देखनेवाला सुननेवाला है। आत्मासे अतिरिक्त जो इन्द्रियां देख पडती हैं वे केवल अज्ञानियोंको शरीरकी उपाधिमें देखपडती हैं, नहीं तो सच पूछिये तो सब कुछ करनेवाला यह आत्मा ही है-श्रु०— एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते (प्रश्नोप० प्र० ४ श्रु० ६)

अर्थ—यह आत्मा स्वयम् देखनेवाला, स्पर्शकरनेवाला, मननकरनेवाला, बोधकरनेवाला और सब कर्मोंका करनेवाला पुरुष है। परम अविनाशी स्वरूप परमात्माहीमें प्रतिष्ठित है। जैसे जलमें सूर्य्यका विम्ब पडनेसे तेजका प्रवाह अर्थात् किरणोंका इधर उधर फैलना देख पडता है सो जलकी उपाधि है। इसीप्रकार अविद्याकी उपाधिके साथ इस पांच- भौतिक शरीरकी उपाधिसे इन इन्द्रियोंके कार्य्य भिन्न-भिन्न देख

पडते हैं । फिर जैसे जलके सूखजानेसे वह बिम्ब सूर्य्यमें जा लय होजाता है ऐसे इस पुरुषकी कामनारूप जलके सूख जानेसे सब इन्द्रियां आत्मारूप सूर्य्यमें लय होजाती हैं । क्योंकि जब ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होनेसे पुरुषकी अविद्याका कार्य्यरूप जल शुष्क होगया तो रूप, रस इत्यादि सब इन्द्रियोंके विषयोंका उसी आत्मामें लय होगया । इसी-कारण सिद्ध-पुरुषकी इन्द्रियां उसके जीवित रहते हुए भी उसे क्लेश नहीं देतीं ।

यहां भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो सिद्ध पुरुष हैं उनको तो सर्वत्र आत्माही-आत्मा बोध होनेसे इन्द्रियोंका तो लेशमात्रभी नहीं रहता पर इनसे इतर जो मोक्षमार्गके अभिलाषी हैं तथा भगवत्-प्राप्तिकी दृढ इच्छा रखते हैं वेभी सदा इन इन्द्रियोंको अपने वशीभूत रखनेका यत्न करते रहते हैं—जैसे पथिक रात्रिके समय किसी उत्तरणस्थान (सराय) में उतरकर चोर और लुटेरोंके भयसे जागता हुआ रात्रि बिताता है । घोरनिद्रामें आकर अचेत नहीं होता । ऐसे यह मुमक्षु मोक्षमार्गका पथिक इस संसारको उत्तरणस्थान जानकर इन इन्द्रियरूप लुटेरोंसे अचेत नहीं रहता । ऐसे पुरुषकी प्रज्ञा प्रतिष्ठिता कही जाती है ॥ ६८ ॥

अविद्याग्रस्त, विषयोंमें फँसेहुए और परलोकसे विमुख संसारी जीवोंसे मोक्षमार्गाभिलाषी प्राणियों का जो अन्तर है, भगवान् दृष्टान्त देकर अगले श्लोकमें दिखलाते हैं ।

मू॰—या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
॥६९॥

पदच्छेदः— या (आत्मनिष्ठा) सर्वभूतानाम् (अज्ञानान्धप्राणिनाम् । सर्वजीवानाम्) निशा (यामिनी । रात्रिः । तमा रजनी । विभावरी) तस्याम् (अविवेकिनां रात्रौ । आत्मनिष्ठायाम्) संयमी (इन्द्रियमनोबुद्धीनां निग्रहणशीलो यतिः) जागर्ति (प्रबुद्धो भवति। जागरूको भवति । उन्निद्रो भवति) यस्याम् (अविद्याख्याम् निशायाम् मोहिनीमायाया विभावरीम्) भूतानि (अज्ञानान्धजन्तवः) जाग्रति (प्रबुध्यन्ते । स्वस्वव्यापारेप्रवर्त्तन्ते) सा (अविद्याख्यानिशा) पश्यतः (आत्मदर्शनवतः) मुनेः (योगिनः) निशा (गाढान्धकारवतीक्लेशकरीरात्रिः) ॥ ६९ ॥

पदार्थः— (या) जो आत्मनिष्ठारूप प्रकाशयुक्त दिवस (सर्वभूतानाम्) सर्वसाधारण प्राणियोंकेलिये-(निशा) अंधकार रात्रिके सदृश है (तस्याम्) तिसमें (संयमी) अपनीइन्द्रियोंका निग्रह करनेवाला यति (जागर्ति) जगा रहता है अर्थात् सो यतिका दिनहै और इसके प्रतिकूल (यस्याम्) जिस अविद्यारूप रात्रिमें (भूतानि) सर्वसाधारण प्राणी (जाग्रति) जगते हैं (सा) सो (पश्यतः) आत्मदर्शी (मुनेः) मुनिकी (निशा) महाअन्धकारमयी क्लेशदेनेवाली रात्रि है ॥ ६९ ॥

भावार्थः— अब योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्द कन्द ! मायाग्रस्त विषयासक्त प्राणियोंसे मोक्षाभिलाषी प्राणियोंकी विलक्षणता एक उत्तम दृष्टान्त देकर अर्जुनको समझाते हुए कहते हैं- [या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी] जो सर्व साधारण जीवोंकी रात्रि है उस रात्रिमें "संयमी" "जो अपने इन्द्रियोंको अपने मन सहित वश करनेके उपायमें लगाहुआ है जागता है, अर्थात् जो मायाग्रस्त प्राणियोंकी रात्रि है सोही यतियोंका दिन है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जैसे जागने वाले जीव दिनके समय अपना सब व्यवहार करतेहैं और रात्रिको अचेत सोजातेहैं, इसीप्रकार मोक्षाभिलाषी यती आत्मतत्त्वरूप प्रकाशमान दिनमें यम नियम इत्यादि यौगिककर्म तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन, शम, दम, तितिक्षा इत्यादि अपने पारमार्थिक धन के उपार्जनमें जगारहता हैं। सोई आत्मज्ञानियों का दिन अज्ञानियोंकी रात्रि है, अर्थात् संसारीजीव अज्ञानताकी रात्रिमें शयन कियेहुए इन पारमार्थिक कर्मोंसे अचेत रहते हैं और मायाकी घोर निद्रामें शयन करतेहुए पूर्वोक्त भगवद्धर्मसे विमुख रहते हैं । जैसे उलूक नाम पक्षीकी दृष्टिमें दिनका प्रकाश नहीं देखपडता तथा व्याघ्र, सिंह इत्यादि क्रूरजीव दिनके समय अपने आहार ढूंढनेकी क्रियासे निवृत्तहोकर सोजाते हैं। इसीप्रकार ब्रह्मतत्त्व अर्थात् भगवतत्त्वरूप रूप परम प्रकाशमान दिनको संसारी जीव नहीं देखसकते । इसीके विपरीत [यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः] जिस मोहिनीमाया रूप दिनमें संसारी जीव जागते हैं वह आत्मदर्शी मुनिकी रात्रि है, अर्थात् संसारीजीव जिस समय अपने मायावी प्रकाश दिनमें नाना-

प्रकारके संसृत व्यवहारोंमें फंसेहुए जागते हैं। अर्थात शुभाशुभ कर्मोंका सूत लियेहुए कर्मजाल बुननेमें तत्पर रहते हैं। विषयका मद्यपानकर नानाविधि कामनाकी पूर्त्तिमें मग्न रहते हैं। कभी राजा,कभी रंक बनते हैं। कभी स्वर्ग, कभी नर्क इत्यादि भिन्न भिन्न लोकोंकी हवा खाते रहतेहैं; अर्थात् त्रिगुणात्मक कर्ममें भानमतीकी पिटारीका खेल खेलाकरते हैं। वही इन मूर्खोंका "दिन" आत्मदर्शीके लिये घोर अन्धकार रात्रिके समान क्लेशकारक है। अर्थात् जो परमात्मतत्त्वदर्शक है वह जीवन्मुक्त होनेके कारण इन नानाप्रकारके संसारी विषयोंसे निवृत्त होकर शान्तिरूप रात्रिमें सोरहता है; अर्थात् शुभाशुभ कर्मोंके जालमें नहीं फंसता तथा इन्द्र, वरुण, कुवेरके लोकोंके सुखकी कामना भी नहीं रखता है। वहतो सब व्यवहारोसे निबृत्त होकर भगवच्चरणोंका उपधान (तकिया) बनाये शान्तिकी शय्यापर महामायारूप परम प्रलयकी रात्रिमें आनन्दपूर्वक सोजाता है। अर्थात् मायाके कार्योंमें नहीं जगा रहता। प्रमाण—बुद्धतत्त्वस्य लोकोऽयं जडोन्मत्त पिशाचवत्।

बुद्धतत्त्वोऽपि लोकस्य जडोन्मत्तपिशाचवत् ॥

(नीलकण्ठः)

अर्थ— जो प्रबुद्धतत्त्व है अर्थात परम तत्त्व भगवत्स्वरूपका जाननेवाला है उसकेलिये यह संसार जड, उन्मत्त और पिशाचके समान हैं। पर इसके विपरीत जो इस लोकके रहनेवाले लौकिक प्राणी हैं उनकी दृष्टिमें बुद्धतत्त्व जो परम तत्त्वका वेत्ता है वही जड, उन्मत्त और पिशाचके समान है।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जैसे संसारीपुरुष नानाप्रकारके छल, कपट, असत्यभाषण इत्यादिसे अपना समय व्यर्थ बितातेहुए मृत्युके फंदे पडजाते हैं ऐसे आत्मतत्त्वदर्शी पुरुष नहीं पडते । सुनो !

ॐ तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति (प्रश्नोपनिषत् प्रथमप्रश्न श्रु० १६)

अर्थ— जिन पुरुषोंमें जिह्म+ (कुटिलभाव) अनृत (झूठ) और मायाका प्रवेशनहीं है तिन पुरुषोंकेलिये यही लोक " विरजः " निर्म्मल ब्रह्मलोक है । इसीकारण भगवान् कहते हैं, कि जो संसारियोंका दिन है वह मुनियोंकी रात्री और जो मुनियोंकी रात्रि है वह संसारियोंका दिन है। मुख्य अभिप्राय इस श्लोकका यह है, कि संसारीजीव अज्ञानताकी घोर रात्रिमें अचेत सोयेहुए हैं और जैसे सोनेवाला निद्रामें विविध-प्रकारका स्वप्न देखता रहता है इसीप्रकार चौरासीलक्ष योनियोंमें स्वप्नके समान चक्कर खाते रहते हैं । इनकी निद्रा प्रलयकालतक भी टूटनेवाली नहीं है । हां ! परमात्माकी दयासे और इनके किसी शुभ संचितके उदय होनेसे कोई महापुरुष इनके कानमें चिल्लाकर आत्मानन्दका स्वर फूंके और ये जगजावें तो आश्चर्य नहीं है ॥ ६९ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें एक उत्तम दृष्टान्त देकर यह दिखलाते हैं, कि जो कुछ नहीं चाहता है उसके पास सर्व सुख आपसे आप दौड चले आते है—

+"जिह्मः" जहाति सरल मार्गः—कुटिलता । हा-मन-सन्वत् मा लोपश्च (उणा० १-२८)

मू०— आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठम्,
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे,
स शांति माप्नोति न कामकामी ॥
॥७०॥

पदच्छेदः— यद्वत् (यथा येनैव निर्विकारप्रकारेण) आपूर्य्यमाणम् (समन्तादद्भिः पूर्य्यमाणम्) अचलप्रतिष्ठम् (अनतिक्रान्तमर्य्यादम्। अचलानां मैनकादीनां प्रतिष्ठा यस्मिन्निति वा। वृद्धिह्रासहीनत्वादनुद्रिक्तम्) समुद्रम् (सागरम्। उदधिम) आपः (वृष्ट्यादिप्रभवाण्युदकानि) प्रविशन्ति (लीयन्ते) तद्वत् (तथा। तेनैवनिर्विकारप्रकारेण) यम् (स्थितप्रज्ञम्। अन्तर्दृष्टि—मुनिम्) सर्वे (बहुविधाः) कामाः (विषयाः। प्रारब्धकर्मभिः आक्षिप्ताः भोगाः) प्रविशन्ति (लीयन्ते) सः (स्थितप्रज्ञः) शान्तिम (आत्यन्तिकं दुःखोपरमम्। मोक्षम्। सर्वलौकिकालौकिककर्मविक्षेपनिवृत्तिम्) आप्नोति (प्राप्नोति) कामकामी (विषयार्थी। भोगकामनाभिलाषी) न (नैव) ॥ ७० ॥

पदार्थः— (यद्वत) जैसे (आपूर्यमाणम्) पूर्ण जलसे भरेहुए (अचलप्रतिष्ठम्) स्थिर मर्य्यादावाले (समुद्रम्) सागरमें (आपः) भिन्न-भिन्न देशोंसे जल एकत्र होकर (प्रविशन्ति) प्रवेश करजाते हैं (तद्वत) इसी प्रकारसे (यम्) जिस महापुरुषमें (सर्वेकामाः) सब कामनायें बिन बुलायें आपसे आप (प्रविशन्ति)

प्रवेश करजाती हैं (सः) वही (शांतिम्) परम शान्तिको (प्राप्नोति) प्राप्त करता है पर (कामकामी) कामनावाला (ब) मोक्ष पदको प्राप्त नहीं करता; अर्थात् जो प्राणी नाना प्रकारके विषय भोगोंकी इच्छा करता रहता है उसे कभी शान्ति प्राप्त नहीं होती ॥ ७० ॥

भावार्थः—पूर्व श्लोकमें भगवान्ने अर्जुनके प्रति ऐसा कहा, कि जिस व्यवहारमय दिनमें संसार जगाहुआ है उसमें स्थितप्रज्ञ मोक्षाभिलाषी सोया हुआ है अर्थात मोक्षाभिलाषी केवल ब्रह्मविद्याके साधनमें तत्पर रहकर संसारी व्यवहारमें नहीं फंसता । तहां शंका यह है, कि तिस मोक्षाभिलाषीके भोजन, वस्त्र, कुटुम्ब-पालन, बाल-बच्चों के विवाह इत्यादि अनेक आवश्यकीय कार्य्य बिना व्यवहार कैसे सिद्ध होसकते हैं ? और उसे शांति कैसे प्राप्त होसकती है ? इसी शंका की निवृत्तिके तात्पर्यसे श्यामसुन्दर इस श्लोकको कहते हैं, कि

[आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत्]

हे अर्जुन ! जैसे जलसे पूर्ण-प्रकार भरेहुए समुद्रको किसी अन्य जलकी इच्छा नहीं रहती । भरा भराया रहता है और अचल प्रतिष्ठ है, जिसकी मर्य्यादामें न्यूनाधिक्य नहीं होता । चाहे लाखों करोडों गंभीर बादल उसमें वृष्टि करते रहें, करोडों नदियां दशों दिशाओंसे आकर उसमें क्यों न मिलती रहें, पर वह ऐसा अचलहै, कि कभी अपनी मर्य्यादा नहीं छोडता । अर्थात् जैसे छोटी-छोटी नदियां वर्षाकालमें जलको पाकर विकारवान हो अपने किनारेके ग्रामोंको बहा लेजाती हैं, ऐसे समुद्र कभी विकारवान नहीं होता । किनारेकी झोंपडीभी नहीं बहा लेजाता । जैसे ग्रीष्मकालमें छोटी-छोटी नदियां सूखजाती हैं

ऐसे समुद्र रत्तीमात्र भी नहीं सूखता। अर्थात् समुद्र कभी भी किसी कारणसे विकारवान होकर अपनी मर्य्यादा नहीं छोडता। अथवा यों अर्थ करलो, कि अचल जो मैनाक इत्यादि पर्वत उस सागरमें प्रतिष्ठित हैं इसलिये समुद्र "अचलप्रतिष्ठ" कहाजाता है। इस भरे भराये मर्य्यादा सहित अचल प्रतिष्ठ समुद्रमें जैसे गंगा, यमुना, सिंधु, नर्म्मदा इत्यादि सहस्रों नदियां भिन्न-भिन्न दिशाओंसे बिना बुलाये आपसे आप जामिलती हैं। हे अर्जुन [**तद्वत् कामायं प्रविशन्ति सर्वे स शांति माप्नोति न कामकामी**] ऐसे ही जिस प्राणीके हृदयरूप सागरमें भगवत्स्वरूप रूप मैनाक प्रतिष्ठा पाये हुआ है अन्य किसी प्रकारकी कामना नहीं है, अपने पूर्ण-जल आत्मानन्द से भराहुआ है, जो किसी प्रकार विषय रूप नदियोंके प्रवेशसे विकारवान नहीं होता। सदा अपने सिद्धान्तमें अचल प्रतिष्ठ है। किसी प्रकारकी आपत्ति तथा किसी प्रकारके प्रलोभनसे चलायमान नहीं होता। चाहे प्रारब्ध वश उसमें कितना भी विषयरूप जल प्रवेश क्यों न करजावे पर वह अपने स्वरूपसे टलता नहीं। सदा स्थिर है। ऐसे महापुरुष के समीप चाहे वह गृहस्थ हो वा त्यागी सब कामनायें आपसे आप बिना बुलाये पहुंचजाती हैं, अर्थात् उसकी सब इच्छा सदा पूर्ण होती रहती हैं। उसकी कोई कामना शेष नहीं रहती। उसके सर्व कार्य आपसे आप सिद्ध होते रहते हैं, पर वह न तो कामना रखता है, न उनके मिलनेसे विकारवान होता है। ऐसे पुरुषको शान्ति प्राप्त होती है अर्थात् मोक्ष लाभ होता है।

जैसे सूर्यको दीपक की आवश्यकता नहीं है। जैसे अमृत पीने

वालेको छाछकी आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्मानन्दसे पूर्ण प्राणीको किसी भी कामना तथा ऋद्धि सिद्धिकी इच्छा नहीं होतीहै। क्योंकि जिसकी दृष्टिमें स्वर्ग-सुख तुच्छ होरहाहै उसकी दृष्टिमें संसारी ऋद्धि सिद्धि की क्या गणना है?। जैसे समुद्रमें नहीं बढने घटने का अपूर्व चमत्कार है, इसी प्रकार सिद्ध-पुरुषोंमें भी यह एक अपूर्व चमत्कार है। इसी कारण भगवानने समुद्रसे उपमा दी है।

इसीके प्रतिकूल भगवान् कहते हैं, कि "न कामकामी" जिसके हृदयमें सहस्रों कामनायें लगी हुई हैं, जिसे संतोष लेशमात्र भी नहीं है। आज यह चाहिये, कल वह चाहिये, ऐसी कामनाओं के पीछे व्याकुल रहता है, उसे चाहे कितना भी कुछ प्राप्त क्यों न हो शान्ति नहीं होती। इसीलिये उसकी कामना उसके समीप नहीं जाती। वह सदा कामनाओंके पीछे चिल्लाता और कराहता ही रहता है।

प्रश्न—क्या कारण है, कि जो सर्वकामपूर्ण है उसीके पास सब कामनायें आपसे आप दौडीजाती हैं और जो इनकी इच्छा करता है उसके पास नहीं जातीं?

उत्तर— यह वार्त्ता तो स्पष्ट देखीजाती है, कि जो किसी तत्त्वका पूर्ण अंश होगा उसके समीप उस तत्त्वके छोटे-छोटे अंश आकर्षित होकर उसीकी ओर जा उसमें मिलजाते हैं। जैसे अयस्कान्त (चुम्बक Magnet) के पर्वतकी ओर सब लोहेकी कीलें आपसे-आप दौडजाती हैं। क्योंकि उस महान पर्वतमें लोहोंके खींचलेनेकी एक अपूर्व शक्ति हैं। इसी प्रकार ब्रह्मानन्द जो सर्वप्रकारके आनन्दोंका

लौहकर्षक एक पूर्ण पर्वत है, सबप्रकारकी कामना-रूप लौहकी कीलोंके खींचलेनेकी एक अपूर्व शक्ति रखता है ।

अथवा यों समझलीजिये, कि जो जिस तत्त्वका मण्डल (Globe) होगा उसकी ओर उस तत्त्वकी बनीहुई छोटी-छोटी वस्तु अवश्य खिंच जावेंगी । जैसे भूमण्डल जो जल और मिट्टीका पूर्ण मण्डल है मिट्टी और जलसे बनीहुई सब वस्तुओंको अपनी ओर खैंचलेता है । एक मृतपिण्ड आप कोसों ऊपर लेजाकर छोडदीजिये तो वह बलात्कार नीचे पृथ्वीकी ओर आवेगा । वृक्षोंसे फल, फूल, मंजर इत्यादि सब छूटकर पृथ्वीपर ही गिरते हैं । क्योंकि पृथ्वी सबको अपनी ओर खींचलेती है । इसीप्रकार सूर्य्यमण्डल जो अग्निका एक पूर्ण मण्डल है अग्निसे उत्पन्न वस्तुओंको अपनी ओर खैंचलेता है। जैसे ज्वाला, धूम, वाष्प इत्यादि जो अग्निके अंश हैं ऊपरकी ओर खिंचजाते हैं । इसी सिद्धान्तके अनुसार सर्वप्रकारके आनन्द जो आत्मानन्दरूप मण्डलके अंश हैं आत्मानन्दकी ओर खिंचजाते हैं। जो कृतात्मा है अर्थात् आत्मानन्द लाभ करचुका है उसके पास सब आनन्द देनेवाली वस्तु आपसेआप दौडी जाती हैं, चाहे वह प्राणी उनको भोगे वा न भोगे । इसका उदाहरण तो स्वयं अच्युत भगवान् हैं, जिनके समीप विना बुलाये सब गोपिकायें दौडी आती थीं. पर अच्युतको तो किसीकी इच्छा नहीं थी तथा किसीको स्पर्श भी नहीं किया ।

तीसरा समाधान यह है, कि श्यामसुन्दर अर्जुनको इस अध्याय

में बुद्धि-योगका उपदेश कररहे हैं, तिस बुद्धिके अधिष्ठातृदेव विष्णु भगवान् हैं। तिस विष्णुकी वामांगी लक्ष्मी है, जो सब कामनाओं में व्याप्त है। इसीकारण जहां बुद्धि होगी तहां उसका अधिष्ठातृदेव विष्णु होगा और जहां विष्णु होगा तहां लक्ष्मी उसके चरणोंको अवश्य सेवेगी। इसलिये बुद्धियोगवालेकी सब कामनायें आपसे आप पूर्ण होती रहती हैं। यहां किसी प्रकारकी शङ्का मत करो ! ।

अब रहा यह, कि इच्छा करनेवालोंके समीप कामनायें क्यों नहीं जाती हैं? तिसका कारण सुनो ! स्वजातीय वस्तुओं में चाहे वे सूक्ष्म हों वा स्थूल परस्पर संगति होसकती है, पर विजातीय में नहीं होसकती। यह बुद्धिमानोंका सिद्धान्त है। इसी कारण परमानन्द, ब्रह्मानन्द, आत्मानन्द और विषयानन्द जो सब आनन्द ही आनन्द हैं एक संग खिंचजाते हैं। अतएव जिस प्राणीको प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता प्राप्त है उसीके पास सब आनन्द एकत्र होजाते हैं। पर जिस प्राणीको प्रसादकी प्राप्ति नहीं है अहर्निशि विषयोंकी चिन्तामें मग्न है तहां प्रसन्नता नहीं जासकती। क्योंकी ये चिन्ता और प्रसन्नता विजातीय होनेके कारण एक ठौर नहीं रहसकतीं। जब प्रसन्नता प्राप्त नहीं तो आनन्द नहीं होसकता। इसलिये कामनायें वहांसे दूर भागती हैं।

दूसरी बात यह है कि ऐसे प्राणीको बुद्धि नहीं होती। यदि सृष्टि रचनाके क्रमसे उसे बुद्धि हो भी तो उस बुद्धिपर अविद्याका आवरण पडा रहता है। तहां विद्या नहीं जाती। क्योंकि ये दोनों भी विजातीय हैं। इससे सिद्ध होता है, कि विषयी पुरुषोंके पास कामनायें

नहीं जासकती। क्योंकि वह "कामकामी" है। भगवतपरायण नहीं है कामना परायण है। ऐसा "कामकामी" पुरुष शान्ति नहीं लाभ कर-सकता। क्योंकि उसे प्रसाद नहीं प्राप्त होनेके कारण, उसकी बुद्धिको स्थिरता नहीं है। मुख्य अभिप्राय भगवान् के कहनेका यह है, कि सर्व-काम-पूर्ण होना शान्ति वाले पुरुषका लक्षण है ॥७०॥

अब शांति वालोंका दूसरा लक्षण वा शान्ति प्राप्तिका दूसरा उपाय भगवान् अगले श्लोकमें कहते हैं—

मू०—विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
॥७१॥

पदच्छेदः— यः (प्रारब्धभोगी) पुमान (पुरुषः) सर्वान् (सकलान्। अशेषान्) कामान् (त्रिविधैषणान्) विहाय (त्यक्त्वा। उपेक्ष्य) निस्पृहः (शरीरजीवनमात्रेऽपि निर्गता स्पृहा यस्य सः। सुखवृद्धि-कामनारहितः। अप्राप्तेषु स्पृहारहितः) निर्ममः (ममतारहितः। भोगसाधनेषु ममत्ववर्जितः) निरहंकारः (अहंकारशून्यः। शरीरे-न्द्रियादावयमहमित्यभिमानरहितः) चरति (प्रारब्धवशेन भोगान् भुक्ते। जीवनमात्र चेष्टाशेषः पर्यटति) सः (स्थितप्रज्ञः) शान्तिम् (कैवल्यपरमपदम्। सर्वसंसारदुःखोपरमत्वलक्षणाम् निर्वाणम्) अधिगच्छति (प्राप्नोति) ॥ ७१ ॥

पदार्थः— (यः) जो (पुमान्) पुरुष (सर्वान्) सब

प्राप्त वा अप्राप्त कामनाओंको (**विहाय**) परित्यागकर (**निस्पृहः**) अपने शरीरके जीवित रहनेकी भी अभिलाषासे तथा सुखकी वृद्धिकी इच्छासे रहित (**निर्ममः**) भोगोंको भोगतेहुए भी उनकी ममतासे रहित रहकर तथा (**निरहंकारः**) सर्व प्रकारके अहंकारसे शून्य हो (**चरति**) आनन्द पूर्वक विचरता है (**सः**) वही पुरुष (**शान्तिम्**) शांतिको अर्थात् निर्वाण पदवीको प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

भावार्थः— कामानाओंके त्यागका महत्व जो शान्तिका लाभ तिसे दिखलातेहुए आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं— [**विहाय-कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः**] जो प्राणी प्राप्त वा अप्राप्त सर्वप्रकारकी कामनाओंको अर्थात् प्रारब्धवश जो सम्पत्तियां उसे प्राप्त होती हैं अथवा जो नहीं प्राप्त हैं उन सबको अपने हृदय से निकालकर प्राप्त हुई कामनाओंको उदासीन होकर भोगलेता है और अप्राप्त के लिये किसी प्रकारका परिश्रम वा यत्न नहीं करता है सदा स्पृहा-रहित रहता है । धन, सम्पत्ति, दारा, पुत्र इत्यादिसे अन-भिस्नेह होकर इनकी वृद्धिकी तनकभी इच्छा नहीं रखता । अज्ञा-नियोंके समान शरीरके पालन, पोषणमें नहीं रहता । राज्यसुखके प्राप्त रहनेपर भी केवल शरीर-यात्राके निर्वाह-मात्र अन्न वस्त्रका ग्रहण करलिया करता है तथा [**निर्ममः निरहंकारः स शान्तिमधिग-च्छति**] ममतासे रहित होकर कभी ऐसा नहीं कहता है कि यह मेरा राज्य है, यह मेरा धन है, यह मेरा पुत्र बडावीर यशस्वी और स्वरूपवान है । वरु जैसे मार्गमें चलने वाले पथिक मार्गपर पडे हुए तृण, घास, फूस, लत्ते, और चिथडोंको तुच्छ जानते हैं, ऐसे इन भोगों

को तुच्छ जानता है तथा "निरहंकारः" अहंकार रहित रहता है, वही शान्ति लाभ करता है। मुख्य अभिप्राय भगवानके कहने का यह है, कि जो प्राणी एवम् प्रकार स्पृहा, ममता और अहंकार इन तीनों को त्यागकर प्रारब्ध वश प्राप्त भोगों को उचित रीति से भोगता हुआ शरीर-यात्रा की समाप्ति करता है वही शान्ति को प्राप्त होता है। जैसे कोई पथिक किसी पथिकाश्रम अर्थात् उत्तरण-स्थान (सराय) में पहुंच कर उस सरायसे किसी प्रकारका स्नेह नहीं रखता अपने संगके गठरियोंको भी अपनी यात्राके निर्वाह-मात्र ही समझता है। अपना सर्वस्व नहीं समझता। इसीप्रकार जो राज्य-भोगोंको भी शरीर-यात्राके निर्वाह-मात्र समझकर भोगताहुआ निःसंग विचरता है, वही मोक्ष सुख लाभ करता है। वही निर्वाण पदको प्राप्त करता है। "**वद्धो हि को यो विषयानुरक्तः को वा विमुक्तो विषये विरक्तः**" अर्थ— कौन संसार जालमें बंधाहुवा पडा है ? जो विषयोंसे अनुराग रखता है। कौन मुक्त है ? जो विषयोंसे विरक्त है। श्रु०— **यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति**" (छांदो० प्रपा ७ ख० २३ श्रु० १) अर्थ— जो "**भूमा**" है तिससे वढकर कोई दूसरा नहीं सोई सब सुखोंसे श्रेष्ठ परमानन्द सुख है। तिसके जो नीचे है सो "अल्प" है अर्थात् थोडा है। तिस "अल्प" में सुख नहीं। वरु उस "अल्पमें" अर्थात् विषयानन्दमें तृष्णाके कारण थोडे ही काल तक सुखका अनुभव होता है। उससे शांति नहीं होती। दुःख ही होता है। जैसे किसी चिरकालके प्यासेको केवल एक घोंट पानी पिलाकर उसके मुखसे जलका पात्र खींचलो तो उसकी प्यास और भी

अधिक बढती है । इसी प्रकार थोडी कामनाकी पूर्त्तिसे तृष्णा अधिक बढती है तो दुःख ही प्राप्त होता है। क्योंकि विषय-सुख अल्प है। जैसे स्वप्नमें किसी करोडपतिके कोशागारका कोष (खजाना) किसी दरिद्रको मिलगया वह उस कोश अर्थात् अशरफी रुपयोंको अपने घर लेजानेके लिये गाडियोंको एकत्र कररहा है, कि इतनेमें कोतवालने आकर छडी लगाई और कहा " अबतक सोयाहुआ है। उठ ! चल ! नाज काटने चल ! " बस जागते ही सब अशरफियां बिखर गयीं एक कौडी भी हाथ न आई। इसी प्रकार संसारी तृष्णावाला मायाकी निद्रा में सोयाहुआ कामनाओंकेवश सुख भोगनेकी आशामें फंसाहुआ मृत्यु को प्राप्त होजाता है । यमदूत दंडोंसे पीट-पीट कर उसे लेजाते हैं ।

इसलिये 'भूमा'* से इतर जो विषयका "अल्प" सुख है वह दुखदायी है। इसीसे परम कृपालु दयासागर भगवान अर्जुनके प्रति वारम्वार यही उपदेश करते हैं, कि मनुष्य कामनाओंको मलमुत्रके समान त्याग करदे जिससे शांति लाभ हो ॥ ७१ ॥

---

* भूमा—आत्मसुखको कहते हैं। जिसकी प्राप्ति होनेसे आत्मज्ञानी अन्य किसी वस्तुको न देखता है, न सुनता है और न जानता है । क्योंकि अद्वैत बुद्धि होनेसे आत्मतत्त्वसे इतर अन्य कोई वस्तु उसकी दृष्टिमें शेष रहती ही नहीं । इससे जो इतर है वह अल्प कहलाता है । अर्थात नाना प्रकारके विषय सुखोंको नाशवान् होनेके कारण 'अल्प' कहते हैं ।

मुख्य अभिप्राय यह है कि 'भूमा' (आत्मसुख) अमर है और " अल्प " (विषयसुख) नाशवान है ।

(देखो छां० प्र० ७ ख० २४ श्रु० १)

अर्जुनने जो चौथा प्रश्न किया था, कि "स्थितप्रज्ञ" कैसा आचरण करता है ? तिसका उत्तर यहां समाप्त होगया।

श्री आनन्दकन्द यहां तक अर्जुनको भिन्न-भिन्न प्रकारसे बुद्धि-योग समझा कर अब उसकी महिमा कहते हैं—

मू०— एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥
॥ ७२ ॥

पदच्छेदः— **पार्थ** (हे पृथापुत्र !) **एषा** (एवंविधा स्थितप्रज्ञस्यलक्षणप्रसंगात् कथिता। प्रागुक्ता) **ब्राह्मी** (ब्रह्मविषया) **स्थितिः** (निष्ठा) **एनाम्** (एवंविधां निष्ठाम्) **प्राप्य** (लब्ध्वा) [**पुमान्**] **न** (नैव) **विमुह्यति** (मोहं प्राप्नोति) **अन्तकाले** (वृद्धावस्थायाम। मृत्युसमये) **अपि** । **अस्याम्** (यथोक्तायां ब्राह्म्यांस्थितौ) **स्थित्वा** (अवस्थितिं प्राप्य) **ब्रह्मनिर्वाणम्** (मोक्षम् । ब्रह्मणिनिर्वृतिम् । निर्गतं वानं गमनं यस्मिन्प्राप्ये ब्रह्मणि तन्निर्वाणम्) **ऋच्छति** (गच्छति। प्राप्नोति) ॥ ७२ ॥

पदार्थः— (**पार्थ !**) हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! (**एषा**) यह जो ब्रह्मज्ञान विषयक निष्ठा है (**एनाम्**) इस निष्ठाको (**प्राप्य**) प्राप्त करके विशुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष (**न विमुह्यति**) मोहको प्राप्त नहीं होता वरु (**अन्तकाले**) वृद्धावस्था अथवा मृत्युके समय क्षणमात्र (**अपि**) भी (**अस्याम्**) इस ब्रह्मनिष्ठामें (**स्थित्वा**) स्थिर होकर (**ब्रह्मनिर्वाणम्**) ब्रह्मनिर्वाण पदवी अर्थात् मोक्ष-सुखको (**ऋच्छति**) प्राप्त होता है ॥ ७२ ॥

भावार्थः---- श्री कृष्णभगवान् अर्जुनके चार प्रश्नोंके उत्तर देनेके मिससे ब्रह्मज्ञान उपदेश करतेहुए इस अन्तिम श्लोकमें उस ज्ञानका महत्व दिखलानेके तात्पर्य्यसे कहतेहैं-[**एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति**] मैंने यह जो 'ब्राह्मी स्थिति' तुमको इस युद्धके समय ऐसे आपत्कालमें इतनी शीघ्रतासे कही है, इसे प्राप्तकर कोई प्राणी फिर संसार-मोहको प्राप्त नहीं होसक्ता। मुख्य अभिप्राय यह है, कि ब्रह्मप्राप्ति निमित्त जो बुद्धि होजाती है उसे ब्राह्मी कहते हैं। सो ब्राह्मीबुद्धि जब अपनी निष्ठाको दृढ करलेती है अर्थात् किसीप्रकारकी उपाधिको प्राप्त होती हुई, त्रयतापके झकोडोंमें पडतीहुई, तीक्ष्ण खड्गके सम्मुख गला देतीहुई, अग्निकुण्डमें गिरतीहुई, चक्कीमें पिसतीहुई, पर्वतसे गिरतीहुई तथा सागरमें डूबतीहुई नहीं हिलती डोलतीहै तब उसे ब्राह्मी स्थिति कहते हैं जैसे प्रह्लाद अपने पिताद्वारा नानाप्रकारके दुःख पानेपर भी ब्रह्मबुद्धिमें स्थिर रहा। इस-लिये उसकी निष्ठाको ब्राह्मी स्थिति कहेंगे। जो प्राणी निष्काम कर्म्म करतेहुए ऐसी स्थिति अर्थात् ब्रह्मज्ञान निष्ठाको प्राप्त होजाता है सो फिर "न विमुह्यति" किसी प्रकारके मोहको प्राप्त नहीं होता। सो भगवान आगेभी कहेंगे, कि "यज्ज्ञात्वा न पु:.मों॰ ० ० ०" (देखो अ० ४ श्लो० ३५)

जैसे व्याघ्र, सिंह, कुत्ते, बिल्ली इत्यादि मांसाहारी ... की आंखे, जो जन्म लेनेसे पन्द्रह बीस दिवस पर्य्यन्त बन्द रहती हैं, जब एकबार खुलजाती हैं तो फिर अन्तकाल पर्य्यन्त बन्द नहीं होतीं। इसीप्रकार एकबार गुरु कृपाद्वारा जिसकी आंखें

खुलगयीं हैं वह ब्रह्मज्ञानका प्रकाश लाभकर फिर अन्धकारमें नहीं पडता। ब्रह्मचर्य्य अवस्थासे ही सर्व आश्रमोंमें विधि पूर्वक विहार करताहुआ, अपनी ब्रह्मनिष्ठा को स्थिर रखता है। भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! इस ब्रह्मनिष्ठाका यहांतक महत्त्व है, कि [स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति] जो प्राणी आयुष्पर्य्यन्त एवम्प्रकार निष्काम कर्म करताहुआ ब्रह्मज्ञानके साधनमें तत्पर न होसका पर किसी महानगुरुकी कृपासे अन्तकालके समय भी यदि इस निष्ठा की स्मृति तथा इसमें स्थिति होगयी तो उस समय भी ब्रह्ममें लय होकर निर्वाण पदवीको प्राप्त होजाता है। इसे निर्वाण क्यों कहते हैं? सो सुनो "निर्गतं वानं गमनं यस्मिन्प्राप्ये ब्रह्मणि तन्निर्वाणम्" अर्थात् जिसकी प्राप्तिसे गमन करनेकी क्रिया निर्गत होजावे, रुकजावे, फिर न गमन करनापडे, उसे निर्वाण कहते हैं। अभिप्राय यह है, कि यह जीव अपने कर्मानुसार सदा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें गमन करता रहता है तथा इस मर्त्यलोकसे निकलकर, इन्द्र, वरुण, कुवेर, प्रजापति इत्यादि लोकोंको फिरता रहता है, सो गमन करना जब रुकजावे तब उसी अवस्थाको निर्वाण कहते हैं। सो केवल ब्रह्मज्ञानकी अवस्था है जिसे प्राप्त होनेसे फिर कहींभी गमन करना नहीं पडता। इसीकारण इसे "ब्रह्मनिर्वाणपद" कहते हैं।

किसी किसी आचार्य की यह सम्मति है, कि "अन्तकाल" कहनेसे भगवानका प्रयोजन बृद्धावस्थासे है, अर्थात् वृद्धावस्थामें भी यदि किसी प्राणीका प्रवेश इस निष्ठामें होजावे तो वह भी कैवल्य परम पदको प्राप्त होजाता है। पर श्रीधर स्वामीने अन्तकालका अर्थ मरणकाल ही

किया है, सो अयोग्य नहीं है। देखो! राजा खट्वांग अन्तकालमें गुरु कृपासे एक मुहूर्त्तमात्रही इस ब्राह्मीस्थितिमें प्रवेश कर निर्वाणपदको प्राप्त होगया। प्रमाण– "विज्ञाय चरमावस्थां देवताभ्यो नृपोत्तम। षट्वांगो नाम राजर्षिः मुहूर्त्ते मुक्तिमेयिवान" ॥ एवम्प्रकार जब थोडे कालकी निष्ठामें परमानन्दकी प्राप्ति होजाती है तो जो प्राणी आयुष्पर्यन्त इस निष्ठामें स्थिर रहेगा उसका कहना क्या है? अथवा "अन्तकालेऽपि" का यों भी अर्थ कर सकते है, कि जो प्राणी चतुर्थ अवस्था जो सन्यासाश्रम उसे ग्रहण कर इस "ब्राह्मीस्थिति" में प्रवेश करता है वह निर्वाण लाभ करता है। अथवा निर्वाण शब्दका यों अर्थ करलीजिये, कि "गतिमन्तरेण प्राणरूपोपाधिप्रविलीयमात्राद्घटाकाशस्य महाकाशत्व प्राप्तिवत।" अर्थ– जैसे किसी घटको तोडदेनेसे घटाकाश महदाकाशमें मिलजाता है इसी प्रकार प्राणीका प्राण जो मृत्युके पश्चात् उत्क्रमण करनेके लिये एक उपाधिमात्र था वह उत्क्रमण इत्यादि गति को छोड कहीं भी न जाकर तहांही ब्रह्ममें लय होकर परमानन्दको प्राप्त होजाता है। लो! और सुनो! "स्वस्थं शान्तं स निर्वाणं अकथ्यं सुखमुत्तमम्। अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते" (गौडपादीय कारिका प्रक० ३ श्लो० ४७) अर्थ— जो स्वरूप विषे स्थित, शान्त, निर्वाण और अकथनीय सुख है वही सुखोंमें उत्तम सुख कहलाता है। यह ब्रह्मानन्द सुख, जो आत्मस्वरूप होनेसे अज है अर्थात् अजन्मा है, वह अज से अर्थात् आत्मा हीसे जानाजाता है इसी कारण इसे सर्वज्ञ कहते हैं। यह आत्मा अज है सो भगवान् इस अध्यायके श्लोक २० में कहआये हैं, कि "न जायते म्रियते वा" ०० ।

इसकारण यह आत्मसुख आत्माहीसे अनुभव करनेका विषय है अन्य इन्द्रियोंसे नहीं और ब्रह्मज्ञान स्वरूप होनेसे सर्वज्ञ भी कहा जाता है। मुख्य तात्पर्य्य श्री गौडपादाचार्य्यजीके कहनेका यह है, कि जो प्राणी भगवान्‌के कथनानुसार "ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति" ब्रह्म-निर्वाण सुखको लाभ करता है, वह स्वयं उसका अपने ही स्वरूपका सुख है, किसी अन्य विषयसे उत्पन्न नहीं होता । इसलिये स्वस्थ है, शान्त है, निर्वाण है, अकथ्य है और सब सुखोंमें उत्तम सुख है। पर जैसे कामसुख प्राणीको अनुभव होता है ऐसे यह सुख वाह्य इन्द्रियोंसे अनुभव नहीं होसकता । केवल आत्माही द्वारा अनुभव होता है ।

इसी कारण भगवान ने अर्जुनसे कहा, कि यह ब्राह्मीस्थिति जिसे प्राप्त है, वह संसारमोहमें नहीं पडता वरु, परमशान्त निर्वाण अकथनीय सुखको प्राप्त होता है ॥७२॥

अब इस सम्पूर्ण द्वितीयाध्याय का सारांश मैं अपने पाठकोंके बोधार्थ कह सुनाताहूं— ज्ञानं तत्साधनं कर्म सत्त्वशुद्धिश्चतत्फलम् ।
तत्फलं ज्ञाननिष्ठैवेत्यध्याये ऽस्मिन प्रकीर्त्तितम् ॥

अर्थ—इस द्वितीय अध्यायमें आत्मज्ञानका उपदेश किया । तिस आत्मज्ञानकी प्राप्ति निमित्त तिसका मुख्य साधन निष्कामकर्म का उपदेश किया । फिर तिस निष्कामकर्मके साधनका फल अन्तःकरणकी शुद्धि भी दिखलायी। तिस अन्तःकरणकी शुद्धिका फल ज्ञाननिष्ठा उपदेश कर इस अध्याय की समाप्ति करदी ।

शोकपंकंनिमग्नो यः सांख्ययोगोपदेशतः।
उज्जहारार्जुनं भक्तं स कृष्णः शरणं मम॥

अर्थ—जिस कृष्णभगवान्‌ने रणभूमिमें युद्ध उपस्थित होते समय अत्यन्त शोकके दलदलमें फंसे हुए अर्जुन ऐसे अपने भक्त का सांख्ययोगके उपदेश द्वारा उद्धार किया वही कृष्ण मेरेलिये शरण है; अर्थात मैं तिसी श्री कृष्ण भगवानके शरणमें हूं।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्येण श्रीस्वामिना हंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्यां टीकायां सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥

महाभारते भीष्मपर्वणि तु षड्विंशोऽध्यायः॥

शुद्धाशुद्धि--पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
क्रिये	डाले	२०५	११
६	३	२०६	५
ऐसा जय	ऐसी जय	२१७	१३
करलिया हो	करली हो	२११	१०
शोपक	प्राणशोषक	२२५	१०
आपकी शरण	आपके शरण	२३१	१६
मोहसे	मोहोंसे	२३५	७
क्रिया है	किये है	२३५	१५
नित्यं	नियतम्	२३५	२०
वह	वे	२३७	१८
दुःखका	दुःखके	२३८	८
तिस	तिन	,,	,,
वस्त्र भी	वस्त्रोंको भी	,,	२२
यह	इत्यादि	२४१	१७
देहका	देहके	,,	,,
अवस्थाके	अवस्थाओंके	२३८	१३
मान	विद्यमान	२६५	१
सङ्कल्पत्यै	सक्लृप्त्यै	२६६	२२
आगमापयी	आगमापायी	२६८	१३
क्रियाम	क्रियाम्	२८८	१३
क्लेदयति	क्लेदयन्ति	३२१	१४
रन्तरिरत्त	रन्तरित्त	३२८	२१
वेपदद	वेदिपद	,,	,,
द्न	दूना	,,	२२
को	का	३३२	२१
तदोनत्	तदेतत्	३४३	१६
विस्फुलिङ्गः	विस्फुलिंगाः	,,	२०
त्रसेरणु	त्रसरेणु	३४६	७
सम्लित	सम्मिलितः	३६१	१
आरभ करतेहै	आरम्भ करचुके	,,	१५
इनकी	इनहीं	३६२	५
विधियते	विधीयते	४१३	२
दिवहितं	देवहितं	४१४	१७
निवार्णार्थे	निवारणार्थ	४१५	२
सपुल्तोदके	सप्लुतोदके	४२४	५
उपादान	उदपान	,,	२२
कामना	कमनाओं	४२६	१६
चतुरना	चतुराई	४३८	२
पाप्स्यमि	प्राप्स्यमि	४४८	१२
श्रुतियोंमें	श्रुतियोंसे	४५०	६
कार	मकार	४६१	२
तिज्यछोत्राद	निष्ठ्योत्राद	४७८	१२
दुन्विः	देविन	४८०	१४
उसका	उनका	४८८	८
अभिलाकी	अभिलाषाकी	४९५	७
उससे	जिससे	५००	२
उसके	जिसके	,,	७
आ (व)	(न)	५२३	२
मलमुत्र	मलमूत्र	५२४	१२
आपुज्र्पर्यन्न	आयुष्पर्यन्त	५२७	५